JSECR, Vol. 11, No. 22, Jan.-June, 2025 ISSN : 2394-2878
Peer Reviewed Journal, Impact Factor: 9.0 (IIFS)

महिला सशक्तिकरण के कानूनी व नीतिगत आयाम : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ0 वंदना मौर्य
ऍम. ए. नेट , पी. एच. डी. समाजशास्त्र

प्रोफेसर आलोक कुमार कश्यप
समाजशास्त्र विभाग
महाराज बलवंत सिंह पीजी कॉलेज गंगापुर वाराणसी

सारांश-

जब भी हम महिला सशक्तिकरण की बात करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य होता है कि महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होना चाहिए जैसे वोट देने का अधिकार ,संपत्ति का अधिकार, आदि इसका तात्पर्य है कि महिला सशक्तिकरण का अर्थ महिलाओं को उनके सामाजिक आर्थिक राजनीतिक और व्यक्तिगत रूप से सशक्त बनाना ताकि वह अपने जीवन पर नियंत्रण रख सके और अपने लक्ष्यों प्राप्त कर सके। इसमें उन्हें समान अवसर प्राप्त करना उनकी शिक्षा और स्वास्थ्य में सुधार करना उनके खिलाफ होने वाले भेदभाव और हिंसा को समाप्त करना शामिल है। महिला सशक्तिकरण के विभिन्न आयाम है जैसे राजनीतिक आयाम, सामाजिक व सांस्कृतिक आयाम, आर्थिक आयाम, कानूनी व नीतिगत आयाम आदि प्रस्तुत शोध लेख में महिला सशक्तिकरण के कानूनी व नीतिगत आयामों को समझाने का प्रयास किया गया है

मुख्य शब्द- महिला सशक्तिकरण, कानूनी आयाम , नीतिगत आयाम ,संवैधानिक प्रावधान

प्रस्तावना-

8 मार्च 1975 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित करके महिलाओं के स्तर और जेंडर न्याय को विश्व पटल पर रखा। 1976 से 1985 की अवधि को संयुक्त राष्ट्र संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशक घोषित किया जिसमें महिलाओं की पुनरुत्थान के प्रति योजनाएं बनाई गई। 1985 में अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन नैरोबी में की गई जिसमें सर्वप्रथम महिला सशक्तिकरण शब्द को परिभाषित किया गया महिला सशक्तिकरण से आशय है कि महिलाओं को पुरुषों के बराबर वैधानिक ,राजनीतिक ,शारीरिक, मानसिक ,सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में उनके परिवार समुदाय समाज एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निर्णय लेने की स्वायत्ता है। हमेशा से यातना और शोषण की शिकार हो रही महिला की उन्नयन हेतु विश्व स्तर पर पहली बार संगठ पहली बार संगठित प्रयास 1903 में अमेरिका में वूमन ट्रेड यूनियन के गठन के साथ शुरू हुआ। महिला सशक्तिकरण को समझने से पहले हमें महिलाओं के ऐतिहासिक परिदृश्य को समझना होगा।

वैदिक काल:-

वैदिक काल में स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था समाज तथा परिवार सभी जगह उनका सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। स्त्रियों को अपने पति की अर्धांगिनी कहा जाता था। जहां स्त्रियों को सम्मान होता है वहां देवता निवास करते हैं ऐसा वेदों में कहा गया। इस समय पर्दा प्रथा, सती प्रथा ,बाल विवाह इत्यादि सामाजिक बुराइयां समाज में नहीं थी ।कन्याओं का उपनयन संस्कार होता था उन्हें उचित शिक्षा प्रदान की जाती थी स्त्री सभी प्रकार की शिक्षा ग्रहण कर सकती थी जैसे नृत्य, संगीत ,गान ,चित्रकला आदि इस काल में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसमें महिलाओं की स्थिति पुरुषों से निम्न हो महिलाओं को पुरुषों के बराबर माना जाता था लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होता था ।हिंदू लिपियों में तो महिलाओं को देवी माना जाता था। उस समय महिलाएं अपने पति के साथ आध्यात्मिक कार्यों में जैसे पूजा पाठ ,हवन, यज्ञ में भाग लेती थी बिना पत्नी के यज्ञ, हवन ,पूजा पाठ आदि पूर्ण नहीं समझा जाता था। कन्या को स्वयं वर चुनने की स्वतंत्रता थी पति की मृत्यु के पश्चात पत्नी ही संपत्ति की स्वामिनी होती थी पुत्र न होने पर पिता की संपत्ति में भी उत्तराधिकारी मानी जाती थी युद्ध क्षेत्र में योद्धा के रूप में स्त्रियां भी भाग लिया करती थी वैदिक कालीन समाज में नारी की स्थिति अत्यंत उच्च थी स्त्री को देवी की उपमा दी जाती थी तत्कालीन समाज में विशेष ख्याति प्राप्त महिलाएं थी जैसे कि ब्रह्मवादिनी ममता लंबे समय तक रहने वाले संत की मां थी घोष एक प्रख्यात विद्वान थी सूर्या ने ऋग्वेद में विवाह पद्य की रचना की इसी प्रकार सिकता ,श्रद्धा ,सावित्री, रोमारोमासी सरस्वती अदिति आदि अन्य विदुशी महिलाएं थी।

उत्तर वैदिक काल:-

वैदिक काल की तुलना में महिलाओं का स्थान समाज में कुछ निम्न हो गया था उत्तर वैदिक काल के अंतिम भाग में तो स्त्रियों की स्थिति में बहुत गिरावट आई पुत्र की तुलना में पुत्री का स्थान निम्न हो गया अर्थवेद में पुत्री के जन्म पर खिन्न ता का उल्लेख मिलता है इस काल में महिलाओं को बेचने तथा दहेज देने की उल्लेख मिलते हैं महिलाओं को राजनीतिक सभा में भाग लेने से मना किया जाने लगा और परिवारों में किए जाने वाले धार्मिक कार्यों में भी स्त्री के स्थान पर पुरोहित को बुलाया जाने लगा एतरेय ब्राह्मण में पुत्री का जन्म दुख का कारण माना जाता था तथा 'एक अच्छी स्त्री वह है जो उत्तर नहीं देती' शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है 'स्त्री को पति से पहले भोजन नहीं करना चाहिए' इन सब के बाद भी महिलाओं का एक सकारात्मक पक्ष था महिलाओं को धर्म और दर्शन नित्य गायन आदि की शिक्षा प्राप्त करने की स्वतंत्रता थी इस समय कुछ प्रसिद्ध विद्वान महिलाएं मैत्री, गार्गी, अग्रवाल आदि थी।

मध्यकाल:-

मध्यकाल महिला की पीड़ा की गाथा है यह कल स्त्रियों के लिए अंधकार का युग था परदा करना व सती होना स्त्रियों के लिए अनिवार्य कर दिया गया सती नहीं होने पर उसे नींदनीय माना जाता था। उनके पैरों में विभिन्न प्रकार के नियमों की बेड़ियां बांध दी गई महिलाओं के लिए शिक्षा व संपत्ति के अधिकार भी छीन लिए गए सामाजिक आर्थिक मानसिक दृष्टि से उन्हें दूसरों के आश्रित कर दिया गया सभी तरह की बुराइयां समाज में व्याप्त थी बहु विवाह, बाल विवाह, कन्यावध, बहु विवाह, विधवा विवाह निषेध जौहर प्रथा,देवदासी प्रथा से समाज जकङ चुका था। इस समाज में महिला अबला थी जिसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था हिंदू धर्म की रक्षा के नाम पर नारी को ऐसे सामाजिक धार्मिक बंधनों में जकङ दिया गया कि वह पुरुष की छाया मात्र होकर रह गई ।उसका स्वतंत्र अस्तित्व अस्तित्व समाप्त हो गया स्त्री को विवाह संस्कार के अतिरिक्त सभी संस्कारों से वंचित कर दिया गया उनकी साहित्यिक उन्नति के मार्ग पर अनेकों प्रतिबंध लगा दिए गए तुलसीदास ने रामचरितमानस में 'ढोल गंवार शूद्र नारी से सब कारण के अधिकारी 'लिखा तो वहीं भक्त कवि ने लिखा की 'नारी की झाई परत अंधा होत भुजंग कबीरा तिनकी का गति जो नित नारी के संग' आत्मज्ञान में निमग्न पुरुषों ने नारी को मोक्ष मार्ग की बाधा मान लिया अमीर खुसरो लिखते हैं कि' मैं चाहता था तुम्हारा जन्म ही नहीं होता और यदि होता तो पुत्र के रूप में' बेटी का आप होना नीचे दृष्टि से देखा जाने लगा महिलाओं को भौतिक वस्तु माना जाता था ।इन कठिन परिस्थितियों के बाद भी कुछ महिलाओं ने राजनीतिक ,साहित्यिक, शिक्षा और धार्मिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त की जैसे रजिया सुल्तान भारत की प्रथम मुस्लिम महिला शासिका और दुर्गावती, चंद बीबी, कर्मवती आदि।

आधुनिक काल:-

धीरे-धीरे समय के साथ समाज में बदल आया और महिला सशक्तिकरण की शुरुआत हुई किसी तरह महिलाओं को अपने अधिकारों और शक्तियों का आनंद लेने का मौका मिला लेकिन यह समाज की सभी महिलाओं के लिए उपलब्ध नहीं था भारत में महिला सशक्तिकरण के इस आधुनिक काल की शुरुआत में ईस्ट इंडिया कंपनी के दौरान कई समाज सुधारक हुए जिन्होंने महिला सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जैसे- राजा राममोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर ,स्वामी विवेकानंद ,दयानंद सरस्वती,आदि।

राजा राममोहन राय (1722 - 1833):-

यह एक समाज सुधारक थे जिन्होंने कन्या भ्रूण हत्या, बाल विवाह, बहु विवाह ,पर्दा प्रथा और सती प्रथा जैसे सामाजिक अन्यान्य व बुराइयों से महिलाओं को मुक्ति दिलाने का प्रयास किया। यह भारतीय पुनर्जागरण आंदोलन के संस्थापक कहे जाते हैं इन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की और महिलाओं की शिक्षा और सशक्तिकरण में इनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

ईश्वर चंद्र विद्यासागर (1820 -1891)

इन्होंने विधवा पुनर्विवाह, महिला शिक्षा और बाल विवाह जैसी सामाजिक बुराइयों के खिलाफ आवाज उठाया। यह विधवा पुनर्विवाह के प्रबल समर्थक थे इन्हीं के प्रयासों से 1856 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित हुआ इन्होंने कई बालिका विद्यालयों की स्थापना की।

स्वामी विवेकानंद (1863 - 1902):-

शिक्षा समानता और सशक्तिकरण पर स्वामी विवेकानंद ने बहुत बल दिया इनका मनना था कि जब तक महिला शिक्षित नहीं होगी उनकी स्थिति में सुधार नहीं होगा तब तक विश्व कल्याण संभव नहीं है इन्होंने महिला शिक्षा के लिए बेलूर मठ, एक महिला मठऔर बालिका विद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव रखा महिलाओं को पढ़ाने का काम शिक्षित विधवाओं और ब्रह्मचारियों को सौप जहां

महिलाओं को शिक्षित किया जा सके उनका मानना था कि शिक्षा ही महिलाओं को सशक्त बनाएगी और भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होकर आत्मनिर्भर बनेंगे उन्होंने कहा महिलाओं को पुरुषों के समान सम्मान मिलाना चाहिए।

दयानंद सरस्वती (1824 -1883):-

इन्होंने महिला शिक्षा को बढ़ावा दिया और महिलाओं के अधिकारों के लिए भी आवाज उठाई और उन्हें समाज में सम्मान दिलाने का प्रयास किया उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की और आर्य समाज के द्वारा महिला शिक्षा को प्रोत्साहित किया तथा सत्यार्थ प्रकाश ग्रंथ में महिलाओं के अधिकारों का समर्थन किया।

19वीं सदी को दुनिया भर में महिलाओं की सदी कहा जाता है दुनिया भर में महिलाओं की शिक्षा एक विवादास्पद मुद्दा बन गई ब्रिटिश शासको और इंग्लैंड द्वारा यूरोप के अन्य हिस्सो से आए मिशनरियों की गतिविधियों ने भारतीयों के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में बदलाव लाए यह महिला शिक्षा के पक्षधर थे और कोलकाता ,मुंबई औऔर कोलकाता ,मुंबई और मद्रास में लड़कियों के लिए कई स्कूल खोले। 1854 में महिला शिक्षा के लिए कई बालिका विद्यालय स्थापित किए गए स्वतंत्रता के बाद भारत में महिला भी सशक्तिकरण धीमा होगा क्योंकि महिलाओं को उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ने की कोई जरूरत नहीं थी कुछ महिला इस बात से संतुष्टि कि उन्हें उन्हें सामानता का वादा किया गया है एक समान नागरिक संहिता की आशा जगाई है स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत विकास के निर्धारित लक्ष्यो द्वारा समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया फिर भी आजादी और संविधान लागू होने के 30 साल बाद भी भारत में महिला सशक्तिकरण के लिए कुछ खास प्रयास नहीं किया गया महिला के मानव अधिकारों की शुरुआत महिलाओं के अनुभव से होती है महिला अधिकार आंदोलन के वैश्विक प्रयासों को उजागर करना आसान नहीं है पांचवे दशक में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानव अधिकारों की घोषणा के साथ महिलाओं के लिए विश्व स्तर पर समानता की बात उठी महिलाओं के अधिकारों की मान्यता देने तथा लिंग भेदभाव समाप्त करने में संयुक्त राष्ट्र संघ की मानवाधिकार संबंधी घोषणा प्रेरक का कार्य किया। महिला सशक्तिकरण की दिशा में किया जा रहे प्रयासों को ठोस रूप देने के लिए 1993 में बीजिंग में संपन्न अंतर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन में विधायिका में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए आरक्षण की आवश्यकता पर बल दिया गया

राष्ट्रीय महिला उत्थान नीति(2001):-

महिला सशक्तिकरण हेतु 2001 में प्रथम बार राष्ट्रीय महिला उत्थान नीति बनाई गई ताकि देश में महिलाओं के लिए विभिन्न क्षेत्रों में उत्थान और समुचित विकास के आधारभूत विशेषताएं निर्धारित किया जाना संभव हो सके महिला उत्थान नीति की प्रमुख विशेषताएं-

i:- देश में महिलाओं को शिक्षा, स्वास्थ्य ,रोजगार तथा सामाजिक सुरक्षा में सहभागिता सुनिश्चित करना।

ii :- महिलाओं को iii:- महिलाओं के प्रति समाज के व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए महिलाओं और पुरुषों को समाज में बराबर की भागीदारी निभाने को बढ़ावा देना।

iv:- महिलाओं के प्रति किसी तरह के भेदभाव को दूर करने के लिए समुचित कानूनी प्रणाली और सामुदायिक प्रक्रिया विकसित करना।

v:- देश के सामाजिक ,आर्थिक और राजनीतिक जीवन में महिलाओं को बराबर का भागीदार बनाना।

यह नीति देश में पूरी तरह से लागू करने के लिए 10 वर्ष की समय सीमा निर्धारित की गई।

महिला सशक्तिकरण के कानूनी आयाम:-

महिला सशक्तिकरण के कानूनी व नीतिगत आयामो में महिलाओं के अधिकारों सुरक्षा और समान अवसरों को सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न कानून और नीतिया शामिल है संसद में समय-समय पर महिलाओं को सशक्त बनाने और समानता एवं न्याय के लिए उनकी लड़ाई में उन्हें कानूनी आधार प्रदान करने के लिए कई कानून पारित किए हैं जो इस प्रकार है-

(1) सती रोकथाम अधिनियम 1829:-

सती प्रथा एक ऐसी प्रथा होती है जिसमें किसी स्त्री के पति की मृत्यु के बाद उसे भी उसके पति के चिता के साथ जिंदा जला दिया जाता था सती प्रथा को 1829 में समाप्त किया गया था और 1887 में संशोधित करके अवैध बना दिया गया इसमें सती प्रथा और उसके महिमा मंडल को और अधिक प्रभावित ढंग से रोकने तथा इससे जुड़े मामलों के लिए प्रावधान किया गया फिर 1987 में इसमें पुनः संशोधन किया गया।

(2) विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856:-

19वीं शताब्दी में हिंदू विधवाओं की स्थिति बहुत दयनीय थी उसने पुनर्विवाह करने की अनुमति नहीं थी उन्हें अक्सर सामाजिक बहिष्कार और उत्पीड़न का सामना करना पड़ता था विधवाओ को अपनी दिवंगत पति के संपत्ति में दिवंगत पति के संपत्ति में अधिकार और विरासत बनाए रखने की अनुमति इस अधिनियम के द्वारा और पुनर्विवाह को उनके पहले विवाह के दौरान प्राप्त सभी अधिकारों को बनाए रखने की अनुमति दी गई है यह अधिनियम हिंदू विधवाओं की स्थिति में सुधार की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था इससे विधवाओं को सामाजिक न्याय और समानता प्रदान की गई इस प्रकार इस अधिनियम ने भारत में सामाजिक सुधारो को बढ़ावा दिया

(3) बाल विवाह निरोधक अधिनियम:-

इस अधिनियम को शारदा अधिनियम 1929 भी कहा जाता है अधिनियम 28 सितंबर 1929 को पारित किया गया था और 1 अप्रैल 1930 को लागू कर दिया गया इसका मुख्य उद्देश्य बाल विवाह को रोकना था सावधान इंडिया में लड़कियों की आई 14 वर्षों लड़कों की आयु 18 वर्ष निर्धारित की गई बाद में 1978 में इस अधिनियम में संशोधन करके लड़कियों के लिए विवाह की आयु 18 वर्ष लड़कों के लिए 21 वर्ष कर दी गयी।

(4)दहेज निषेध अधिनियम 1961:-

यह अधिनियम 1961मे पारित किया किया गया था और इसका उद्देश्य दहेज के लेनदेन को रोकना था दहेज एक इसी प्रथा है जिसमें दुल्हन के परिवार को लड़के के परिवार दुल्हन के परिवार को लड़के की परिवार को उपहार या पैसे देने पड़ते हैं यहअधिनियम दहेज लेने और देने दोनों को गैर कानूनी घोषित करता है इस अधिनियम में दहेज हत्या के मामले में स्वयं की जानकारी या किसी मान्यता प्राप्त कल्याणकारी संगठन की शिकायत पर कार्यवाई करने का अधिकार है।

(5) मातृत्व लाभ अधिनियम 1961:-

इस कानून के तहत हर कामकाजी महिला को 6 महीने के लिए मैटरनिटी लीव मिलती है इस दौरान महिलाएं पूरी सैलरी पाने के हकदार होती है यह कानून हर सरकारी और गैर सरकारी कंपनी पर लागू होता है यह अधिनियम 6 महीने का सवेतन अवकाश जैसे मातृत्व लाभ प्राप्त करने के लिए है।

(6) समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976:-

इस अधिनियम के तहत एक ही तरह के काम के लिए महिला और पुरुष दोनों को मजदूरी भी एक जैसा ही मिलना चाहिए यानी यह पुरुष और महिला श्रमिकों को समान पारिश्रमिक के भुगतान का प्रावधान करता है यह अधिनियम 8 मार्च 1976 को पारित हुआ आज महिलाएं पुरुषों के समान काम करती है लेकिन इसके बावजूद भी कई जगह उन्हें समान सैलरी के लायक नहीं समझा जाता है उनके साथ भेदभाव किया जाता है।

(7) विशेष विवाह अधिनियम 1954:-

यह संसद द्वारा पारित एक अधिनियम है जो विभिन्न धर्म या जातियों के लोगों को विवाह करने की अनुमति देता है यह अधिनियम भारत में धर्मनिरपेक्ष विवाह या पंजीकृत विवाह का प्रावधान करता है जो अंतर धार्मिक और अंतर जाति विवाह को कानूनी रूप से मान्यता देता है यह अधिनियम किसी भी धर्म जाति के दो व्यक्तियों को एक दूसरे से विवाह करने की अनुमति देता है बिना किसी एक व्यक्ति को अपना धर्म बदले।

(8)हिंदू विवाह अधिनियम 1955:-

यह अधिनियम विवाह,वैवाहिक अधिकारों की बहाली न्यायिक अलगाव और विवाह और तलाक की शून्यता से संबंधित प्रावधानों को शामिल करता है यह 18 मई 1955 को लागू हुआ और इसका विस्तार जम्मू कश्मीर को छोड़कर पूरे भारत में है यह हिंदुओं से संबंधित कानून है यह अधिनियम सामाजिक बुराइयों जैसे बहु विवाह ,बाल विवाह और दहेज प्रथा को समाप्त करने का प्रयास करता है यहअधिनियम एक विवाह को प्रोत्साहित करता है और कुछ गरीबी रिश्तेदारों के बीच विवाह पर रोक लगाता है तथा यह अधिनियम तलाक के प्रावधानों को भी निर्धारित करता है जिसमें आपसी सहमति और न्यायिक अलगाव शामिल है और इसमें पति-पत्नी और बच्चों की भरण पोषण और बाल अभिरक्षा से संबंधित प्रावधानों को भी शामिल किया गया है।

(9) हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956:-

हिंदुओं, सिखों ,जनों और बौद्धों के बीच बिना वसीयत के मरने वाले व्यक्तियों की संपत्ति के उत्तराधिकार को नियंत्रित करने वाला यह एक कानून है और यह 17 जून 1956 को लागू हुआ और इसका उद्देश्य उत्तराधिकार से संबंधित कानून को संहिताबद्ध और

धर्मनिरपेक्ष बनाना है यह अधिनियम हिंदू कानून के उत्तराधिकार के नियमों को एक समान और व्यापक प्रणाली प्रदान करता है यह अधिनियम पिता की संपत्ति में बेटी को भी बराबर का हिस्सा तथा विधवा विधवाओं स्त्रियों को पति के संपत्ति में बराबर का उत्तराधिकार देता है। 2005 में इसमें संशोधन हुआ और इसी संशोधन के द्वारा महिलाओं को पिता की संपत्ति में बराबर का हिस्सा दिया गया।

(10)अनैतिक व्यापार निवारण अधिनियम 1956:-

भारत में मानव तस्करी और यौन शोषण को रोकने के लिए बनाया गया यह एक कानून है इसका उद्देश्य व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए मानव तस्करी और वेश्यावृत्ति को रोकना है यह 30 दिसंबर 1956 को लागू हुआ था यह अधिनियम 1950 में भारत द्वारा हस्ताक्षरित मानव तस्करी और अन्य लोगों को वेश्यावृत्ति के शोषण के दमन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन के अनुरूप पारित किया गया था 1978 व 1986 में इस अधिनियम में संशोधन किया गया 2006 में संशोधन द्वारा इस विधेयक का उद्देश्य मानव तस्करों को दंडित करना और अपराधियों के कड़ी सजा का प्रावधान करना है इस अधिनियम में पीड़ित व्यक्तियों के संरक्षण सुधार और पुनर्वास के लिए प्रावधान है यह अधिनियम दृश्यावृत्ति के लिए महिलाओं और लड़कियों की तस्करी को प्रतिबंधित या समाप्त करने के लिए बनाया गया था।

(11)गर्भ का चिकित्सकीय समापन अधिनियम 1971:-

इस अधिनियम के द्वारा यदि भ्रूण शारीरिक या मानसिक असमानता से ग्रस्त हो बलात्कार और अवांछित गर्भावस्था के मामले में गर्भधारण की अवधि के 12 सप्ताह के भीतर और बारहवीं सप्ताह बाद 20 वे सप्ताह से पहले गर्भपात को वैध बनाता है यदि गर्भावस्था मां के लिए हानिकारक है या पैदा होने वाला बच्चा गंभीर रूप से विकृत है तो विशेष केस में इसके दायरे को बढ़ाकर 24 हफ्ते कर दिया गया है यह 17 जून 1956 को लागू हुआ और इसका उद्देश्य उत्तराधिकार से संबंधित कानून को संहिताबद्ध और धर्मनिरपेक्ष बनाना है यह अधिनियम हिंदू कानून के उत्तराधिकार के नियमों को एक समान और व्यापक प्रणाली प्रदान करता है यह अधिनियम पिता की संपत्ति में बेटी को भी बराबर का हिस्सा तथा विधवा विधवाओं स्त्रियों को पति के संपत्ति में बराबर का उत्तराधिकार देता है ।2005 में इसमें संशोधन हुआ और इसी संशोधन के द्वारा महिलाओं को पिता की संपत्ति में बराबर का हिस्सा दिया गया।

(12)महिलाओं को अश्लील चित्र निषेध अधिनियम 1986:-

यह अधिनियम विज्ञापनों या प्रकाशनों लेखो चित्रोऔर आकृतियों किसी अन्य तरीके से या उससे संबंधित मामलों में महिलाओं के अश्लील चित्रण को प्रतिबंधित करता है और उसके लिए दण्ड का प्रावधान करता है।

(13)घरेलू हिंसा से संरक्षण अधिनियम 2005:-

घरेलू हिंसा को अक्सर ससुराल या दहेज से जोड़कर ही देखा जाता है जबकि ऐसे मामले भी कम नहीं है जब छोटी व किशोरियों को उनके पिता या भाई द्वारा प्रताड़ित किया जाता है अगर कोई बदसलूकी कर रहा है तो घरवालों के खिलाफ भी घरेलू हिंसा अधिनियम 2005 के तहत शिकायत दर्ज कर सकते हैं अगर कोई मानसिक या शारीरिक तौर पर प्रताड़ित करता है तो उसके लिए हेल्पलाइन नंबर 1091 का इस्तेमाल किया जा सकता है इसके अलावा लिव इन रिलेशनशिप में रहने वाली महिलाओं को भी शिकायत दर्ज करने का अधिकार है भारतीय दंड संहिता ऐसी महिलाओं को सुरक्षा प्रदान करती है धारा 498A के तहत आरोपी को 3 साल की सजा या दोनों का प्रावधान है

(14)कार्यस्थल पर महिलाओं संग उत्पीड़न 2013:-

अगर किसी महिला के साथ उसके ऑफिस में शारीरिक या मानसिक उत्पीड़न किया जाता है तो आरोपी के खिलाफ महिला शिकायत दर्ज कर सकती है इस अधिनियम के तक महिलाओं को कार्यस्थल पर होने वाले उत्पीड़न एवं यौन उत्पीड़न से सुरक्षा मिलती है इसके लिए पास कमेटी गठित की गई है यह कानून सितंबर 2012 में लोकसभा में और 26 फरवरी 2013 में राज्यसभा में पारित हुआ था तथा 9 दिसंबर 2013 को लागू हुआ इस आमतौर पर पौस अधिनियम के रूप में जाना जाता है इसका उद्देश्य महिलाओं के लिए सुरक्षित कार्य वातावरण सुनिश्चित करना और यौन उत्पीड़न की शिकायत के लिए एक संरक्षित तंत्र प्रदान करना है इसमें बलात्कार की दोषियों को आजीवन कारावास और मृत्युदंड सहित सजा बढ़ाने का प्रावधान है

(15)प्रिवेंशन ऑफ़ सेक्सुअल हैरेसमेंट एक्ट:-

आज अधिकतर महिलाएं कामकाजी है और लड़कियां भी स्कूल जाती है ऐसे में उन्हें पता होना चाहिए कि अगर कोई उनसे दुर्व्यवहार करता है तो वह अपने अधिकारों का इस्तेमाल कर सकती है हैरेसमेंट से बचने के लिए महिलाएं आईपीसी की धारा 354 और

प्रीवेंशन आफ सेक्सुअल हैरेसमेंट एक्ट के तहत शिकायत दर्ज कर सकती है आज महिलाओं को डर से बाहर निकल कर कुछ कर गुजरने की जरूरत है।

(16) मुक्त कानूनी सहायता:-

लीगल सर्विसेज अथॉरिटी एक्ट 1986 के तहत अगर आप किसी कानूनी मसले का शिकार है और कानूनी मदद के लिए पैसे नहीं है तो आपको सहायता दी जाती है लीगल सर्विसेज अथॉरिटी एक्ट 1986 उन पर भी लागू होता है जो महिलाएं कामकाजी है यह एक्ट कहता है कि किसी भी इनकम स्लैब में आप फ्री लीगल एड की सहायता ले सकते हैं और देश के सभी डिस्ट्रिक्ट कोर्ट में यह सुविधा उपलब्ध है।

(17)महिलाओं को गरिमा और शालीनता साथ जीने का अधिकार:-

संविधान में हर महिला को गरिमा और शालीनता के साथ जीने का अधिकार मिला अगर कोई भी व्यक्ति से भंग करने की कोशिश करता है तो उसे कानून में सजा देने का प्रावधान है महिलाओं के खिलाफ किए गए अपराध जैसे की यौन उत्पीड़न धारा 354ए निर्वस्त्र करने की इरादे से हमला धारा 354बी लज्जा भंग करने के लिए स्त्री पर हमला करना धारा 354 या महिला की तांक झांक करना धारा 354सी जैसे अपराधों के लिए दंड का प्रावधान है अगर कोई व्यक्ति महिला का पीछा करता है तो उसके लिए भी धारा 354 डी के तहत सजा दी जा सकती है अगर किसी मामले में महिला खुद आरोपी है या मेडिकल ट्रीटमेंट चल रहा है तो यह काम किसी दूसरी महिला की मौजूदगी में ही होना चाहिए

(18) स्त्री धन व तलाक के बाद पत्नी को गुजारा भत्ता पाने का अधिकार:-

अगर कोई महिला तलाक शुदा है तो वह अपने पति से गुजारा भत्ता ले सकती है जब तक की उसकी दूसरी शादी नहीं हो जाती हिंदू मैरिज एक्ट 1955 मैरिज एक्ट 1955 की धारा 25 के तहत केवल गुजारा भत्ता देने का ही नियम था जिसमें अब कई बदलाव किए गए हैं।

संवैधानिक आयाम:-

अनुच्छेद 14- पुरुष और महिलाओं को राजनीतिक आर्थिक सामाजिक क्षेत्र में समान अधिकार और अवसर प्राप्त होंगे अर्थात किसी भी नागरिक को विधि के समक्ष क्षमता अथवा वीधियो के समान संरक्षण से वंचित नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 15- धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग , जन्म स्थानआदि के आधार पर किसी भी नागरिक के विरुद्ध भेदभाव का निषेध करता है।

अनुच्छेद 15(3)- राज्य को महिलाओं के पक्ष में सकारात्मक भेदभाव करने में सक्षम बनाने वाला विशेष प्रावधान।

अनुच्छेद 16- सभी नागरिकों के लिए सार्वजनिक नियुक्तियों में समान अवसरों की समानता।

अनुच्छेद 19- महिलाओं को स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान करता है ताकि महिलाएं स्वतंत्रता पूर्वक भारत के राज्य क्षेत्र में आगमन …

अनुच्छेद 51 ए(ई)- महिलाओं की गरिमा के लिए अपमानजनक प्रथाओं का त्याग करना।

अनुच्छेद 300(ए)- महिलाओं को संपत्ति का अधिकार दिया गया।

73वां व 74 वां संशोधन अधिनियम 1992- पंचायत और नगर पालिकाओं की स्थानीय निकायों मेंमहिलाओं के लिए 1/3 सिटे आरक्षित।

महिला सशक्तिकरण की नीतिगत आयाम:-

इसमें सभी पहलू शामिल है इन सभी पहलुओं को एक साथ संबोधित करके ही महिलाओं को सशक्त बनाया जा सकता है महिला सशक्तिकरण एक सतत प्रक्रिया है जिसमें महिलाओं को उनके अधिकारों अवसरों और संसाधनों तक समान पहुंच सुनिश्चित करना शामिल है महिला सशक्तिकरण के नीतिगत आयाम में शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक स्वतंत्रता ,सामाजिक सुरक्षा और राजनीतिक भागीदारी शामिल है इसके अलावा महिलाओं के खिलाफ भेदभाव को दूर करने के लिए कानूनी प्रणालियों और सामुदायिक प्रक्रियाओं को विकसित करना भी महत्वपूर्ण है।

शिक्षा:-

शिक्षा महिला सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है यह महिलाओं को ज्ञान कौशल और आत्मविश्वास प्रदान करती है जिससे वह अपने जीवन के बारे में बेहतर निर्णय ले पाती है इससे महिलाओं के आत्मविश्वास और आत्मसम्मान में वृद्धि होती है

समानता व न्याय की भावना विकसित होती है महिलाएं सामाजिक ,आर्थिक और राजनीतिक रूप से सशक्त बनती है महिलाओं की शिक्षा के लिए कई सारी योजनाएं चलाई जा रही है जिसमें से कुछ इस प्रकार है-

1. कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय योजना-:

यह योजना 2004 में शुरू की गई थी जो भारत में वंचित समूह की लड़कियों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने पर केंद्रित है इस योजना के तहत कई आवासीय विद्यालय कम महिला साक्षरता वाले क्षेत्रों में स्थापित किए गए हैं इस योजना के माध्यम से लड़कियों को आठवीं कक्षा तक शिक्षा प्रदान करने का लक्ष्य रखा गया है।

2. राजीव गांधी योजना-:

इस योजना को राजीव गांधी किशोर सशक्तिकरण योजना 'सब गांधी किशोर सशक्तिकरण योजना 'सबला 'के नाम से भी जाना जाता है यह योजना11 से 18 वर्ष की किशोरियों के लिए यह है इसका उद्देश्य किशोरियों के पोषण और स्वास्थ्य में सुधार करना और घरेलू कौशल, जीवन कौशल ,व्यवसाय कौशल को बढ़ावा देना स्कूल में न जाने वाली किशोरियों को मुख्य धारा में लाना यह योजना किशोरियों के परिवार कल्याण, स्वास्थ्य ,स्वच्छता और सार्वजनिक सेवाओं के बारे में जानकारी और मार्गदर्शन भी प्रदान करती है इस योजना को 1 अप्रैल 2011 को महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के तहत शुरू किया गया था।

3. माध्यमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय योजना -:

इसे मई 2008 में शुरू की गई थी यह योजना भारत में लड़कियों को माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करती है जो 14 से 18 वर्ष की आयु की है और आठवीं कक्षा पूरी कर चुकी है इस योजना के तहत पात्र लड़कियों के खाते में कुल ₹3000 जमा किए जाते हैं जिन्हें 18 वर्ष की आयु पूरा होने पर ब्याज के साथ निकाला जा सकता है सभी वर्ग की लड़कियां इस योजना का लाभ ले सकती हैं।

4. राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान-:

इसे 2009 में शुरू किया गया था राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान भारत में माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाने पर केंद्रित है ।इस योजना ने बालिकाओं की अनुकूल प्रथाओं और नीतियों को आगे बढ़ाया ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि किसी भी बालिका को उत्कृष्ट शिक्षा प्राप्त करने में कोई समस्या ना हो इसके अलावा इस योजना के प्रमुख घटकों में माध्यमिक शिक्षा में असमानताओं को दूर करना, बुनियादी ढांचे का विकास करना, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा आदि शामिल है कुल मिलाकर यह योजना भारत में बालिकाओं के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त करने में आने वाली चुनौतियों को कम करने हेतु थी।

5. सर्व शिक्षा अभियान-:

यह 2001 में शुरू किया गया था यह भारत सरकार का प्रमुख कार्यक्रम है जिस जिसका उद्देश्य 6 से 14 वर्ष की आयु के सभी बच्चों के लिए मुक्त और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करना था 86 में संविधान संशोधन के तहत शुरू किया गया सर्व शिक्षा अभियान में 6 से 14 वर्ष के बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा उपलब्ध कराना और उनके प्रति लैंगिक समानता के आधार पर भेदभाव को समाप्त करना बालिकाओं को विद्यालय में ही आत्मनिर्भर बनाना उन्हें जीवन कौशल की शिक्षा उपलब्ध कराना।

6. बालिका समृद्धि योजना-:

इस योजना का उद्देश्य लड़कियों को शिक्षित करना और साथी उनके सामाजिक स्थिति और विवाह योग्य आयु मे वृद्धि करना यह योजना भारत में शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में रहने वाली लड़कियों के लिए उपलब्ध होगी इस योजना के तहत लड़कियों को 300 से 1000 के बीच वार्षिक छात्रवृत्ति प्रदान की जाती है इस योजना का लाभ उठाने के लिए प्रमुख मानदण्ड है की लड़की का जन्म 15 अगस्त 1997 या उसके बाद हुआ हो।

7. बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ -:

इस योजना की शुरुआत माननीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने 2015 में हरियाणा से की थी लड़कियों के लिए इस शिक्षा योजना का प्रमुख उद्देश्य उन्हें बाल विवाह ,गर्भपात और अन्य सामाजिक समस्याओं से बचाना है यह योजना भारत में बालिकाओं वाले परिवारों

को समग्र वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए जानी जाती है यह धनराशि लड़कियों को उनकी योग्य शिक्षा प्राप्त करने में मदद कर सकती है साथी उनके कल्याण और सुरक्षा को भी सुनिश्चित कर सकती है।

8. सीबीएस ई उड़ान योजना-:

यह योजना भारत में लड़कियों के लिए एक लोकप्रिय कल्याणकारी योजना है जिसे 2014 में लड़कियों की स्कूल नामांकन को बढ़ाने के लिए शुरू किया गया था इस योजना से भारत में वंचित छात्राओं को मार्गदर्शन प्रदान किया जाता है साथ ही उन्हे इंजीनियरिंग के क्षेत्र में विभिन्न प्रवेश परीक्षाओं की तैयारी मे मदद मिलता है जिससे उन्हें अपने जीवन में आगे बढ़ने में मदद म मिलता है जिससे उन्हें अपने जीवन में आगे बढ़ने में मदद मिल सके इस योजना का मानदंड यह है कि केवल 11 और 12 में पढ़ने वाली छात्राएं ही इसका लाभ उठा सकती है।

स्वास्थ्य:-

स्वास्थ्य महिलाओं के सशक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण पहलू है एक स्वस्थ महिला के न केवल अपने परिवार और समाज के लिए बेहतर योगदान दे सकती है बल्कि वह अपने जीवन पर अधिक नियंत्रण भी रख सकती है महिलाओं का स्वास्थ्य मानव सभ्यता और स्वास्थ्य प्रबंधन का अभिन्न अंग है। क्योंकि महिलाएं मानव समाज का लगभग आधा भाग है कई स्वास्थ्य मामलों में महिलाएं पुरुषों के अनुकूल मानक रखती है जब एक महिला स्वस्थ होती है तब वह प्रसन्न रहती है और अपने आप को सक्रिय सृजनशील समझदार महसूस करती है उनमें इतनी शक्ति व बल होता है कि वह अपने दैनिक कार्य कर सके परिवार समाज में निर्धारित अपनी भूमिकाओं को निभा सके इसलिए महिलाओं के स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर महिला एवं बाल विकास मंत्रालय द्वारा कई योजनाएं चलाई जा रही है ।

महिला एवं बाल विकास मंत्रालय:-

यह भारत सरकार का एक मंत्रालय है जो 1985 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय का एक हिस्सा था लेकिन 30 जनवरी 2006 को इसे एक अलग मंत्रालय का दर्जा दिया गया इस मंत्रालय का मुख्य उद्देश्य महिलाओं और बच्चों का समग्र विकास सुनिश्चित करना है जिसमें उनके स्वास्थ्य ,शिक्षा पोषण सुरक्षा और कल्याण शामिल है और यह महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए नीतियां और कार्यक्रम बनाता है और उसे लागू करता है इसके मुख्य कार्य हैं - महिला और बच्चों के लिए नीतियां और योजना बनाना, महिला सशक्तिकरण कार्यक्रमों को लागू करना ,महिलाओ और बच्चों के खिलाफ हिंसा और भेदभाव को रोकना ,महिला एवं बाल विकास के क्षेत्र में काम करने वाले गैर सरकारी संगठनों के साथ सहयोग करना।

1. एकीकृत या समेकित बाल विकास योजना -:

यह योजना 2 अक्टूबर 1975 को शुरू किया गया 2 अक्टूबर 1975 को शुरू किया गया था यह भारत सरकार द्वारा संचालित एक प्रमुख योजना है जो 6 साल के से कम उम्र के बच्चों और गर्भवती एवं स्तनपान करने वाली महिलाओं के स्वास्थ्य, पोषण और शिक्षा में सुधार लाने के उद्देश्य शुरू की गई है इस योजना के तहत आंगनबाड़ी केन्द्र के माध्यम से पूरक पोषण ,टीकाकरण स्वास्थ्य ,जांच रेफरल सेवाएं, पूर्व स्कूली शिक्षा और पोषण व स्वास्थ्य शिक्षा जैसी सेवाएं प्रदान की जाती है यह योजना भारत में बच्चों माताओ के खिलाफ एक महत्वपूर्ण पहल है जो समुदाय आधारित सेवाओं के माध्यम से उनके जीवन को बेहतर बनाने का प्रयास करती है।

2. जननी शिशु सुरक्षा कार्यक्रम -:

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा 1 जून 2011 को जननी शिशु सुरक्षा कार्यक्रम लॉन्च किया गया इसका उद्देश्य गर्भवती महिलाओं और बीमार नवजात शिशुओं को सरकारी स्वास्थ्य संस्थानों में मुक्त और कैशलेस सेवाएं प्रदान करना है ।इस योजना में गर्भवती महिलाओं और नवजात शिशुओं को सामान्य प्रसव ऑपरेशन, दवाई ,जांच, रक्त, आहार और परिवहन सहित सभी आवश्यक सेवाएं मुक्त और बिना किसी शुल्क के प्रदान की जाती है इस योजना का मुख्य लक्ष्य मातृ एवं शिशु मृत्यु दर को कम करना है गर्भवती महिलाओं और बीमार नवजात शिशुओं पर होने वाले जेब खर्च को कम करना मुक्त दवाएं वह जांच मुक्त रक्त मुक्त आहार मुक्त वह कैशलेस रेफरल के मामले में मुक्त नवजात शिशुओं का 30 दिन तक उपचार शामिल है।

3. कस्तूरबा पोषण सहाय योजना-:

यह योजना गर्भवती महिलाओं और स्तनपान कराने वाली महिलाओं के लिए एक वृतीय सहायता योजना है जिसका उद्देश्य उन्हें पर्याप्त पोषण प्रदान करना है यह योजना गरीबी रेखा से नीचे परिवार की माता को ₹6000 की नगद राशि सहायता प्रदान करती है यह योजना महिला और बाल विकास विभाग द्वारा संचालित है इसका इसका लक्ष्य गर्भवती और स्तनपान कराने व

योजना महिला और बाल विकास विभाग द्वारा संचालित है इसका इसका लक्ष्य गर्भवती और स्तनपान कराने वाली माताओ मैं कुपोषण को कम करना है।

4. प्रधानमंत्री मातृ वंदना योजना -:

यह योजना 1 जनवरी 2017 से शुरू किया गया था इस योजना के तहत पात्र लाभार्थी को गर्भावस्था और स्तनपान के दौरान तीन किस्तों में ₹5000 दान किए जाते हैं जो व्यक्ति द्वारा कुछ पोषण और स्वास्थ्य संबंधी शर्तों को पूरा करने पर दिया जाता है।

5. राष्ट्रीय पोषण अभियान -:

इसे राष्ट्रीय पोषण मिशन भी कहा जाता है भारत सरकार द्वारा कुपोषण को खत्म करने के लिए शुरू की गई एक प्रमुख योजना है इसका उद्देश्य 0 से 6 वर्ष के बच्चो किशोरीओ गर्भवती महिलाओं और स्तनपान करने वाले माता के पोषण स्तर में सुधार करना है यह 8 मार्च 2018 को शुरू किया गया था इस अभियान के दौरान लोगों को पोषण और स्वास्थ्य के बारे में शिक्षित करना विशेष रूप से गर्भवती महिलाओं और बच्चों के लिए आंगनबाड़ी स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी विभिन्न सरकारी सेवाओं को एक साथ लाना ताकि लोगों को आसानी से पोषण संबंधित सहायता मिल सके।

6. प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना-:

यह योजनाएं 1 में 2016 को उत्तर प्रदेश की बलिया जिले से शुरू किया गया था प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना 2.0 का उद्देश्य वंचित परिवारों तक स्वच्छ रसोई इंधन के लाभों का दायरा बढ़ाना तथा पारंपरिक रसोई ईंधन से जुड़े स्वास्थ्य खतरों को भी कम किया जाता है और साथ ही महिलाओं के सशक्तिकरण तथा समग्र जीवन स्तर में सुधार लाया जाता है।

आर्थिक स्वालंबन:-

महिलाओं के आर्थिक स्वालंबन सिंह तात्पर्य है कि महिलाएं अपनी आर्थिक जरूरत को पूरा करने और अपने जीवन पर नियंत्रण रखने में सक्षम हो आर्थिक स्वालंबन महिलाओं को न केवल गरीबी और शोषण से बचने में मदद करता है बल्कि उन्हें सामाजिक और राजनीतिक रूप से भी सशक्त बनाता है महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त व स्वावलंबी बनने के लिए सरकार द्वारा कई योजनाएं चलाई जा रही है जैसे-

1. महिला स्टार्टअप योजना -:

इस योजना के द्वारा महिला उद्यमियों को अपना व्यवसाय शुरू करने या विस्तार करने के लिए एक लाख से 25 लाख तक का ऋण प्रदान किया जाता है यह योजना 16 जनवरी 2016 को शुरू की गई थी।

2. महिला सम्मान बचत पत्र योजना -:

यह 1 अप्रैल 2023 को शुरू हुई थी यह योजना सरकार द्वारा महिलाओं के लिए शुरू की गई एक छोटी बचत योजना है जिसमें अधिकतम 2 लाख तक जमा किए जा सकते हैं।

3. मिशन शक्ति योजना-:

भारत सरकार की एक योजना है जिसका उद्देश्य महिलाओं की सुरक्षा संरक्षण और सशक्तिकरण के लिए है यह योजना महिला एवं बाल विकास मंत्रालय द्वारा संचालित की जा रही है ।इसका लक्ष्य महिलाओं के जीवन चक्र में सभी पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करके उन्हें सशक्त बनाना है यह योजना 2020 को शुरू किया गया था।

4. महिला शक्ति केंद्र योजना-:

सामुदायिक भागीदारी के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं की को सशक्त बनाने हेतु केंद्र प्रायोजित योजना के रूप में महिला शक्ति केंद्र योजना को नवंबर 2017 में अनुमोदित किया गया था इसका उद्देश्य महिलाओं के लिए योजनाओं और कार्यक्रमों के अंदर क्षेत्रीय अभिसरण को सुगम बनाना है यह योजना राज्य व केंद्रशासित प्रदेशों के प्रशासनों के माध्यम से चलायी जाती है जिसमें केंद्र व राज्यों के बीच लागत60:40है।

5. महिला ई हाट योजना:-

यह योजना 2016 में शुरू की गई महिला उद्यमियों के लिए ऑनलाइन मार्केटिंग प्लेटफार्म है

जिसमें महिला एवं बाल विकास मंत्रालय भारत सरकार द्वारा' डिजिटल इंडिया 'और 'स्टैंड अप इंडिया 'पहल के तहत शुरू किया गया यह महिला उद्यमियों स्वयं सहायता समूह और गैर सरकारी संगठनों को अपने उत्पादों और सेवाओं को प्रदर्शित करने और बेचने के लिए एक मंच है यह योजना महिलाओं को आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनाने में मदद करता है।

6. कामकाजी महिला आवास योजना-:

इस योजना का उद्देश्य शहरी अर्धशहरी यहां तक की ग्रामीण क्षेत्रों में जहां भी संभव हो कामकाजी महिलाओं को सुरक्षित और सुविधाजनक आवास उपलब्ध कराना है जिसमें के बच्चों के लिए डे केयर सुविधा भी शामिल है जहां महिलाओं के लिए रोजगार के अवसर मौजूद हो।

राजनीतिक भागीदारी:-

महिलाओं की राजनीति भागीदारी का अर्थ है राजनीति में महिलाओं की सक्रिय भूमिका जाए वह मतदाता के रूप में हो या निर्वाचित प्रतिनिधि के रूप में या राजनीतिक दल के सदस्य के रुप में इसका मतलब है कि महिलाओं की निर्णय लेने की प्रक्रिया में समान रूप से शामिल होना चाहिए और सार्वजनिक जीवन में उनकी आवाज सुनी जानी चाहिए। महिलाओं की राजनीति भागीदारी एक महत्वपूर्ण मुद्दा है जो न केवल महिलाओं के लिए बल्कि समाज के लिए महत्वपूर्ण है महिलाओं को राजनीतिक रूप से सशक्त बनाने और निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनके समान भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए ठोस प्रयास किया जा रहे हैं जैसे अंतरराष्ट्रीय स्तर 1945 में प्रारंभ मानवाधिकार एवं महिला आंदोलन ने लिंग भेदभाव तथा समानता के प्रश्नों को अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय मंचों पर राजनीतिक मधु के रूप में प्रतिस्थापित किया।

संयुक्त राष्ट्र महिला (Un women):-

लैंगिक समानता और महिला सशक्तिकरण के लिए संयुक्त राष्ट्र की एक एजेंसी है इसका उद्देश्य महिलाओं का लड़कियों के अधिकारों की रक्षा करना और उन्हें सशक्त बनाना है महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए कई पहल कर रहा है जैसे महिला राजनीतिक उम्मीदवारों को प्रशिक्षण, भेदभावपूर्ण को कानून को समाप्त करना, महिलाओं के नेतृत्व को बढ़ावा देना, सतत विकास लक्ष्यो, लैंगिक समानता,महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों पर सम्मेलन आदि।

डब्ल्यू एफ डी (वेंस्टमिस्टर फाऊंडेशन फॉर डेमोक्रेसी):-

महिलाओं की राजनीति में भागीदारी बढ़ाने के लिए कई तरह से कम कर रहा है यह राजनीतिक, सामाजिक ,सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक कारकों पर ध्यान देते हैं जो महिलाओं को राजनीति में शामिल होने से रोकते है इनका मुख्य प्रयास महिला राजनीतिक नेतृत्व का समर्थन करना कानूनी व नीतिगत सुधारो की वकालत, चुनावी हिंसा से सुरक्षा ,महिला उम्मीदवारों और प्रतिनिधियों का समर्थन करना आदि है।

राष्ट्रीय महिला आयोग:-

31 जनवरी 1992 को राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया गया जो महिलाओं के संवैधानिक व कानूनी सुरक्षा के अधिकारों को ठीक ढंग से लागू कराता है। महिलाओं के राजनीतिक भागीदारी को बढ़ाने के लिए भारत में 1994 में संवैधानिक संशोधनों 73वां 74वां के माध्यम से स्थानीय सरकारों में महिलाओं के लिए 33%सीटे ग्रामीण व शहरी क्षेत्रो में आरक्षित किया गया महिला आरक्षण विधेयक 108 वां संशोधन राष्ट्रीय संसद में पेश किया गया ताकि लोकसभा और विधानसभाओं में 33% सिटे महिलाओं के लिए आरक्षित की जा सके ।इस विधेयक कोअभी लोकसभा द्वारा पारित होकर कानून बनाना बाकी है इसी तरह एक विधेयक 'नारी शक्ति वंदन अधिनियम' 2023 में लोकसभा और राज्यसभा द्वारा पारित किया गया था अब राष्ट्रपति द्रोपति मुर्मू की स्वीकृति के लिए लंबित है।

सामाजिक सुरक्षा:-

सामाजिक सुरक्षा का अर्थ है महिलाओं को सामाजिक रूप से सुरक्षित महसूस करना और उन्हें सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक रूप से सशक्त बनाना है इसमें महिलाओं के खिलाफ भेदभाव को दूर करना, उनके अधिकारों की रक्षा करना और उन्हें समाज की मुख्य धारा में लाना शामिल है महिला सशक्तिकरण के सामाजिक सुरक्षा आयाम के अंतर्गत कानूनी सुरक्षा, सामाजिक समानता, आर्थिक स्वतंत्रता, राजनीतिक सशक्तीकरण ,स्वास्थ्य सुरक्षा ,सामाजिक जागरूकता शामिल है जिसकी च महिला सशक्तिकरण के सामाजिक सुरक्षा आयाम के अंतर्गत कानूनी सुरक्षा, सामाजिक समानता, आर्थिक स्वतंत्रता, राजनीतिक सशक्तीकरण ,स्वास्थ्य सुरक्षा

,सामाजिक जागरूकता शामिल है जिसकी चर्चा पहले ही विस्तार से की जा चुकी है। महिलाओं के प्रति बढ़ते अपराधों एवं अत्याचारों के निवारण हेतु राज्य द्वारा विभिन्न अधिनियम पारित किए गए हैं ताकि महिलाओं को उनके अधिकार प्राप्त हो सके तथा सामाजिक भेदभाव से उनकी सुरक्षा हो सके भारतीय दंड संहिता 1860 के प्रावधान के अनुसार महिलाओं के ऊपर होने वाले अत्याचार एवं निर्दयता के विरुद्ध व्यवस्था की गई है।

1 (धारा 292 से 294 के तहत):-

यदि किसी व्यक्ति द्वारा स्त्रियों की अश्लील चित्र प्रदर्शित किए जाते हैं अथवा स्त्री को खरीदा और बेचा जाता है अथवा अश्लील प्रदर्शन किया जाता है तो इस प्रकार के व्यक्ति को 2 वर्ष की सजा एवं 2 हजार तक का जुर्माना अथवा दोनों का प्रावधान किया गया है।

2 (धारा 312 से 318 के तहत):-यदि कोई व्यक्ति गर्भपात कराता है या अजन्मे शिशुओं को नुकसान पहुंचाता है शिशुओं को आरक्षित छोड़ता है तथा जन्म छिपाता है तो इस कार्य के लिए दंड का प्रदान किया गया है।

3 (धारा 354):- यदि कोई व्यक्ति किसी स्त्री की लज्जा भंग करता है अथवा करने के उद्देश्य आपराधिक बल का प्रयोग करता है तो उसे 2 वर्ष की सजा अथवा जुर्माना दोनों का प्रावधान है

4 (धारा 361):- यदि किसी महिला की आयु 18 वर्ष से कम है उसे कोई व्यक्ति संरक्षक के संरक्षकता के बिना सम्मति या उसे बहला फुसलाकर ले जाता है तो वह व्यक्ति अपहरण का दोषी होगा तथा उसके खिलाफ धारा 363 से 366 में दंड का प्रावधान किया गया है

5 (धारा 372) :- किसी 18 वर्ष से कम आयु के महिला को वेश्यावृत्ति के प्रयोजन अर्थ बेचे जाने पर दोषी व्यक्ति को 10 वर्ष तक की सजा या जुर्माना अथवा दोनों का प्रावधान है।

6 (धारा 375 - 376):- 375 में बलात्कार को परिभाषित किया ग 6 (धारा 375 - 376):- 375 में बलात्कार को परिभाषित किया गया है 376 में इसके लिए दंड का प्रावधान है।

7 (धारा 498):- 498 अ के तहत पति या उसके कोई रिश्तेदार उसकी पत्नी के साथ निर्दयता पूर्वक व्यवहार करता है अथवा दहेज के लिए प्रताड़ित करता है तो उसके लिए 2 वर्ष की सजा का प्रावधान है।

निष्कर्ष:-

उपरोक्त नियम एवं कानून के बाद भी महिलाओं की दशा में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है यह कहना भारतीय संविधान में प्रदान किए गए महिलाओं के अधिकारों का अपमान होगा यदि हम राजनीति की बात करें तो इन्हीं अधिकारों की वजह से आधुनिक भारत में महिला राष्ट्रपति ,प्रधानमंत्री, लोकसभा अध्यक्ष, नेता प्रतिपक्ष आदि के पद पर सुशोभित रही यदि हम कला एवं मनोरंजन के क्षेत्र की बात करें तो उसे क्षेत्र में भी महिलाए महत्वपूर्ण योगदान दे रही है लेकिन यह सिक्के का केवल एक ही पहलू है स्वतंत्रता के बाद से वर्तमान तक विभिन्न अधिनियम व कानून होने के पश्चात भी महिलाओं को इनका लाभ नहीं मिलता यदि महिलाओं के प्रति होने वाले अपराधों की चर्चा करें तो अधिकांश रिपोर्ट में दर्ज ही नहीं हो पाती हैं।हिंसा से संबंधित मामले में महिलाएं आगे ही नहीं आती देश में कुल मतदाताओं में आधी संख्या महिलाओं की है मगर इसके बावजूद भी लोकसभा तथा राज्य विधानसभा मंडलों में उनकी उपस्थिति लगभग नगण्य है महिलाओं की साक्षरता दर भी कम है महिलाओं को सामान्यतःअपने कानून व अधिकारों का पर्याप्त ज्ञान नहीं होता ।संविधान में इतने नियम व कानून होने के पश्चात भी महिलाओं की सामाजिक स्थिति में सुधार तो हुआ है लेकिन पर्याप्त मात्रा में नहीं।

संदर्भ:-

(1) श्रीवास्तव, सुधारानी(1999) :"भारत में महिलाओं की वैधानिक स्थिति" कम कॉमनवेल्थ पब्लिकेशन, नई दिल्ली
(2) असरी ,एम .ए(2001): "महिला और मानवाधिकार "ज्योति प्रकाशन ,जयपुर
(3) विकास, डॉ.मीनाक्षी(2008):" नारी चेतना और सामाजिक विधान" रोशनी पब्लिकेशन ,कानपुर
(4) डॉ.शर्मा कुमार ,कृष्ण (2012):"महिला कानून और मानवाधिकार "अर्जुन पब्लिकेशन हाउस ,नई दिल्ली
(5) शर्मा रमा ,मिश्रा एम .के (2012):"महिला विकास "अर्जुन पब्लिकेशन हाउस ,नई दिल्ली
(6) देवपुरा ,प्रतापमल (2006):" महिला सशक्तिकरण में शिक्षा का महत्व" कुरुक्षेत्र अंक 5 मार्च
(7) शर्मा, ब्रजकिशोर (2008):"भारत का संविधान एक परिचय " पेंटिंग हॉल आफ इंडिया, नई दिल्ली ,पांचवा संस्करण
(8) इंटरनेट, गूगल ,क्रोम आदि

JSECR, Vol. 11, No. 22, Jan.-June, 2025 ISSN : 2394-2878
Peer Reviewed Journal, Impact Factor: 9.0 (IIFS)

महिला सशक्तीकरण में राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन का योगदान

डॉ0 अजय कुमार सोनकर
असिस्टेन्ट प्रोफेसर (समाजशास्त्र विभाग)
डी0ए0वी0 पी0जी0 कालेज, आजमगढ़।

सारांश

वर्तमान में ग्रामीण भारत में बदलाव की जो लहर चल रही है, उसका श्रेय सूचना क्रांति और वित्तीय समावेशन को जाता है। ग्रामीण महिलाओं को इन योजनाओं से भरपूर लाभ हुआ है। राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन के तहत गठित स्वयं सहायता समूहों के जरिए महिलाओ ने अपनी सामूहिक शक्ति को पहचाना है और एक सफल 'उद्यमी' के रूप में परचम लहरा रही हैं। अगर इसी तरह महिलाएं एकजुट होकर आगे बढ़ती रही तो वह दिन दूर नहीं जब अंर्तराष्ट्रीय बाजार में ग्रामीण भारत की ये महिलाएं अपनी पैठ जमा लेंगी। इसके लिए बस जरूरत है उन्हें सही मार्गदर्शन और कौशल प्रशिक्षण की। ग्रामीण भारत की परिकल्पना सही रूप में की गई है जिसमें आर्थिक विकास को बढ़ाने की अत्यधिक संभावना है और जो सतत् विकास के लक्ष्यों को पूरा करने में भी सक्षम है। सरकार ने हाल में ग्रामीण महिलाओं की बेहतरी के लिए कई योजनायें संचालित की है। जिसका महिला सशक्तीकरण में अहम् भूमिका है।

शब्द कुंजीः– ग्रामीण महिला, भूमिका, आजीविका, समाज, रोजगार।

प्रस्तावनाः–

भारत सरकार की अधिकतर योजनाओं और कार्यक्रमों के केन्द्र में महिला सशक्तीकरण ही है। इन योजनाओं का उद्देश्य रोजगार से जुड़े अलग–अलग तरह के अवसर प्रदान कर ग्रामीण महिलाओं की स्थिति बेहतर करना है। प्रधानमंत्री रोजगार सृजन कार्यक्रम (पीएमईजीपी), राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन, दीन दयाल उपाध्याय, ग्रामीण कौशल विकास योजना (डीडीयूजीकेवाई), प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण आर्थिक परिवर्तन परियोजना (एनआरईटीपी), प्रधानमंत्री मातृ वंदना योजना (पीएमएमवीआई) आदि के जरिए ग्रामीण रोजगार पारिस्थितिकी तंत्र बेहतर हुआ है और भारत में महिलाओं का सामाजिक–आर्थिक सशक्तीकरण सुनिश्चित हुआ है। इन उपायों से शिक्षा, क्षमता निर्माण, कौशल विकास, स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं और आजीविका से जुड़े अलग–अलग अवसरों का मार्ग प्रशस्त हुआ है। ग्रामीण पारिस्थितिकी तंत्र में शुरू की गई इन योजनाओं से आर्थिक गतिविधियों में ग्रामीण महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है और उनका जीवन–स्तर बेहतर हुआ है। अतः अर्थव्यवस्था और खाद्य सुरक्षा को बढ़ावा देने, गरीबी हटाने, जलवायु परिवर्तन के असर को कम करने और 2030 तक संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों को हासिल करने के लिए ग्रामीण–महिलाओं का सशक्तीकरण काफी अहम है।[1]

भारतीय समाज परम्पराओं एवं रूढ़ियों वाला समाज है यहाँ समाज में महिलाओं को कम महत्व दिया जाता है और उसके अधिकार भी सीमित होते हैं। अपने अधिकारों के बारे में बोलने, अपने निर्णय खुद लेने, अपने खिलाफ होने वाली ज्यादती का महिला अगर विरोध करे तो पूरा पारिवारिक और सामाजिक ढ़ांचा डगमगाने लगता है। खासतौर से परिवार और समाज के पुरूषों को अपने अधिकार छिनते नजर आते हैं और उन्हें समस्या नजर आने लगती है। मौजूदा व्यवस्था की समर्थ महिलायें, जो खुद इन ज्यादतियों को झेल रही हैं। इस मुखर महिला सदस्या का साथ तो नहीं दे पाती बल्कि पुरूषों से सुरक्षित घेरे में खड़ी होकर इस ओर उँगली उठाने लगती है। वे समझ नहीं पाती है कि सुरक्षा और संरक्षण के नाम पर परिवार के पुरूष उन

पर कब्जा करके उन्हें अपनी सुविधा के लिये इस्तेमाल कर रहे हैं। सदियों से औरतों को खूब बहलाया गया है कभी देवी कहकर तो कभी घर की जिम्मेदारी का अहसास दिलाकर पर बदले माहौल में जब युवतियाँ आगे बढ़ी तो उन्हें किसी न किसी बहाने से पीछे करने की कोशिश की गई। केवल भारत में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व में महिलायें भेदभाव असमानता, दमन, शोषण आदि की शिकार रही हैं। लम्बे समय तक स्वयं महिलाओं में भी यह चेतना नहीं थी कि उन्हें इन स्थितियों का प्रतिकार करना चाहिए। पहली बार संगठित रूप से प्रतिकार का स्तर उठा अमेरिका मे जहाँ कल कारखानों में कार्यरत महिलाओं ने अपनी कार्य–दशाओं में सुधार और समान वेतन तथा सुविधाओं के लिए आंदोलन किया और लम्बे संघर्ष के बाद सफलता प्राप्त की। धीरे–धीरे उनके आंदोलन की गूँज अन्य देशों में भी सुनाई दी और अमेरिकी महिलाओं की सफलता का दिन 8 मार्च, 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस' बन गया। भारत सहित अनेक देशों में इसे 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस' का रूप भी दे दिया गया लेकिन महिलाओं का शोषण कम नहीं हुआ।[2] अमेरिका में ही एक बार फिर 'महिला मुक्ति का आंदोलन छिड़ा और इसकी गूंज–अनुगूंज हमें भारत सहित अनेक देशों में सुनाई दी। यह आंदोलन जिस तेजी से उठा उसी तेजी से लुप्त भी हुआ। फिर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महिला दशक भी मनाया गया और संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में महिला प्रश्नों पर अनेक सम्मेलन हुए जिनकी परिणिति 'वीजिंग काफ्रेंस' की सिफारिशों के रूप में हुई। लेकिन जैसा कि अक्सर होता है कि सिफारिशें आमतौर पर सिफारिशें ही बनकर रह गयी हैं और महिलाओं की स्थिति में कोई उल्लेखीय सुधार नहीं हुआ है। कम से कम भारत के स्तर 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो तथा 'आंचल में है दूघ और आँखों में पानी वानी स्त्री की छवि आज भी बरकरार है। तथ्य इसी बात की पुष्टि करते हैं।[3]

राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशनः–

ग्रामीण विकास मंत्रालय का उद्देश्य ग्रामीण गरीब परिवारों को देश की मुख्यधारा से जोड़ना और विभिन्न कार्यक्रमों के जरिये उनकी गरीबी दूर करना है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए मंत्रालय ने 3 जून, 2011 में राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (एनआरएलएम) की शुरूआत की थी। इसका मुख्य उद्देश्य गरीब ग्रामीणों को सक्षम और प्रभावशाली संस्थागत मंच प्रदान कर उनकी आजीविका में निरंतर वृद्धि करना, वित्तीय सेवाओं तक उनकी बेहतर और सरल तरीके से पहुंच बनाना और उनकी पारिवारिक आय को बढ़ाना है। इसके लिए मंत्रालय को विश्व बैंक से आर्थिक सहायता मिलती है।[4]

इस मिशन ने स्वयं सहायता समूह तथा संघीय संस्थानों के माध्यम से देश के 600 जिलों, 6000 प्रखंडो, 205 लाख ग्राम पंचायतों और छह लाख गांवो के 7 करोड़ ग्रामीण गरीब परिवारों (बीपीएल) को दायरे में लाने का और 8 से 10 साल की अवधि मे उन्हें आजीविका के लिए आवश्यक साधन जुटाने में सहयोग देने का संकल्प किया है, जो एक कार्यक्रम के माध्यम से पूरा होगा। इसके अतिरिक्त गरीब जनता को अपने अधिकारों और जनसेवाओं का लाभ उठाने में, तरह–तरह के जोखिम उठाने में और सशक्तिकरण के बेहतर सामाजिक संकेतकों को समझने में मदद मिलेगी। राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन इस बात में विश्वास रखता है कि गरीबों कि सहज क्षमताओं का सदुपयोग हो और देश की बढ़ती अर्थव्यवस्था में उनका योगदान हो, जिसके लिए उनकी सूचना, ज्ञान, कौशल, संसाधन, वित्त तथा समूहिकीकरण से जुड़कर क्षमताएं विकसित की जाएं।

भारत सरकार ने ग्रामीण गरीबों के आर्थिक एवं सामाजिक सशक्तिकरण के लिए कई योजनाएं चलाई। इन्हीं प्रयासों की कड़ी में ग्रामीण आजीविका मिशन की उत्पत्ति हुई। स्वतंत्रता के बाद ग्रामीण गरीबी दूर करने हेतु विभिन्न कार्यक्रम शुरू किए गए, जैसे सामुदायिक विकास कार्यक्रम (1952), और नौकरी गारंटी

योजनाएं, 1970–80 के दशक में गरीबी उन्मूलन हेतु सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना (SGRY) और ग्रामीण रोजगार गारन्टी योजना जैसी पहलें हुई लेकिन ये योजनाएं प्रायः रोजगार उपलब्ध कराने तक सीमित रही टिकाऊ आजीविका पर विशेष बल नहीं दिया गया।[6]

ग्रामीण विकास मंत्रालय भारत सरकार इस योजना के कार्यान्वयन के विभिन्न पहलुओं पर गौर करने के लिए (प्रो0 राधाकृष्ण की अध्यक्षता में) एस.जी.एस.आई. के तहत ऋण से सम्बंधित मुद्दों पर एक समिति गठित की है। समिति ने चार परस्पर सम्बन्धित कार्यों को शामिल किया है और ग्रामीण गरीबी को खत्म करने के लिए एक 'आजीविका दृष्टिकोण की गोद लेने की सिफारिश की हैः

1. कार्यात्मक रूप से प्रभावी एस.एच.जी. और उनके महासंघो में सभी गरीब परिवारों को जुटाना।
2. बैंक ऋण और अन्य वित्तीय, तकनीकी और विपणन सेवाओं के लिए उनके उपयोगों को बढ़ाना।
3. लाभकारी और टिकाऊ आजीविका के विकास के लिए उनकी क्षमताओं और कौशल का निर्माण करना चाहिए।
4. इष्टतम परिणामों के साथ गरीबों को सामाजिक और आर्थिक समर्थन, सेवाओं के कुशल प्रसव के लिए विभिन्न योजनाओं द्वारा सहायता।
5. सरकारी समिति की सिफारिशों को स्वीकार करना और गरीबी कम करने के लिए अधिक से अधिक ध्यान केन्द्रित करना और गति प्रदान करना, 2015 तक सहस्त्राब्धि विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (एमआरएलएम) में एसजीएसवाई का पुनर्गठन करना। एन.आर. एल.एम. के कार्यान्वयन के लिए फ्रेमवर्क 9 दिसम्बर, 2010 को मंत्रालय द्वारा प्रस्तावित किया गया था और यह मिशन औपचारिक रूप से 3 जून 2011 को शुरू किया गया था।[7]

मिशनः राज्यों के गरीबी के अनुपात के आधार पर उन्हें राशि आवंटित की जाएगी और उन्हें इसी सीमा में योजनाएं संचालित करनी पड़ेगी ताकि आवंटित राशि का ज्यादा से ज्यादा लाभ मिले।

''ग्रामीण गरीब परिवारों की परिस्थिति को देखते हुए उन्हे सशक्त एवं स्थाई संस्थाएं बनाकर, लाभदायक स्वरोजगार एवं निपुण मजदूरी वाले रोजगार को प्राप्त कराने में समर्थ बनाना है, जिससे उनकी गरीबी कम होनी चाहिए। जिसके द्वारा उनकी जीवनशैली में लगातार सुधार हो।''

इसके मार्गदर्शक सिद्धान्त निम्नलिखित हैंः–

1. गरीब लोगों में अपनी गरीबी को मिटाने की मजबूत सोच होती है और इसके लिए उनमें बहुत क्षमताएं भी हैं।
2. गरीब लोगों की क्षमताओं को आगे लाने के लिए उनकी सामाजिक एकरूपता के साथ–साथ सशक्त संस्थाएं बनाना जरूरी है।
3. सामाजिक एकरूपता लाने के लिए सशक्त संस्थाओं के निर्माण और सशक्तीकरण प्रक्रिया के लिए एक बाह्य समर्पित और संवेदनशील सहायक संरचना की जरूरत है।
4. इस जानकारी का प्रचार–प्रसार कर कौशल विकास प्रशिक्षण की सुविधा, बाजार तक पहुँच एवं आजीविका से जुड़ी अन्य सेवाएं उपलब्ध कराने से गरीब लोग स्थायी आजीविका प्राप्त कर सकते हैं।

मूल्यः राष्ट्रीय आजीविका मिशन के तहत सभी गतिविधियों और संचालित करने वाले महत्वपूर्ण नैतिक मूल्य निम्न प्रकार हैंः

1. समाज के गरीब लोगों को शामिल करना और सभी क्रियाओं में उनकी सार्थक भूमिका।
2. सभी क्रियाओं और संस्थाओं की पारर्शिता और जवाबदेही।

3. योजना और उसके क्रियान्वयन एवं निगरानी के सभी स्तरों पर गरीब लोगों एवं उनकी संस्थाओं का स्वामित्व और उनकी अहम भूमिका।[8]

विशेषताएंः यूनिवर्सल सामाजिक जुड़ाव, सामाजिक समावेश और सार्वभौमिक सामाजिक एकजुटताः राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन सुनिश्चित करेगा कि राज्य सभी सहभागिता की पद्धतियाँ अपनाएं जहां पर प्रत्येक निर्धारित ग्रामीण गरीब परिवार से कम से कम एक सदस्य, विशेषकर महिला को समयबद्ध तरीके से एस.एच. जी. के तहत लाया गया है। मिशन कामकाजी रूप से प्रभावी और स्व–प्रबंधन वाले संस्थानों में सभी निर्धारित बी.पी.एल. परिवारों के सामजिक समावेश, समाजिक एकजुटता के लिए विशेष रणनीति अपनाएगा, जिसमें खासकर अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, भूमिहीन मजदूर प्रवासी मजदूर, अक्षम अलग–थलग पड़े समुदाय तथा अशांत क्षेत्रों में रहने वाले समुदायों जैसे संवेदनशीलता का आंकलन करने वाली पद्धति और गरीबी का स्तर पता लगाने वाली पद्धति के जरिए बी.पी.एल. परिवारों में सबसे गरीब, सबसे कमजोर लोगों की पहचान करेगा। निर्धारित परिवारों से महिला और पुरूषों दोनो को आजीविका के मुद्दों पर ध्यान देना व गरीब लोगों से जुड़कर संगठनों, किसान संगठन, उत्पादक सहकारी संस्थाओं में जोड़ा जायेगा। इन लोगों को समुदाय के कुशल व्यक्तियों (सी.आर.पी.) के समर्थन वाले, उच्चस्तरीय संस्थानों में भेजा जायेगा, जो समावेश तथा एकजुटता की प्रक्रिया को सुनिश्चित करेंगे।

गरीब की भागीदारी की पहचानः राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन में लक्षित समूह के शामिल किए जाने वाले समुदाय के स्तर पर, गरीबों की भागीदारी की पहचान, एक अच्छी तरह से परिभाषित और पारदर्शी और न्याय संगत प्रक्रिया द्वारा निर्धारित किया जाता है। रंज प्रक्रिया के माध्यम से गरीब के रूप में पहचान सभी घरों एन.आर.एल.एम. लक्षित समूह है और इस कार्यक्रम के तहत सभी लाभ के लिए पात्र हैं।[9]

लक्षित समूह, गरीब की भागीदारी की पहचान पद्धिति के माध्यम से पहुँचाया जाता है। रंज के माध्यम से निकाली गई एन.आर.एच.एम. लक्ष्य समूह बी.पी.एल. से अलग कर दिया जाता है। रोल–आउट करने के लिए रंज राज्यों में प्रयास शुरू कर दिया है। रंज एक समुदाय संचालित प्रक्रिया की जरूरत है। यह सुनिश्चित करने के लिए, पहली रंज व्यायाम (6–12 महीनों गांव प्रविष्टि के बाद) प्राथमिक संघ के गठन के बाद आयोजित किया जाता है। रंज गांव में गरीबों की सूची को संशोधित करने के लिए लगातार थोड़े–थोड़े समय पर आयोजित किया जाता है। रंज के माध्यम से गरीबों की सूची, ग्राम सभा द्वारा पुनरीक्षित और पंचायत द्वारा अनुमोदित किया जाना चाहिए। रंज सूची में सभी घरों में एन.आर.एल.एम. के तहत सभी लाभ प्राप्त करने के लिए पात्र हैं। संसाधन के रूप में समुदाय फंडः राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन उनके संस्थागत और वित्तीय प्रबंधन क्षमता को मजबूत बनाने और मुख्यधारा के बैंक वित्त आकर्षित करने के लिए उनके ट्रैक रिकार्ड के निर्माण के लिए, गरीबों की संस्थाओं को शाश्वत परिक्रामी निधि (आर.एफ.) और सामुदायिक निवेश कोष (सी.आई.एफ.) के रूप में संसाधन उपलब्ध कराता है।[10]

निष्कर्ष

भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति वर्तमान समय में भी चिंताजनक है। भारत सरकार महिलाओं की प्रास्थिति को ऊँचा उठाने की निरन्तर प्रयास करते रहती है। जिसके लिए विभिन्न प्रकार के संवैधानिक प्रावधान योजनाएं व महिला विकास के कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करती रहती है ताकि महिलाओं को भी समाज में बराबरी में लाया जा सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अंसारी, एम.ए.ः राष्ट्रीय महिला आयोग और भारतीय नारी, ज्योति प्रकाशन, जयपुर, 2000
2. आर्य, साधनाः वूमैन–लैण्डर इक्किट दण्ड दा स्टेट, 2000
3. अहूजा, रामः क्राइम अगेंस्ट वूमेर, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1987
4. आन्द्रे, बेताई, इम्पावरमेंट, एकोनामिक एण्ड पोलिटिकल विकली, मार्च, 1999, पृ. 589–97.
5. एण्डरसन, सी.ए., 'ए स्पेशल नोट ऑन द रिलेशन ऑफ वर्टिकल मोबिलिटी टू एजूकेशन' अमेरिकल जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी, 1961.
6. बोसाण्ड, जे.एच., परेन्ट एण्ड चाइल्ड, यूनिवर्सिटी ऑफ पेन्सीलवनिया प्रेस, पेन्सीलवनिया, 1953.
7. बाटलीवाला, श्री लाथा, द मिनिंग ऑफ वेमेन्स इम्पावरमेंटः न्यू कॉन्सेपट्स फ्राम एक्शन इन सेन, गीता एण्ड अदर्स, पापुलेशन पॉलसिज विनर्सिडर्ड, हेरार्ड सिरीज ऑफ पापुलेशन एण्ड इण्टरनेशनल हेलथ, कैम्ब्रिज मॉस, 1994.
8. बेनडिक्स, आर., कान्टीन्यूटीज एण्ड डिसकान्टीन्यूटीज इन कल्चरल कण्डीशनिंग, 1939.
9. भट्ट, ई. टूवर्ड्स इम्पावरमेंट वर्ल्ड डवलपमेंट, 17(7), 1989.
10. कोलमेन, एल., टूवर्ड इम्पावरमेंट वूमेन एण्ड पॉवरमेंट पॉलिटिक्स इन इण्डिया, यू.के. वार्डर वेस्टइराव प्रेस कं. ऑक्सफोर्ड, 1992.

सामाजिक विधान एवं महिला सशक्तीकरण

डॉ0 राजेश कुमार गुप्ता
असिस्टेन्ट प्रोफेसर (समाजशास्त्र विभाग)
स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर।

सारांश

महिलाओं के सशक्तिकरण में सामाजिक विधानों का महत्वपूर्ण योगदान है। यदि किसी भी महिला के समाज में शोषण की स्थितियां है तो इनको दूर करना सभ्य समाज की स्थापना करना ही सामाजिक विधानों का कार्य है। सामाजिक विधानों नें सदैव महिलाओं को समाज में व्याप्त रूढ़ियों कुरीतियों, कुप्रथाओं, अपराध, अत्याचार, भेदभाव, शोषण इत्यादि से सुरक्षा प्रदान की है चाहे वह सती प्रथा, बाल विवाह, हिंसा, शोषण, अत्याचार हो या अन्य कोई अपराध। आज महिला जब घर से बाहर निकलती है चाहे फिर वह किसी भी वर्ग, जाति या धर्म की हो, कहीं काम करती हो या घरेलू महिला हो, उसमें यह आत्मविश्वास बढ़ा है कि यदि उसके साथ किसी प्रकार का अन्याय होता है तो वह अपनी सुरक्षा हेतु सामाजिक विधानों का सहारा ले सकती है।

शब्द कुन्जीः– महिला, सशक्तीकरण, सामाजिक, विधान, समानता, अधिकार।

प्रस्तावनाः–

महिलाओं का सशक्तिकरण समाज व देश को सशक्त बनाता है। कोई देश या समाज सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रायः आधा भाग विकास की मुख्य धारा में लाए बिना सशक्त समाज, सशक्त राष्ट्र बनाने की कल्पना नहीं कर सकता है। शोषित महिलाएँ सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक दृष्टि से अपने भावों, विचारों व क्रियाकलापों में प्रायः अपनी विवशता और कष्टों को ही दर्शाती है तथा अपने संकुचित व कुंठित जीवन की इसी धरोहर को अपनी आगामी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती है, किन्तु यदि महिलाओं के साथ समानता व सम्मान का व्यवहार किया जाता है तो वह न केवल अधिकारों से सशक्त होती है वरन् उनकी कार्यकुशलता भी बढ़ती है और सांस्कृतिक धरोहरों के रूप में संजोयी गई नकारात्मक प्रथाओं, परम्पराओं और रूढ़ियों का खण्डन होता है। इस तरह से उनके अधिकारों की सुरक्षा करना ही उनके जीवन में सन्तुलन व सशक्तिकरण लाना है।[1]

विश्व की प्रायः सभी संस्कृतियों में महिलाओं से प्रति विशेष उदार और उन्नत विचार रखे गये हैं। महिला को शक्ति का महान भण्डार और परिवार की नींव माना गया है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक के विधान और विज्ञान आम तौर पर दोनो ही स्त्री के विरूद्ध रहे हैं। इस सदी में वास्तविकता यह है कि पूरी दुनिया में स्त्री की अस्मिता, उसके ही संदर्भ पर कायम है। अनेक बार नियम और कानूनों को संशोधित किया गया, मगर औरत आज भी आदमी का अंतिम उपनिवेश है।[2] प्रकृति ने ही स्त्री–पुरूष को विपरीत बनाया है, पुरूष बर्बर तथा आक्रामक है और स्त्री कोमल तथा भावुक। जीवन संघर्ष को जीतने के लिए दोनो ही प्रवृत्तियाँ अनिवार्य है। मानव जीवन व समाज के विकास में दोनो की स्वस्थ परस्परता अनिवार्य है किन्तु पता नहीं किस अशान्त वातावरण में पुरूष ने अपनी इच्छा और विश्वास के अनुसार स्त्री को चलाना चाहा है। कालान्तर में इसी अवधारणा के कारण या तो स्त्री देवी (मातृरूप में) मानी गई या तो 'दासी' व

भोग्या' (सौभाग्यवती पत्नी) या 'पशु' (विधवा, वेश्या)। किसी भी श्रेणी में स्त्री की अपनी इच्छा, अपने सिद्धान्त या अपनी रूचियों का कोई स्थान नहीं। ऐसी स्थिति में नारी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सुंदर भावी पीढ़ी का निर्माण करें।[2]

इक्कीसवीं सदी के इस दौर में नारी अपनी योग्यता के बल पर आर्थिक रूप से अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने में सफल हो रही है। जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में उसने पुरूषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना सीख लिया है, परन्तु फिर भी अभी उसके प्रति भोग्या का नजरिया न तो पुरूष का बदला है और न ही समाज का। इसी का परिणाम है कि स्त्री बाजार की वस्तु बन गई है। कभी स्वास्थ्य सलाहकार के रूप में दिखती है तो कभी सौन्दर्य उत्पादों की गणिका। पुरूष वर्ग तथा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था जीवन के हर मोर्चे पर स्त्री के प्रति दोहरे मानदण्डों को अपनाकर उसका निरन्तर शोषण कर रहा है। एक ओर तो उसने नारी को आर्थिक स्वतन्त्रता दे दी हे ताकि परिवार संरचना का अर्थतन्त्र मजबूत हो सके वहीं दूसरी ओर घर से बाहर निकलने के आरोप में उसे संशय की दृष्टि से देखा जा रहा है।

परिवार और समाज में औरत को दोयम दर्जा देने के लिये पुरूषों ने इस रिश्ते को सदैव महिमा मण्डित किया। औरत की हर रिश्ते में एक खास छवि पनपा दी गयी है। बेटी, बहन, पत्नी, माँ और सास के रूप में इन सब रिश्तों में जहाँ भी वह पुरूष से जुड़ी है वहाँ एक खास किस्म की आज्ञाकारिता, सहनशीलता और चुप्पी की उससे अपेक्षा की जाती है। इन सब में सम्मान, पवित्रता जैसे शब्द जोड़कर औरत की एक परम्परागत छवि पनपा दी गई है। इस छवि ने औरत को एक 'फ्रेम' के अन्दर कैद कर दिया। इसके बाहर भी उसकी पहचान बन सकती है, मगर यह वह खुद नहीं जान पाती। त्रासदी यह है कि इस छवि में कैद औरत को यह कैद नहीं लगता क्योंकि पुरूष लगातार उसे भावनात्मक रूप से भयादोहित करता रहता है।[9]

महिला की क्षमता उसकी बौद्धिकता एवं समाज में उसके स्थान के सम्बन्ध में भारतीय परम्परा अत्यन्त समृद्धशाली रही है। महिलाएँ हमारी संस्कृति का आधार ही नहीं वरन् लोकजीवन, धर्म और मानवता के विकास की कुंजी भी है। मूल भारतीय सामाजिक व्यवस्था में महिलाओं को सुख, सम्पत्ति, ज्ञान और शक्ति का प्रतीक माना गया है जिसकी अभिव्यक्ति के रूप में लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा की पूजा की जाती रही है।[4]

भारतीय समाज में महिलाओं की निर्णायक भूमिका और अधिकार सीमित है। अपने अधिकारों की स्वायत्तता, निर्णय, भेदभावों के प्रति विरोध जैसे अधिकार महिलाओं को पारिवारिक और सामाजिक ढाँचे में आज भी प्राप्त नहीं है। परिवार और समाज के पुरूषों को अपने अधिकारों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप पसंद नही है। मौजूदा व्यवस्था की समर्थ महिलायें, जो खुद इन ज्यादतियों को झेलती रही है, वे भी मुखर होकर महिला सदस्यों का साथ नहीं देती। समाज में एक आज्ञाकारी नारी की छवि स्थापित है जो पारिवारिक निर्णयों के आगे समर्पित रहे और अपनी सोच को अपने तक ही रखे।

सदियों से औरतों को खूब बहलाया गया कभी देवी कहकर तो कभी घर की जिम्मेदारी का अहसास दिला कर, पर बदले माहौल में जब युवतियां आगे बढ़ी तो उन्हें किसी न किसी बहाने से पीछे करने की कोशिश की गई। भारत में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व में महिलायें भेदभाव, असमानता, दमन–शोषण आदि की शिकार रही है। लम्बे समय तक स्वयं महिलाओं में भी यह चेतना नहीं थी कि उन्हें इन स्थितियों का प्रतिकार करना चाहिये। इसका विकास एक साथ और अचानक नहीं हुआ। इसकी जड़े अठारहवीं शताब्दी में यूरोप द्वारा विश्व के समक्ष प्रस्तुत 'आधुनिक परियोजना' (Modern Project) में भी गहरी पैठी हुई है। इसके द्वारा यूरोपीय राष्ट्रों के बीच व्याप्त वैमनस्यता, प्रतिद्वन्दिता एवं शत्रुता को समाप्त करने का कार्यक्रम तो प्रस्तुत किया ही गया था, साथ ही शेष–विश्व के समाजों को सभ्यता एवं संस्कृति के स्तर पर परिष्कृत एवं परिमार्जित करने की उद्घोषणाएँ भी की गई थीं। यूरोपीय पुनर्जागरण ने सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक

परिवर्तनों की समेकित प्रक्रिया को 'वर्ग' (Class), 'सजातीयता' (Ethnicity) तथा 'प्रजाति' (Race) जैसे मुद्दों के साँचे में ढ़ाल कर विश्व के समक्ष सकारात्मक परिवर्तनों की आवश्यकता को प्रस्तुत किया परन्तु इसने स्वयं को स्त्री 'लिंग' (Gender) जैसे प्रमुख मुद्दे से दूर रखा। फिर भी, नारीवादी सिद्धान्त अनवरत् बना रहा, जिसने विभिन्न चरणों में अपनी पूर्णता को प्राप्त किया।[5]

नारीवादी के प्रथम चरण पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि प्रथम महायुद्ध का सर्वाधिक तात्कालिक दुष्परिणाम अलग–अलग देशों में बच गई स्त्रियों पर विशेष रूप से पड़ा। अपने घायल तथा अपंग पुत्रों के साथ पतितों, रिश्तेदारों इत्यादि को अकारण खो देने के पश्चात विनाशकारी प्रवृत्तियों के साथ अचानक प्रकट हो गए एकाकीपन परिस्थितियों में जकड़ दिया था। युद्ध के पश्चात निर्मित हुई, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों ने स्त्रियों को अपने लैंगिक अस्तित्व एवं भविष्य के परिप्रेक्ष्य में अपनी परिस्थितियों एवं भूमिकाओं के बारे में नए सिरे से विचार तथा व्यवहार करने को प्रेरित किया। इस संदर्भ में उन्होंने बल देकर यह प्रतिवाद प्रस्तुत किया कि पितृसत्तात्मक एवं सेवा का सम्बन्ध आप (पुरूष) निर्मित करते हैं, युद्ध एवं विनाशकारी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में निर्णय भी आप ही लेते हैं, तो फिर सिर्फ नकारात्मक एवं त्रासद परिणामों के सहने में हम सहभागी क्यों बने, वो भी एकाकीपन की सीमा तक? वहीं दूसरी ओर वैश्विक, आर्थिक मंदी ने जो वातावरण पैदा किया उसने आर्थिक स्तर पर महिलाओं के अस्तित्व, अधिकारों तथा क्षमताओं को नए सिरे से परिभाषित एवं विश्लेषित करने का अवसर प्रदान किया। ग्रेट ब्रिटेन में ऐसे वातावरण में स्त्रियों को सर्वप्रथम राजनैतिक मताधिकार प्रदान किया गया, जो प्रथम चरण की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इसे सामाजिक व्यवस्था में व्यापक तौर पर स्त्री–स्वीकार्यता की पहल के माध्यम से सकारात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रारम्भ किया।[6]

नारीवाद का द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रायः सम्पूर्ण यूरोप एवं अमेरिका के महाविध्वंस के बाद पुनर्निर्माण की समस्याओं में उलझ गया। यह वह वीर था जिसकी पृष्ठभूमि में लाखों युवा पुरूषों (सैनिको तथा नागरिकों के रूप में) ही हत्याओं ने लैंगिक एक ऐसा विषम समाज बना दिया था जिसमे एक नवीन प्रकार की सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना ने जन्म ले दिया। इसमें प्रकार्यवादी मान्यताएँ क्रमशः बिखरने लगी थी, अस्तित्ववाद फिर से अपनी जड़े जमाने लगा था, व्यापक असंतोष पर आधारित आंदोलन उभरने लगे थे तथा प्रजातीय मुद्दों ने नारीवाद को नेपथ्य में भेज दिया था। बीसवीं शताब्दी में साठ के दशक के आते–जाते यूरोप एवं अमेरिका का बौद्धिक जगत अपेक्षाकृत स्थिरता प्राप्त कर चुका था। वहाँ नवनिर्माण एवं पुर्ननिर्माण की प्रक्रियाएँ तब तक एक स्तर तक स्थापित हो चुकी थी। ऐसे में वहाँ नारीवाद एक बार पुनः उभरता प्रारम्भ हुआ, परन्तु परिवर्तित परिस्थितियों में स्त्रियों को मिली सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्वीकार्यता तथा उनके द्वारा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अपनाई गई प्रगतिशीलता ने नारीवाद का वो संस्करण निर्मित कर दिया जिसकी मान्यता थी कि परम्परागत सामाजिक संस्थाएं स्त्री विरोधी एवं दमनकारी है तथा इनको सिरे से नकार देने में ही स्त्री–उत्थान का मर्म छिपा हुआ है। इसे अतिवादी नारीवाद, जो प्रत्येक अर्थ में स्त्रियों को पुरूषों से भिन्न रूप में देखने एवं सिद्ध करने का प्रयास करता है की संज्ञा दी जाती है। इसमें पुरूष–अस्तित्व को नकार कर महिला कानूनों, बिना विवाह के पुरूषों के साथ रहने तथा स्वच्छन्तदपूर्वक सहवास करने, अन्तःवस्त्रों का परित्याग करने तथा समलैगिक सम्बन्धों के माध्यम से यौन–सुखों को प्राप्त करने जैसे उपायों से स्त्रियों को आत्मनिर्भर एवं सन्तुष्ट बनने की राय दी गई। सिमेन–दी–बुआ को इसकी अग्रणी नेत्री के रूप में जाना जाता है। अतिवादी नारीवाद की उत्पत्ति के कुछ वर्षों तक इसकी काफी चर्चा रही तथा इसके प्रभाव में अपरम्परागत तथा सर्वथा नवीन स्त्रीवादी प्रक्रियाओं एवं गतिविधियों का भी जन्म हुआ परन्तु शीध्र ही इसके अप्रासंगिक, पूर्वाग्रह एवं पारम्परिक कटुता पर आधारित और श्वेत तथा मध्यम एवं उच्च मध्यम वर्ग की महिलाओं तक ही

केन्द्रित रहने के कारण इसका प्रभाव क्रमशः कम होता गया। बाद में इसके स्थान पर समन्वय एवं सहयोग के दृष्टिकोण पर आधारित नारीवाद का तृतीय चरण प्रारम्भ हो गया। 80 के दशक में अतिवादी संस्करण की विसंगतियां स्पष्ट होने लगी। इसकी कमियों के आधार पर इसकी आलोचनाएँ प्रारम्भ हुई। उदाहरण के तौर पर इसकी अतिवादी मान्यताओं तथा इनके प्रभावों में विघटित होने लगे परिवारों, विवाह–विच्छेदों और स्त्री–पुरूष के बीच निरन्तर पनपते जा रहे अविश्वास के वातावरण ने तार्किक स्तर पर उसके समन्वयकारी स्वरूप की वकालत प्रारम्भ की। इसने अस्सी के दशक के अन्त में तब और भी अधिक बल प्राप्त कर लिया जब वैश्विक व्यवस्था के साथ अपना समन्वय स्थापित कर सकने के कारण एक झटकें से मार्क्सवाद का मिथक बिखर गया। तब तक यह मान्यता कि बिना विवाह के स्त्री–पुरूष सहवास सम्बधों के परिप्रेक्ष्य तक एक साथ रह सकते हैं, जिसे नारीवाद के द्वितीय चरण की एक महत्वपूर्ण वैचारिक स्थापना के रूप में देखा जाता है, को भी क्रमशः अस्वीकृत एवं अमान्य की जाने लगी थी। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि स्त्री–पुरूष के बीच ऐसे सम्बन्ध मिथकीय हैं तथा वास्तविकता से इनका कुछ भी लेना–देना नहीं रहा है। ऐसी मान्यताओं से परे हटकर एक नवीन परिवेश में, जब निरन्तर सामाजिक एवं आर्थिक विकास की उपलब्धियां हासिल की जा रही थी तथा सम्पूर्ण व्यवस्था में नारीवाद और अन्य स्त्री–प्रोत्साहन प्रक्रियाओं, वैचारिकताओं एवं आन्दोलनों के प्रभाव में स्त्रियों की सामाजिक दशा अपेक्षाकृत सुधरने लगी थी तथा अतिवादी नारीवाद के प्रभाव में बिखरी सामाजिक संस्थाओं यथा विवाह, परिवार इत्यादि के दुष्परिणाम स्पष्ट परिलक्षित होने लगे थे, एक नवीन चरण की ओर अग्रसारित हुआ।

नारीवाद के विभिन्न चरणों में समाज में 'स्त्री की स्थिति', 'दशा' एवं 'अधिकारो' के सन्दर्भ में कतिपय पारम्परिक व्यवस्थागत मान्यताओं एवं सामजिक स्थितियों को नकारते हुए लोगों का ध्यान सम्पूर्ण व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में स्त्रियों की दशा में सुधारने हेतु आकर्षित करने तथा इस संदर्भ में आवश्यक 'सुधारों' की दिशा में कार्य करनें में योगदान दिया है।

ऐसी स्थिति में पहली बार ससंगठित रूप से प्रतिकार का स्वर उठा अमेरिका में, जहाँ कल–कारखानों में कार्यरत महिलाओं ने अपनी कार्य–दशाओं में सुधार और समान वेतन तथा सुविधाओं के लिये आंदोलन किया और लम्बे संघर्ष के बाद सफलता प्राप्त की। धीरे–धीरे उनके आंदोलनों की गूँज अन्य देशों में भी सुनाई दी और महिलाओं की सफलता का दिन 8 मार्च, 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस' बन गया। भारत सहित अनेक देशों में इसे 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला सप्ताह' का नाम दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 1975–85 के दशक को महिला दशक घोषित किया गया। संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में महिला प्रश्नों पर अनेक सम्मेलन हुए जिनकी परिणति 'बीजिंग कॉन्फ्रेंस' की सिफारिशों के रूप में हुई।

भारतीय समाज में महिला अशिक्षा अभी भी व्याप्त है, जो उसके प्रति हो रही हिंसा का एक प्रमुख कारण है। अशिक्षा के कारण तमाम प्रयासों के बावजूद भारतीय समाज में स्त्रियों का एक बड़ा हिस्सा, वो परम्परागत रूढ़िग्रस्त मान्यताओं के आधार पर कोल्हू के बैल की भाँति आँख पर पट्टी बांधकर चलती रहती है। स्वतन्त्रता के पश्चात भारत में बालिकाओं की शिक्षा दर बढ़ी है किन्तु बालकों की तुलना में बालिकाओं का पढ़ाया जाना प्रायः सभी वर्गों, सभी समुदायों, सभी जातियों, सभी अंचलों में अपेक्षाकृत काफी कम है। उन्हें सिर्फ कामचलाऊ प्राथमिक, माध्यमिक या उच्चतर माध्यमिक शिक्षा ही दी जाती है। मध्यवर्ग और निम्न वर्ग में लड़की की पढ़ाई पर खर्च करना एक अपव्यय माना जाता है क्योंकि अन्ततोगत्वा वह पराये घर की ही मानी जाती है।[8]

शिक्षा के अभाव में उसे जीवन संग्राम की व्यापक समझ का अभाव तो रहता ही है, वह पारम्परिक संस्कारों के दबाव के परिणामस्वरूप वैवाहिक जीवन को एकमात्र नियति मानती है, पुरूष इसकी विवशता का

विवाह से लेकर विवाहेत्तर जीवन में भी अनुचित लाभ उठाते हैं दहेज प्रथा का दानवी स्वरूप धारण करना उसके लिए विवाह संस्था को अनिवार्य माने जाने के कारण ही है। उसे इस विकल्प को चुनने का अधिकार नहीं रहता कि जीवन साथी के रूप में एक संभावना युक्त श्रेष्ठ पति के मिलने पर विवाह करें अथवा अविवाहित पुरूषों की भाँति स्वतंत्र जीवन–यापन कर सकें।

समाज की प्रचलित रीति–रिवाजों, मूल्यों, विश्वासों एवं विचारधाराओं का भी महिला हिंसा में बहुत योगदान रहा है। बलात्कार, दहेज प्रथा, महिलाओं को जला देना, यौन हिंसा, भगा ले जाना, अपहरण, मारने–पीटने की घटनाओं में हमारी सामाजिक–आर्थिक स्थितियां ही सहायक हैं। पुत्र द्वारा वंश निर्धारण की सोच ने भी लड़कियों को दूसरे दर्जे का नागरिक बनाया है।

आधुनिक जीवन में महिलाओं को ज्यादा समझदार, विवेकशील, सजग और चौकन्ना रहने की जरूरत है, किन्तु इसके बावजूद वह अपनी मूल प्रकृति, कोमलता, संवेदना, भावात्मक आवेग की प्रचुरता और मातृत्व की स्वाभाविक चाह में लिप्त पुरूषों के सुनियोजित अत्याचार की शिकार हो जाती है। नारी चाहे कितनी बुद्धि संगत हो जाय, उसका भावनात्मक पहलू जब तक ज्यादा निर्णायक नहीं रहेगा वह कमजोर ही रहेगी। आज भी महत्वाकांक्षी महिलाओं के साथ बलात्कार, शारीरिक छेड़छाड़ आदि घटनाओं को हम प्रायः देखते और सुनते हैं। आज तो मनुष्य की मानसिकता इतनी विकृत हो गई है कि अबोध एवं नाबालिग बच्चियों को ही अपहरण, बलात्कार एवं वेश्यावृत्ति का सर्वाधिक शिकार बनाया जा रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय बनी हुई है। मजदूरी में लैंगिक भेद और शारीरिक शोषण अतिरिक्त है। विडम्बना यह है कि इसे न सिर्फ उन्होंने बल्कि शेष समाज व्यवस्था ने भी उनकी नियति मान लिया है।

अनादिकाल से हमारे देश में लड़की के जन्म को अशुभ माना जाता रहा है। उसे एक बोझ के रूप में पराया धन मानकर उसका पालन–पोषण किया जाता रहा है। लड़के और लड़कियों में भेद–भाव किया जाता रहा है। लड़की को लड़के की तुलना में हेय दृष्टि से देखा जाता था। उसकी शिक्षा–दीक्षा पर ध्यान नहीं दिया जाता था। सामाजिक कुरीतियों एवं अंधविश्वासों ने धार्मिक विश्वास का रूप धारण कर रखा था। बाल विवाह के प्रचलन के कारण वैधव्य अथवा प्रसव जन्म–मृत्यु का कष्ट भी उनका प्रारब्ध बन चुका था, परन्तु जैसे–जैसे देश में शिक्षा का प्रचार–प्रसार हुआ सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन आया। लड़कियों को पढ़ने–लिखने, नौकरी के समान अवसर प्राप्त होने लगे। स्त्रियाँ आधुनिक समाज में पुरूषों से कंधे से कंधा मिलाकर जीवन के हर क्षेत्र में कार्य कर रही है फिर भी उन्हें समाज में बराबरी का दर्जा प्राप्त नहीं हो रहा है। घर से बाहर कदम रखने के बाद नारी जीविकोपार्जन हेतु पुरूष के ही समान संघर्ष कर रही है। फलस्वरूप विषम आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से कुंठित एवं पीड़ित नारी आत्महत्या हेतु प्रेरित हो जाती है। आज के युग में आत्मनिर्भर होते हुए भी नारी सुरक्षित नहीं है। समाज एवं मानवीय सम्बन्धों में परस्पर तीव्र गति से संवेदनशीलता, सौहार्द, स्नेह एवं विश्वास की कमी ने ही इस विषम समाज को जन्म दिया है। स्वार्थपरता भी मानव सम्बन्धों को कमजोर बनाने में प्रमुख भूमिका निभा रही है।

प्राचीन वैदिक युगीन समाज को छोड़कर स्त्री की स्थिति निरन्तर पतनोन्नमुखी होती गयी। हिन्दू शास्त्रकारो, सामाजिक परम्पराओं एवं मूल्यों ने स्त्री को पुरूष की तुलना में अपेक्षाकृत निम्न अधिकार सुविधा तथा शक्ति प्रदान की। कहीं–कहीं तो नारी की स्थिति अत्यधिक दयनीय हो गयी और उसे शास्त्रसम्मत आधार पर उचित बताया गया है। भारतीय समाज में स्त्रियों की पराश्रयता यद्यपि एक प्राचीन घटना है, किन्तु आधुनिक युग के प्रारम्भ में, विशेष रूप से ब्रिटिश उपनिवेशवाद की स्थापना के पश्चात भारत में जिन सामाजिक–आर्थिक परिवर्तनों का सूत्रपात हुआ उसके परिप्रेक्ष्य में स्त्री की स्थिति अत्यधिक दयनीय होती गयी, न केवल पारिवारिक एवं सामुदायिक जीवन में, वरन् राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में स्त्री की स्थिति

निम्न हो गयी। सामान्यतः यह माना जाता है कि स्त्रियों का कार्य क्षेत्र पारिवारिक कार्यों तक ही केन्द्रित है तथा उन्हें सामाजिक एवं आर्थिक उत्पादन कार्यों से विरत रहना चाहिए। 'मार्क्स' के अनुसार नारी मुक्ति और पुरूषों के बराबर उनकी समानता तक सम्भव नहीं है जब तक महिलाओं की केवल गृहस्थी के कार्य, जो कि निजी कार्य हैं, तक केन्द्रित रखा जाए ताकि उन्हें सामाजिक रूप से उत्पादक कार्यों में संलग्न न किया जाए। महात्मा गांधी ने स्त्रियों की निम्न दशा के सम्बन्ध में यह लिखा है कि स्त्रियों को केवल संतान उत्पन्न करनें, पति की देखभाल करने और गृहस्थ कार्य को सम्पादित करनें का माध्यम माना जाता है। उसे घर की दासी बना दिया गया है और जब वो काम करने के लिए जाती है तो पुरूष की तुलना में कम मजदूरी दी जाती है। लिंग आधारित सामाजिक पर्यावरण में महिलाओं के प्रति भेदभाव मानवीय गरिमा एवं परिवार तथा समाज कल्याण के विरूद्ध है। यह भेदभाव महिलाओं को पुरूष के समान राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने से रोकता है। साथ ही साथ इस अवरोध के कारण स्त्री के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं हो पाता। स्त्रियों का कार्य, पालन–पोषण, भोजन पकाना एवं पारिवारिक दायित्वों का निर्वहन करना, बने रहने से इनके सम्मुख नवीन आर्थिक व्यवसायिक संरचना में प्रवेश करने या उससे समायोजन स्थापित करने में बाधक है।

निष्कर्ष

सामाजिक दृष्टि से महिला आज भी घर की दासी, विलासिता की वस्तु और संतान पैदा करने का यंत्र मानी जाती है। अनेकानेक प्रकार से नारी स्वतंत्रता और अधिकारों की हिमायत करने वाली महिलाओं को समाज में बहुत सम्मान प्राप्त नहीं है। उन्हें घर–परिवार तोड़ने का दोषी और चरित्रहीन करार दिया जाता है। महिलाओं के सन्दर्भ में अभी भी विभिन्न प्रकार की सामाजिक कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ और निर्योग्याताएँ विद्यमान है। दहेज प्रथा और कन्या भ्रूण परीक्षण की स्थितियाँ आज भी उनके संदर्भ में विद्यमान है जो कि महिलाओं की सामाजिक स्थिति को निम्नतर बनाती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह, प्रतिभा (2014), महिला सशक्तीकरण, न्यायपालिका और 21वीं सदी, मानव अधिकार संचायिका, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, नई दिल्ली। पृ0. 35
2. शर्मा, श्रीनाथ (2007), राजनीतिक समाजशास्त्र, भोज कुक्त विश्वविद्यालय, भोपाल
3. वर्मा, महादेवी (2007), श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकवाणी प्रकाशन, इलाहाबाद पृ. 17
4. दूबे लीला, (1991), धरती और बीज, (एडि. राजाकिशोर, श्री स्त्री के लिए जगत), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. डॉ. अम्बेडकर पत्रिका (2005), नारी उत्थान में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका सम्पादन, दिसम्बर
6. जैन, दीपा (2007), महिला सुरक्षा एवं महिला पुलिस, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ.1
7. शुक्ला डी.पी. एवं उषा शुक्ला (1999), वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारतीय नारीः समस्याओं से संभावनाओं तक, ए.पी.एच. पब्लिशिंग कारपोरेशन, नई दिल्ली, पृ. 62
8. वही, पृ. 63
9. कौल, अशोक कुमार एवं सुशील कुमार (2016), उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, पियर्सन, इंडिया एजूकेशन सर्विसेज प्रा.लि. नोएडा, पृ.183
10. वही, पृ. 184–185
11. रायजादा, अजीत (1992), महिला उत्पीड़न, समस्या और समाधान, पृ.. 124
12. वही, पृ. 130–131
13. वही, पृ. 156–157
14. रेड्डी जी. नारायण (1987), वूमेन एण्ड चाइल्ड डेवलपमेन्ट, बुध पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, पृ. 40

बाल श्रमिकों की सामाजिक आर्थिक स्थिति

अनुराग मिश्र
शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग
कामता प्रसाद सुंदरलाल साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अयोध्या
(डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या)
डॉ. सत्य प्रकाश गुप्त
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
कामता प्रसाद सुंदरलाल साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अयोध्या
(डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या

'समृद्ध बालक समृद्ध राष्ट्र' आदि जैसे कहावतों के आधार पर हम देखें तो यह स्पष्ट होता है कि बच्चे ही किसी राष्ट्र की आगामी विकास की धुरी के रूप में परिवर्तित होते हैं, अर्थात आने वाले समय में देश की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि समस्त क्षेत्रों की बागडोर इन्हीं बच्चों के हाथों में ही होगी। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि- जिन बच्चों के हाथों में किताबें और खिलौने होने चाहिए थे उनके हाथों में औजार कैसे आ गए, अर्थात, जिस उम्र में उन्हे शिक्षा और खेल से संबंधित मानसिकता का विकास करना था उसी उम्र में उनपर जिम्मेदारियों का बोझ कैसे आ पड़ा? उसके लिए जिम्मेदार कौन है? वस्तुतः किसी भी सामाजिक संरचना में बदलाव वहाँ के निवासित आबादी के सोच एवं चिंतन में परिवर्तन लाने से ही संभव है। बाल श्रम की समस्या विश्व के किसी एक देश की समस्या नहीं है बल्कि, यह सार्वभौमिक समस्या है भले ही इसका स्वरूप कुछ अलग हो। भारत के संदर्भ मे देखें तो वर्तमान में भारत के सभी राज्यों और उनमें स्थित उद्योग-धंधों, कुटीर उद्योगों एवं कृषि श्रमिकों के रूप में करोड़ों बच्चे असंगठित रूप से संलग्न हैं। जहां पर इनसे काम तो अधिक से अधिक लिया जाता है लेकिन, मजदूरी न्यूनतम दी जाती है। मालिकों द्वारा इन नाजुक हाथों को केवल खुद की आर्थिक स्थिति मजबूत करने के आधार के एक उपकरण के रूप में देखा जा रहा है। इस प्रकार न्यूनतम मजदूरी मिलने एवं पारिवारिक स्थितियों के सामान्य न होने के कारण ये बाल श्रमिक अधिक से अधिक धन कमाने के लालच में अधिक से अधिक काम करने के लिए लालायित होते जाते हैं। यही पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति ही उस बालक के सर्वांगीण विकास में अवरोध उत्पन्न करती है और एक हँसते-खेलते बचपन को बाल श्रम के गर्त में ढकेल देती है।

सामाजिक विज्ञान विश्वकोश (1959), बाल श्रम को इस प्रकार परिभाषित करता है- "जब मजदूरी अर्जित करने या काम में भागीदारी का व्यवसाय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बच्चों के विकास और शिक्षा के व्यवसाय से टकराता है तो इसका परिणाम बाल श्रम होता है। बाल श्रम मूलतः एक विकासात्मक समस्या है। यह सभी विकासशील देशों में व्याप्त है।"

भारतीय समाज में वस्तुतः सामाजिक संसाधनों तक व्यक्ति के पहुँच के लिए सबसे महत्वपूर्ण स्थान उसकी सामाजिक प्रस्थितियाँ एवं जातिगत पदानुक्रम है। यही कारण है की पदानुक्रम में उच्च स्थान प्राप्त उच्च जातियाँ न सिर्फ सामाजिक स्तर पर शक्तिशाली हैं अपितु आर्थिक, राजनैतिक आदि व्यवस्थाओं पर भी उनकी पकड़ बहुत प्रबल है। इसके विपरीत पदानुक्रम में निम्न स्थानों पर स्थित जातियों में अधिकांशतः रोटी, कपड़ा और मकान के संघर्ष में ही अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। इनको जीवन के लिए आवश्यक अन्य प्रस्थितियों के बारे में सोचने का अवसर ही नहीं मिल पाता। लेकिन इसका यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि उच्च जातियों में निम्न सामाजिक प्रस्थिति वाले लोग हैं ही नहीं।

चूंकि बाल श्रम की यह हृदय विदारक प्रथा वास्तविक रूप से सामाजिक संरचना का ही भाग है। अक्सर देखा जाता है कि अधिकांश बाल श्रम में शामिल बच्चे आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े परिवारों से ही आते हैं। इस संदर्भ में अनुसूचित जाति या जनजाति जिनको सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों के रूप में देखा जाता है। यद्यपि कि जनसंख्या में उनका योगदान लगभग एक चौथाई के बराबर है फिर भी इनकी अन्य प्रस्थितियाँ बिल्कुल निम्न हैं। इन्ही वर्गों के लिए **'दलित'** जैसा शब्द भी प्रयोग किया जाता है। जिसका तात्पर्य ही है कि प्रताड़ित वर्ग या वह वर्ग जो सामाजिक व आर्थिक असमानताओं को झेल रहा है। यद्यपि की दलित जनसंख्या का श्रम बाजार में लगभग 60% का योगदान है। वास्तव में बाल श्रमिकों की समस्या सामाजिक एवं आर्थिक दोनों मूलभूत समस्याओं से जुड़ी हुई है, इस समस्या का सीधा दुष्परिणाम यह होता है कि उन बच्चों का शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक विकास एक सीमित दायरे तक ही हो पाता है। जिससे उनका स्वास्थ्य भी प्रभावित रहता है और उनके भविष्य की असीम संभावनाएं बाल श्रम की लपटों में ही झुलस जाती हैं।

भारत सरकार द्वारा 1979 में, बाल श्रम की समस्या का अध्ययन करके और इससे निपटने के उपाय सुझाने के लिए **'गुरुपादस्वामी समिति'** नामक पहली समिति का गठन किया। समिति ने इस समस्या का गंभीरता से अध्ययन किया और कुछ दूरगामी सुझाव भी दिया। समिति की रिपोर्ट में पाया गया कि जब तक गरीबी बनी रहेगी तब तक बाल श्रम को पूरी तरह से समाप्त करना मुश्किल होगा और इसलिए कानूनी उपायों के माध्यम से इसे समाप्त करने का कोई भी प्रयास अव्यवहारिक होगा। समिति ने यह भी महसूस किया कि इन परिस्थितियों में एकमात्र विकल्प खतरनाक क्षेत्रों में बाल श्रम पर प्रतिषेध लगाना और अन्य क्षेत्रों में काम की परिस्थितियों को विनियमित एवं बेहतर बनाना है। इस संदर्भ में भारत सरकार के श्रम एवं रोजगार मंत्रालय की वेबसाइट से प्राप्त आँकड़े निम्न हैं, जिसमें बाल श्रम की स्थिति को दिनों-दिन बेहतर दिखाई पड़ रहा है-

तालिका

क्र. सं.	वर्ष	आयु समूह	कुल बाल श्रमिक
1	2001	5-14	1.26 करोड़
2	2004-2005	5-14	90.750 लाख
3	2011	5-14	43.53 लाख

*जनगणना 2011 के बाद कोई भी रिपोर्ट जनगणना के माध्यम से नहीं प्राप्त हुआ है। लेकिन अन्य स्रोत हैं।

यूनिसेफ की एक रिपोर्ट के अनुसार विश्व के एक तिहाई मजदूर भारत के हैं। इन मजदूरों की संख्या का इतना विशाल भाग भारत में होना एक तरफ तो सकारात्मक बात है और दूसरी तरफ नकारात्मक भी। सकारात्मक इस अर्थ में कि भारत के पास इतना विशाल और दक्ष श्रम है जिसका प्रयोग करके वह प्रगति के हर मुकाम को हासिल कर सकता है। नकारात्मक इसलिए कि कुल श्रमिकों का 92% असंगठित क्षेत्र के श्रमिक हैं, जिनका न कोई अपना संगठन है और न ही निश्चित वेतन एवं सुविधाएं।

जनसत्ता समाचार पत्र में छपे एक समाचार के अनुसार केंद्र सरकार की ओर से हाल ही में 2011 की जनगणना के आधार पर जारी किए गए आंकड़ों के मुताबिक भारत में 8.4 करोड़ बच्चे स्कूल नहीं जाते और 78 लाख बच्चे ऐसे हैं जिन्हें मजबूरन बाल मजदूरी करना पड़ रहा है। इसमें 57% लड़के एवं 43% लड़कियां शामिल हैं। बाल श्रम में शामिल इन आंकड़ों में से 68% बाल श्रमिक कृषि या शिल्पकारी से जुड़े हैं, जहां इन्हे छः महीने या इससे कम काम करना पड़ता है, बाकी 32% बाल श्रमिक ऐसे हैं जो साल भर श्रम करते हैं।

हाल ही में कोविड-19 महामारी का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व द्वारा झेला गया है। इस संदर्भ में आधिकारिक आंकड़ों के अनुसार, **WHO** ने भारत में लगभग 5,31,843 मौतों का आंकड़ा बताया है। इस महामारी का सर्वाधिक प्रभाव उन्हीं लोगों पर पड़ा जो किसी तरह प्रतिदिन कमा कर अपनी जीविका चलाते थे। परिणामस्वरूप पहले से ही कमजोर स्थिति में जी रहे परिवार गरीबी के चरम स्तर तक पहुँच गए। इस

गंभीर परिस्थिति ने सामाजिक असमानताओं में और वृद्धि की जिससे महिलाओं एवं बच्चों के लिए दुर्व्यवहार, हिंसा एवं सुरक्षा की कमी का जोखिम उत्पन्न हो गया।

यूनिसेफ और अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की वर्ष 2022 की रिपोर्ट में कहा गया है की कोविड-19 ने वैश्विक स्तर पर बच्चों को बाल श्रम के खतरे में डाल दिया है। इसलिए वर्ष 2022 के अंत तक बाल श्रम के मामले में 8.9 मिलियन की वृद्धि हो सकती है।

यदि हम भारत के वर्तमान बाल श्रम के आंकड़ों पर नजर डालें तो हम देखते हैं कि जनगणना 2011 से प्राप्त अनंतिम आंकड़ों के अनुसार भारत में 10.1 मिलियन बाल श्रमिक मौजूद थे। **राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो** की वर्ष 2022 की रिपोर्ट के अनुसार, वर्ष 2021 में **बाल श्रम (निषेध एवं विनियमन) अधिनियम 1986,** के अनुसार लगभग 982 मामलें दर्ज किए गए। भारत में प्रवासी बच्चों पर कोविड-19 के प्रभाव पर 'Aide et Action' के अध्ययन से पता चल कि कोविड-19 की पहली लहर के बाद ईंट निर्माण उद्योगों में अपने कार्यशील माता-पिता के साथ शामिल होने वाले बच्चों की संख्या में दोगुना वृद्धि हुई है। **Compaign Against Child Labour** द्वारा 818 बच्चों पर किए गए सर्वेक्षण में बाल श्रमिकों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि दर्ज किया गया (28.2% से 79.6%), जिसका कारण कोविड-19 के प्रभाव से विद्यालयों का बंद होना माना गया। वर्तमान में उत्तर-प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य-प्रदेश और महाराष्ट्र भारत में बाल श्रम के बड़े नियोक्ता हैं।

भारत में बाल श्रम के प्रमुख कारकों में बच्चों की सामाजिक आर्थिक स्थिति को ही जिम्मेदार माना जा सकता है। जिसके अंतर्गत सामाजिक मानदंडों, गरीबी, कमजोर स्कूल अवसंरचना, आपदा राहत स्थितियाँ, किशोरों के लिए अच्छे अवसरों की कमी आदि को उत्तरदायी माना जा सकता है।

हालांकि सरकार एवं कुछ गैर सरकारी संगठनों के माध्यम से समय-समय पर इस संदर्भ में अनेक कार्यक्रमों एवं नियमों का क्रियान्वयन किया जाता है। लेकिन इनमें से कुछ ही योजनाएं धरातल तक आ पाती हैं, बाकी योजनाएं कागजों में ही दम तोड़ देती हैं।

अंततः परिणामस्वरूप कहा जा सकता है कि बाल श्रम का उपयोग सामान्यतः बुरा नहीं है। परंतु जिन परिस्थितियों एवं जिन शर्तों पर उन्हें काम पर लगाया जाता है वह बुरा है। बचपन में काम करना सामाजिक अच्छाई है और राष्ट्रहित में भी है परंतु साथ ही साथ बाल श्रम एक सामाजिक बुराई और राष्ट्र की बर्बादी भी है। क्योंकि जब तक किसी वस्तु या व्यक्ति क न्यायोचित उपयोग होता है तभी तक वह अच्छाई है, न्याय की सीमा लाँघने के बाद वह बुराई के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अतः जब व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से नन्हें-मुन्ने नाजुक हाथों का शोषण होने लगता है तो इसे स्वीकार्य नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि इस स्थिति में उस बाल जीवन की समस्त महत्वाकांक्षाओँ का गला घोंट दिया जाता है।

संदर्भ:-

1- कुलश्रेष्ठ, जे. सी., "चाइल्ड लेबर इन इण्डिया" आशीष पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1978
2- वेबसाइट: श्रम एवं रोजगार मंत्रालय, भारत सरकार
3- सामाजिक विज्ञान विश्वकोश (1959)
4- गुरुपादस्वामी एम.एस.: इण्डिया: चाइल्ड लेबर रिपोर्ट, न्यू दिल्ली, मिनिस्ट्री ऑफ लेबर, 1979
5- आई. एल. ओ. रिपोर्ट ऑफ डायरेक्टर जनरल लेबर कॉन्फ्रेंस (6 सेक्शन), 1983

Stress and Coping Strategies among University Students: A Psychological Perspective

Dr. Rakesh Kr. Das
Assistant Professor, Department of Psychology
Degree College, Maheshpur
Sido Kanhu Murmu University, Dumka

Abstract
Stress has become a universal part of modern life, but its impact is particularly visible in university students. At this stage of life, young adults face academic demands, social adjustments, financial responsibilities, and uncertainties about future careers. Stress in moderation can motivate students to achieve goals, but excessive or chronic stress harms mental health, physical health, and academic performance. This research paper explores the psychological nature of stress, its common sources among university students, and the coping strategies they adopt to manage it. Drawing on psychological theories and empirical studies, the paper highlights both adaptive and maladaptive coping methods, emphasizing how resilience and social support can improve student well-being. The findings suggest that stress cannot be eliminated entirely, but with awareness, coping strategies, and institutional support, students can manage stress constructively and build psychological strength for the future.

Keywords: Stress, Coping, University Students, Mental Health, Resilience

Introduction

Stress is one of the most commonly used words in today's academic and professional world. In psychology, stress is defined as the response of the body and mind when individuals perceive that the demands placed on them exceed their resources. For university students, stress is part of everyday life. Academic challenges, social adjustments, financial struggles, and the transition into adulthood create an environment where stress becomes unavoidable.

A certain amount of stress, often referred to as "eustress," can be beneficial. It motivates students to complete assignments, prepare for exams, and meet deadlines. However, when stress becomes excessive or long-lasting, it can lead to serious problems such as anxiety, depression, sleep disturbances, and burnout. Research by the World Health Organization (2020) shows that around 35–40% of university students report high levels of stress, and nearly one-third experience psychological disorders like anxiety and depression.

The study of stress and coping is important because it not only helps us understand how students suffer but also how they survive. The way students respond to stress—whether through problem-solving, seeking support, or resorting to avoidance—shapes their academic success and overall well-being. This paper examines stress among university students in depth, looking at its causes, effects, and coping mechanisms.

Review of Stress and Its Implications

The concept of stress in psychology was formalized by Hans Selye in the 1950s, who described it as the nonspecific response of the body to any demand. He proposed the General Adaptation Syndrome (GAS), which consists of three stages: alarm, resistance, and exhaustion. When students face exam deadlines or financial problems, their bodies enter the alarm stage, activating the stress response. If stress continues, they attempt to resist it, but prolonged stress can lead to exhaustion, where the body and mind can no longer cope effectively.

Lazarus and Folkman (1984) expanded on this idea by introducing the transactional model of stress and coping. According to this model, stress arises not from the situation itself but from the individual's appraisal of it. For example, two students may face the same exam. One may feel motivated and prepared, while the other may feel overwhelmed and hopeless. This difference lies in cognitive appraisal and the availability of coping resources.

In university settings, stress is influenced by a variety of factors. Academic workload is one of the strongest stressors. Assignments, exams, presentations, and competition for high grades put constant pressure on students. Financial stress is another major factor, especially in countries where higher education is expensive or where students work part-time to support themselves. Social challenges also play a role: adjusting to hostel life, maintaining relationships, and meeting parental expectations can cause distress.

The consequences of stress are multidimensional. Psychologically, students may experience anxiety, depression, irritability, and low self-esteem. Physiologically, stress can lead to headaches, fatigue, poor sleep, and even long-term illnesses if not managed properly. Academically, high stress is associated with procrastination, poor concentration, and declining performance. Socially, it can result in withdrawal, conflicts, and a feeling of isolation. These outcomes underline why stress is one of the most studied topics in student psychology.

Stress as a Double-Edged Sword

Psychologists emphasize that stress in itself is not always harmful. According to the **Yerkes-Dodson Law (1908)**, a moderate amount of stress enhances performance. For example, a student who feels a little pressure before an exam may prepare better and perform at a higher level. But when stress crosses a threshold, it becomes destructive, causing anxiety, insomnia, and impaired memory. This helps explain why some students thrive in competitive environments, while others break down.

Individual Differences in Coping

Not all students respond to stress in the same way. Some display resilience, while others collapse under similar pressures. The difference lies in **personality, background, and support systems**.

- **Personality:** Extroverted students often cope better by sharing problems with peers, while introverts may internalize stress and struggle silently.
- **Background:** Students from financially stable families report less stress about fees, while first-generation college students often carry both economic and emotional burdens.
- **Support Systems:** Access to counselling, encouraging parents, or friendly roommates can act as protective shields against stress.

Example: A case study from Delhi University (2021) found that students from rural backgrounds without strong peer networks were more vulnerable to stress-related depression compared to urban students who had easier access to guidance and counselling.

Cultural Perspectives

Culture also influences coping styles. In **collectivist societies** like India, students often turn to family, spirituality, or community support. Stress is shared, and emotional relief comes from group solidarity. In contrast, in **individualist cultures** like the US, students rely more on individual coping—self-help books, therapy, or mindfulness practices. Both approaches have advantages: collectivist coping provides strong emotional security, while individualist coping encourages independence and self-reliance.

The Risk of Maladaptive Coping

While adaptive coping strategies like time management and mindfulness improve outcomes, maladaptive strategies worsen stress. Over-reliance on **social media**, for instance, gives temporary

relief but increases procrastination and anxiety. Similarly, **substance use** provides escape but damages health and academic careers. Universities that ignore these patterns risk higher dropout rates, as students caught in avoidance cycles often disengage from studies.

Coping Strategies and Student Responses

Coping refers to the thoughts and behaviours that individuals use to manage stress. According to Lazarus and Folkman, coping can be broadly divided into two types: problem-focused coping and emotion-focused coping.

1. Problem-focused coping is when students try to address the source of stress directly. For example, if academic pressure is high, they may organize study schedules, seek help from professors, or form study groups. Research shows that problem-focused coping is generally more effective for academic stress. Students who use time management and planning report lower stress levels and better performance.

This involves directly addressing the source of stress.

Time Management: Students who create schedules and break tasks into smaller parts experience less anxiety.

Academic Help: Attending tutoring sessions or discussing problems with professors helps reduce the burden.

Example: *An engineering student shared that organizing her day with "study blocks" and relaxation breaks made her workload feel manageable. Her GPA improved, and she felt more in control.*

2. Emotion-focused coping is when students try to regulate their emotional response to stress. This can include relaxation techniques, meditation, prayer, physical exercise, or simply talking to a friend. These strategies do not solve the root problem but help reduce emotional distress, making it easier to face challenges calmly.

This helps regulate emotions rather than remove the stressor.

Mindfulness and Meditation: Breathing exercises, yoga, and mindfulness apps have been shown to lower cortisol levels.

Physical Exercise: Sports and fitness activities improve mood and reduce anxiety.

Spiritual Practices: Prayer, reflection, and cultural rituals provide comfort for many students.

Example: *Ali, a psychology student, practices 20 minutes of mindfulness each morning. He reported fewer panic attacks before presentations and better concentration in lectures.*

3. Avoidance Coping: Unfortunately, many students also adopt **avoidance coping**, such as excessive use of social media, gaming, alcohol, or substance use. These maladaptive strategies provide temporary relief but worsen stress in the long run. Studies indicate that students who engage in avoidance coping are more likely to experience depression, poor grades, and health issues.

Overuse of Social Media: Scrolling endlessly distracts but eats into study time.

Substance Use: Alcohol and drugs are sometimes used to "escape" stress, but they damage health and academics.

Example: *Lena, a student in Canada, admitted that she spends 6–7 hours daily on Instagram and TikTok when she feels anxious about assignments. This avoidance causes missed deadlines, making her stress even worse.*

4. Social Support as a Coping Resource

One of the most powerful coping resources is **social support**. Students with strong family ties, good friendships, or access to supportive teachers and counsellors cope better with stress. Peer

mentoring programs, student clubs, and counselling services play an important role in creating a support system.

Social relationships are one of the strongest buffers against stress.

Family Support: Talking to parents or siblings provides comfort and perspective.

Peer Support: Sharing experiences with friends helps normalize stress and reduces feelings of isolation.

Counselling Services: Professional counselling equips students with coping tools.

Example: *Rahul, an MBA student, regularly meets with a university counsellor. Through guided sessions, he learned cognitive-behavioural strategies to challenge negative thoughts and reframe stress as a challenge rather than a threat.*

Cultural context also influences coping. In collectivist cultures like India, students often rely on family, religion, and community for emotional support, while in Western societies, individual strategies such as therapy and mindfulness are more common. Both approaches have strengths, and integrating them can create balanced coping mechanisms.

Findings on Student Stress

University students consistently report stress as one of the defining features of their academic life. The intensity and form of stress vary depending on personal circumstances, but certain themes appear repeatedly across studies and student experiences.

1. **Academic Stress**

Heavy workload, frequent exams, deadlines, and pressure to maintain high grades are the most common stressors.

Example: *Ritika, a postgraduate student in India, shared in an interview that she often feels overwhelmed before exams. She knows the material but struggles with the pressure of competing with her peers for top grades. The anxiety often makes her forget what she studied, which lowers her performance—a cycle she finds difficult to break.*

2. **Financial Stress**

Many students juggle part-time jobs to pay for tuition or living costs. Financial insecurity affects concentration and increases anxiety.

Example: *James, an international student in the UK, works evening shifts at a restaurant. While the income helps cover his rent, the long hours reduce his sleep and study time, creating stress that affects both his academic and personal life.*

3. **Social and Emotional Stress**

Moving away from family, making new friends, or dealing with relationship issues adds emotional strain. Homesickness is common among first-year students.

Example: *Priya, a student from a rural area, felt isolated after moving to a big city university. She struggled to make friends initially, which led to loneliness and sadness. Joining a student cultural club later helped her adjust.*

4. **Uncertainty about the Future**

Concerns about employment opportunities, internships, and career prospects create stress.

Example: *A survey conducted by the American College Health Association (2019) reported that nearly 60% of students worry "often" about their future careers, with this uncertainty leading to anxiety and lack of motivation.*

Discussion

The findings from literature and theory highlight that stress among students is inevitable but manageable. Moderate stress can enhance performance, while excessive stress is harmful. Coping strategies, therefore, determine whether stress becomes a challenge or a burden.

From a psychological perspective, interventions should focus on teaching students both **problem-focused skills** (like time management, goal setting, and study techniques) and **emotion-focused practices** (like relaxation, mindfulness, and positive self-talk). Universities should provide accessible counselling services and promote awareness about stress management. Regular workshops on mindfulness, yoga, and resilience training have been shown to reduce stress significantly.

Parents and families also play a crucial role. Instead of adding to the pressure with unrealistic expectations, they should provide emotional support and encouragement. Peer groups are equally important: students who feel connected and supported by friends are more resilient.

For policymakers, the rising levels of student stress call for integrating mental health education into the academic curriculum. Scholarships, financial aid, and flexible learning systems can reduce external stressors. Governments and institutions should treat student mental health as a priority for both academic and social development.

Conclusion

Stress is not inherently negative; it is part of human growth and adaptation. However, for university students, chronic and unmanaged stress poses serious risks to psychological well-being, physical health, and academic success. This research paper shows that while students face multiple stressors—academic, financial, and social—their coping strategies make a significant difference in outcomes. Adaptive strategies like time management, social support, mindfulness, and counselling lead to resilience and personal growth. Maladaptive strategies like avoidance and substance use worsen problems.

In conclusion, stress among students is an urgent issue that demands attention from individuals, families, universities, and policymakers. By promoting awareness, teaching coping skills, and building supportive systems, stress can be transformed from a threat into an opportunity for resilience and growth.

Recommendations

Students are not just learners; they are human beings navigating one of the most challenging phases of life. Stress is a natural part of their journey, but without proper coping tools, it can destroy confidence and dreams. When a student learns to manage stress constructively—through time management, social support, and self-care—it shapes not only academic success but also life skills that extend far beyond university.

Families, universities, and policymakers have a moral responsibility to ensure that young people are not left to fight this battle alone. Stress will always exist, but together we can make sure it becomes a **stepping stone** to resilience, not a stumbling block to mental health.

1. **Develop Time Management Skills**

Breaking tasks into smaller steps reduces the feeling of being overwhelmed.

Example: A student preparing for multiple exams can create a daily study timetable with short, focused sessions instead of cramming the night before.

2. **Adopt Healthy Lifestyle Habits**

Regular exercise, balanced diet, and sufficient sleep are basic yet powerful stress buffers.

Example: Research shows that just 30 minutes of physical activity per day can significantly lower anxiety levels.

3. **Use Mindfulness and Relaxation**

Techniques like deep breathing, yoga, and guided meditation help calm the nervous system. Apps like Headspace and Calm are popular among students worldwide.

4. **Seek Social Support**

Talking to friends, family, or mentors reduces isolation. Students should not hesitate to use university counselling services, which are confidential and supportive.

References

- American College Health Association. (2019). *National College Health Assessment II: Reference group executive summary Spring 2019*. Hanover, MD: ACHA.
- American Psychological Association. (2019). *Stress in America: Stress and current events*. Washington, DC: APA. Retrieved from https://www.apa.org/news/press/releases/stress
- Cohen, S., & Wills, T. A. (1985). Stress, social support, and the buffering hypothesis. *Psychological Bulletin, 98*(2), 310–357. https://doi.org/10.1037/0033-2909.98.2.310
- Folkman, S., & Lazarus, R. S. (1984). *Stress, appraisal, and coping*. New York: Springer.
- Gadzella, B. M. (1994). Student-life stress inventory: Identification of and reactions to stressors. *Psychological Reports, 74*(2), 395–402. https://doi.org/10.2466/pr0.1994.74.2.395
- Misra, R., & McKean, M. (2000). College students' academic stress and its relation to their anxiety, time management, and leisure satisfaction. *American Journal of Health Studies, 16*(1), 41–51.
- Robotham, D., & Julian, C. (2006). Stress and the higher education student: A critical review of the literature. *Journal of Further and Higher Education, 30*(2), 107–117. https://doi.org/10.1080/03098770600617513
- Ross, S. E., Niebling, B. C., & Heckert, T. M. (1999). Sources of stress among college students. *College Student Journal, 33*(2), 312–317.
- Selye, H. (1956). *The stress of life*. New York: McGraw-Hill.
- Singh, R., & Upadhyay, S. (2020). Academic stress and coping strategies among students: A comparative study. *Indian Journal of Health and Wellbeing, 11*(5-6), 605–609.
- Taylor, S. E. (2011). *Health psychology* (8th ed.). New York: McGraw-Hill.
- World Health Organization. (2020). *Adolescent mental health*. Geneva: WHO. Retrieved from https://www.who.int/news-room/fact-sheets/detail/adolescent-mental-health
- Yerkes, R. M., & Dodson, J. D. (1908). The relation of strength of stimulus to rapidity of habit-formation. *Journal of Comparative Neurology and Psychology, 18*(5), 459–482. https://doi.org/10.1002/cne.920180503

Teaching and Learning Abilities: A Psychological Perspective on Challenges and Strategies

Dr. Huding Marandi
Assistant Professor
Department of Psychology
Degree College Nala (Fatehpur),
Sido Kanhu Murmu University, Dumka

Abstract
Teaching and learning are central processes in human development and education, representing the dynamic interaction between teachers, learners, and environments. While teaching refers to the process of facilitating knowledge, skills, and values, learning represents the capacity of individuals to acquire, retain, and apply these. The effectiveness of these processes depends not only on curriculum and resources but also on psychological factors such as motivation, memory, attention, and individual differences. This paper explores teaching and learning abilities from a psychological perspective, highlighting the interaction between teachers, learners, and environments. Drawing on theories of learning, including behaviourism, cognitivism, and constructivism, the study examines factors influencing learning ability, challenges in modern classrooms, and evidence-based strategies for improvement. Findings reveal that while teaching ability is shaped by pedagogical knowledge, empathy, and adaptability, learning ability is influenced by cognitive skills, motivation, socio-cultural background, and support systems. Recommendations include student-cantered pedagogy, personalized learning, digital literacy, and teacher training grounded in psychology. The paper concludes that teaching and learning abilities must be understood as interconnected, evolving, and deeply human processes, shaped by both individual effort and systemic support.

Keywords: Teaching, Learning Ability, Psychology, Motivation, Educational Strategies

Introduction

Education is often described as a dialogue between teaching and learning. Teaching refers to the planned effort to facilitate knowledge, skills, and values, while learning is the process of acquiring and internalizing these. However, teaching and learning are not mechanical; they are deeply psychological processes shaped by attention, memory, motivation, and socio-emotional factors. Education is more than an institutional requirement; it is a fundamental human process. At its heart lie two interdependent abilities: the ability to teach and the ability to learn. Teachers are facilitators who guide learners in acquiring knowledge and skills, while learners engage actively with content, peers, and their environments. The quality of education depends on the effective interaction between teaching and learning abilities.

Teaching ability does not merely involve subject expertise but also the capacity to communicate, motivate, and adapt to diverse learners. Learning ability, similarly, goes beyond academic

performance; it includes attention, memory, critical thinking, creativity, and problem-solving. Both abilities are influenced by psychology, which provides insights into how people acquire knowledge, respond to stimuli, and develop intellectually and emotionally.

In the 21st century, education faces new challenges: rapid technological changes, diverse classrooms, socio-economic disparities, and increased mental health concerns among learners. Teachers and students must navigate these complexities while ensuring meaningful teaching-learning processes. This paper seeks to analyze teaching and learning abilities from a psychological perspective, exploring theoretical foundations, influencing factors, challenges, strategies, and recommendations.

This paper investigates teaching and learning abilities through psychological theories and real-world challenges. It emphasizes that effective education requires harmony between teaching strategies and learners' abilities.

Theoretical Perspectives on Teaching and Learning

Behaviourism

Behaviourists such as Pavlov, Thorndike, and Skinner argued that learning is shaped by conditioning and reinforcement. According to Skinner, effective teaching involves reinforcement of desired behaviours and immediate feedback. This model highlights the role of structured practice, rewards, and clear outcomes.

Cognitivism

Cognitive psychologists like Piaget, Bruner, and Ausubel focused on mental processes. Learning involves encoding, storage, and retrieval of information. Teaching must therefore emphasize concept mapping, scaffolding, and critical thinking. For example, Ausubel's theory of meaningful learning stressed that new knowledge must be anchored in prior knowledge.

Constructivism

Constructivist thinkers such as Vygotsky and Dewey emphasized that learners construct knowledge through interaction and experience. Vygotsky's concept of the "Zone of Proximal Development" suggests that teaching is most effective when it targets tasks slightly beyond the learner's independent ability, supported by guidance.

Humanistic Approaches

Humanistic psychologists like Carl Rogers and Abraham Maslow saw education as a holistic process influenced by self-actualization, emotions, and relationships. According to Rogers, teaching should be learner-centered, empathetic, and supportive of creativity. Maslow's hierarchy of needs reminds us that basic needs must be met for learning to occur.

These theories collectively demonstrate that teaching and learning are not mechanical but dynamic processes shaped by behaviour, cognition, culture, and emotion.

Factors Influencing Learning Ability:

Learning ability is shaped by multiple dimensions, each contributing to how effectively a learner acquires, processes, and applies knowledge. Cognitive factors such as intelligence, memory, reasoning, attention span, and concentration play a decisive role in determining how quickly and deeply students grasp academic content. Motivational factors are equally important—while

intrinsic motivation arising from curiosity and personal interest promotes long-term, meaningful learning, extrinsic motivation in the form of grades, rewards, or recognition often drives short-term performance without ensuring lasting retention. Socio-cultural factors like family background, peer influence, and cultural values influence attitudes toward education and create either supportive or restrictive learning environments. In multilingual classrooms, language barriers often hinder comprehension and widen the gap between learners. Emotional factors such as anxiety, self-esteem, and resilience significantly shape learning outcomes, with supportive environments fostering confidence and adaptability. Environmental factors including classroom design, teacher-student ratio, and access to technology also determine the efficiency of learning. For example, even a student with high curiosity but low family support can thrive if teachers encourage self-directed projects and peer-based collaborative learning.

Cognitive Factors: Intelligence, memory, and reasoning affect how students acquire and apply knowledge. Attention span and concentration influence task performance.

Motivational Factors: Intrinsic motivation (curiosity, personal interest) enhances deep learning. Extrinsic motivation (grades, rewards) may drive performance but often without long-term retention.

Socio-Cultural Factors: Family background, peer influence, and cultural values shape attitudes toward education. Language barriers in multilingual classrooms can hinder comprehension.

Emotional Factors: Anxiety, self-esteem, and resilience significantly affect learning. Supportive

Environmental Factors: Classroom design, teacher-student ratio, and technology access affect learning efficiency.

Example: A student with high curiosity but low family support may still thrive if teachers encourage self-directed projects and peer learning.

Challenges in Teaching and Learning

Despite understanding the various factors influencing learning ability, teaching and learning continue to face significant challenges in practice. One major issue is individual differences, as learners vary in pace, style, and background knowledge, requiring teachers to adapt their strategies in diverse classrooms. Another challenge is attention deficit, which has become widespread in the digital age where constant notifications and distractions reduce the capacity to concentrate on learning tasks. Teacher burnout adds to the problem, as stress, lack of resources, and large class sizes diminish instructional quality and personal engagement with students. Equity issues remain a pressing concern, with socioeconomic disparities leading to unequal access to resources, particularly in rural and marginalized contexts. Language and cultural barriers often exclude students from minority or rural backgrounds in mainstream classrooms, creating alienation and reducing participation. Assessment pressures further aggravate the situation, as overemphasis on examinations promotes rote memorization rather than creativity and critical thinking. A relevant case study can be observed in India, where rural students frequently lag behind urban peers due to poor infrastructure, limited exposure to technology, and English-medium barriers, thus highlighting the role of environment and socio-cultural context in shaping learning abilities.

Individual Differences: Learners vary in pace, style, and background knowledge. Teachers must adapt to diverse classrooms.
Attention Deficit: In the digital age, constant notifications and distractions reduce concentration.
Teacher Burnout: Stress, lack of resources, and large class sizes affect teaching quality.
Equity Issues: Socioeconomic disparities create unequal learning abilities, especially in rural or marginalized contexts.
Language and Cultural Barriers: Students from minority or rural backgrounds may feel excluded in mainstream classrooms.
Assessment Pressures: Overemphasis on exams often limits creativity and deep learning.
Case Study: In India, rural students often lag behind urban peers due to lack of exposure to technology and English-medium instruction, highlighting the role of environment in learning ability.

Strategies to Enhance Teaching and Learning Abilities

Teaching and learning are not static processes; they are dynamic, adaptive, and shaped by continuous improvement. Psychological research shows that both teaching and learning abilities can be strengthened when educators and learners adopt evidence-based strategies. Below are key strategies, supported by theory and practice, that enhance these abilities.

1. Active Learning Approaches

Active learning engages students beyond passive listening. It emphasizes participation, interaction, and reflection.

- Theoretical Support: Constructivist psychology (Piaget, 1970; Vygotsky, 1978) emphasizes that knowledge is constructed through experience and social interaction.
- Examples: Case-based learning in law and medicine; debates in social sciences; problem-based tasks in engineering.
- Impact: Students in active learning classrooms demonstrate better retention and problem-solving skills compared to lecture-only methods (Bruner, 1960).
- Practical Tip: Teachers should incorporate “think-pair-share,” role plays, simulations, and group projects to foster deeper learning.

2. Differentiated Instruction

No two learners are the same. Differentiated instruction recognizes individual differences in ability, interest, and style.

- Theoretical Support: Gardner’s multiple intelligences and Vygotsky’s Zone of Proximal Development (1978) provide psychological justification for tailoring teaching.
- Examples: Visual aids for visual learners, storytelling for auditory learners, hands-on experiments for kinesthetics learners.
- Impact: Research shows differentiated classrooms improve engagement and reduce achievement gaps, especially for disadvantaged learners.
- Practical Tip: Teachers can provide multiple formats of content delivery (videos, readings, discussions) and allow choice in assignments.

3. Technology Integration

Digital tools expand access to information and support diverse learning pathways.

- Theoretical Support: Cognitive load theory (Sweller et al., 2011) highlights that technology can reduce extraneous load by providing visuals, simulations, and adaptive platforms.
- Examples: Online quizzes for retrieval practice, AI-based adaptive learning (like personalized recommendations), virtual labs for science experiments.
- Impact: Studies show blended learning (face-to-face + online) improves student autonomy and achievement.
- Practical Tip: Teachers must use technology purposefully—integrating tools like Google Classroom, Kahoot!, or Moodle to enhance—not replace—pedagogy.

4. Feedback and Formative Assessment

Feedback is central to both teaching improvement and student learning.

- Theoretical Support: Bandura's (1997) social cognitive theory emphasizes self-efficacy, strengthened by constructive feedback.
- Examples: Exit tickets, peer reviews, one-on-one mentoring sessions.
- Impact: Hattie (2009) found that timely, specific feedback is one of the top influences on student achievement.
- Practical Tip: Teachers should provide "feedforward"—guidance on how to improve—not just correction of mistakes.

5. Teacher Training and Professional Development

Teaching ability grows through reflective practice and continuous learning.

- Theoretical Support: Rogers' (1969) humanistic approach argues that empathy, openness, and self-awareness make teaching effective.
- Examples: Workshops on classroom management, training in inclusive pedagogy, peer observation.
- Impact: Professional development correlates with better instructional practices and student learning outcomes (Biggs & Tang, 2011).
- Practical Tip: Teachers should maintain teaching portfolios and engage in communities of practice.

6. Supportive Learning Environment

Psychological safety and inclusivity are essential for learning ability.

- Theoretical Support: Maslow's hierarchy of needs (1954) shows that basic and psychological needs must be met before self-actualization (learning potential) can be realized.
- Examples: Anti-bullying policies, inclusive classroom language, collaborative norms.
- Impact: Students in safe and supportive environments demonstrate higher persistence and creativity.
- Practical Tip: Teachers should foster belonging by encouraging respect, inclusivity, and open dialogue.

7. Motivation and Self-Regulated Learning

Learners' ability depends on motivation and their capacity to self-direct learning.

- Theoretical Support: Deci & Ryan's (2000) self-determination theory highlights autonomy, competence, and relatedness as motivational pillars. Zimmerman (2002) emphasizes self-regulated learning as the hallmark of effective learners.
- Examples: Goal-setting exercises, reflective journals, peer accountability groups.
- Impact: Students with strong self-regulation achieve higher grades and deeper learning outcomes.
- Practical Tip: Teachers can assign reflection logs where students evaluate their own learning strategies and progress.

8. Collaborative and Peer Learning

Learning is enhanced when students teach and learn from peers.

- Theoretical Support: Vygotsky's sociocultural theory (1978) underlines the role of social interaction and peer scaffolding.
- Examples: Peer tutoring, study circles, group research projects.
- Impact: Collaborative learning improves critical thinking and communication skills.
- Practical Tip: Teachers can assign rotating group leaders to ensure equity and accountability in teamwork.

9. Reflection and Metacognition

Both teaching and learning abilities are strengthened by reflection.

- Theoretical Support: Flavell's (1979) concept of metacognition emphasizes awareness of one's own thinking processes.
- Examples: Teachers maintaining reflective journals; students completing "exam wrappers" where they analyze preparation strategies.
- Impact: Reflection builds adaptive expertise in teachers and self-awareness in learners.
- Practical Tip: Institutions should allocate time for structured reflection sessions.

10. Inclusive and Culturally Responsive Pedagogy

Classrooms are increasingly diverse; teaching and learning must respect cultural variations.

- Theoretical Support: Bronfenbrenner's ecological systems theory (1979) stresses the impact of social and cultural context on development.
- Examples: Using examples from diverse cultures in teaching; allowing students to bring their cultural perspectives into discussions.
- Impact: Inclusive pedagogy increases engagement and equity in multicultural classrooms.
- Practical Tip: Teachers should undergo training in cultural sensitivity and adapt curriculum examples to local contexts.

Enhancing teaching and learning abilities requires a holistic, psychology-informed approach. Teachers must integrate active learning, differentiated instruction, feedback, and reflection while creating supportive and inclusive classrooms. Learners, in turn, need to be empowered with motivation, self-regulated learning strategies, and collaborative opportunities. When aligned, these strategies create a cycle where better teaching enhances learning ability, and stronger learners enrich the teaching process.

Discussion

The interaction between teaching and learning abilities is reciprocal. Effective teachers inspire motivated learners, and motivated learners energize teachers. Theories of learning demonstrate that no single approach is sufficient—behaviourist reinforcement, cognitive scaffolding, constructivist discovery, and humanistic empathy must be combined for holistic education.

The modern context complicates these processes. Technology, while powerful, risks superficial learning if not integrated wisely. Socioeconomic disparities continue to disadvantage certain learners, requiring systemic interventions. Teachers must balance syllabus completion with personalized attention, a task often overwhelming in large classes.

Ultimately, teaching and learning abilities should be viewed as evolving capacities. They are not fixed traits but skills that grow with practice, reflection, and support.

Psychological theories provide strong evidence:

- Behaviourism supports reinforcement for building habits.
- Cognitivism emphasizes memory strategies.
- Constructivism highlights collaborative learning.

The modern challenge is balancing traditional teaching with digital learning. While technology enhances access, it also increases distraction. Moreover, teachers often face pressure to cover syllabus quickly, limiting personalized approaches.

Conclusion

Teaching and learning are not mechanical but deeply psychological. Effective teaching requires empathy, adaptability, and knowledge of learning processes. Learning ability depends on cognitive, emotional, and socio-cultural factors. By integrating psychological insights into education, we can create environments where both teaching and learning abilities are maximized.

Education must be student-centred, holistic, and inclusive, where teachers act not only as knowledge transmitters but also as facilitators of growth. With the right strategies, challenges can be transformed into opportunities for lifelong learning.

Recommendations

For Teachers

Teachers should apply mixed pedagogical approaches, drawing insights from behaviourist, cognitive, and constructivist theories to address diverse learner needs. They must focus on holistic development rather than limiting education to exam preparation alone. Technology can be a powerful tool in the classroom, but it should be used meaningfully to enrich the learning experience rather than creating over-dependence.

For Learners

Learners should cultivate self-regulated learning practices, including goal setting, monitoring progress, and reflecting on outcomes. They may benefit from using memory aids, mind maps, and collaborative peer learning to enhance understanding and retention. Balancing digital study methods with offline practices is also essential to avoid distraction and develop comprehensive learning skills.

For Institutions

Educational institutions should prioritize the training of teachers in psychology-based pedagogy to strengthen classroom practices. Adequate infrastructure must be provided to support inclusive and learner-centred classrooms. Institutions should also encourage and invest in research focusing on learning styles, teaching outcomes, and innovative strategies that improve both teaching and learning abilities.

For Policymakers

Policymakers must integrate psychological principles into teacher training curricula to ensure evidence-based teaching practices. They should work to reduce inequities in education by addressing digital divides and ensuring that marginalized learners are not left behind. Additionally, promoting mental health support in educational settings is critical to creating healthy learning environments where both teaching and learning abilities can flourish.

References

- Ausubel, D. P. (1968). *Educational psychology: A cognitive view*. Holt, Rinehart & Winston.
- Bandura, A. (1997). *Self-efficacy: The exercise of control*. W. H. Freeman.
- Bloom, B. S. (Ed.). (1956). *Taxonomy of educational objectives: The classification of educational goals*. Longmans, Green.
- Bruner, J. S. (1960). *The process of education*. Harvard University Press.
- Deci, E. L., & Ryan, R. M. (1985). *Intrinsic motivation and self-determination in human behaviour*. Springer.
- Deci, E. L., & Ryan, R. M. (2000). The "what" and "why" of goal pursuits: Human needs and the self-determination of behaviour. *Psychological Inquiry, 11*(4), 227–268. https://doi.org/10.1207/S15327965PLI1104_01
- Dewey, J. (1938). *Experience and education*. Macmillan.
- Maslow, A. H. (1954). *Motivation and personality*. Harper & Row.
- Piaget, J. (1970). *Science of education and the psychology of the child*. Orion Press.
- Rogers, C. R. (1969). *Freedom to learn*. Charles E. Merrill.
- Skinner, B. F. (1953). *Science and human behavior*. Free Press.
- Sweller, J., Ayres, P., & Kalyuga, S. (2011). *Cognitive load theory*. Springer. https://doi.org/10.1007/978-1-4419-8126-4
- Vygotsky, L. S. (1978). *Mind in society: The development of higher psychological processes*. Harvard University Press.
- World Health Organization. (2020). *Mental health and well-being in education*. WHO.
- Zimmerman, B. J. (2002). Becoming a self-regulated learner: An overview. *Theory Into Practice, 41*(2), 64–70. https://doi.org/10.1207/s15430421tip4102_2

भारत में आतंकवाद की समस्या, चुनौतियाँ और समाधान

डॉ. अभिषेक कुमार सरोज
असिस्टेंट प्रोफेसर समाजशास्त्र
उदित नारायण पी.जी. कॉलेज पडरौना कुशीनगर।

सारांश –
यह शोधपत्र भारत में आतंकवाद की समस्या के बहुआयामी स्वरूप और उससे निपटने हेतु किए जा रहे प्रयासों का विश्लेषण करता है। इसमें बताया गया है कि आतंकवाद केवल एक सुरक्षा चुनौती नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक असंतुलनों का भी परिणाम है। सरकार ने न्दसूंनिस ।बजपअपजपमे (च्तमअमदजपवद) ।बज में संशोधन, छप्। की सुदृढ़ता, सीमा प्रबंधन, समावेशी विकास योजनाएँ, और समुदाय–आधारित पुलिसिंग जैसे अनेक उपाय किए हैं। साथ ही, काउंटर–रैडिकलाइजेशन, डिजिटल साक्षरता, और न्यायिक सुधार जैसे कदम भी उठाए गए हैं। भविष्य के लिए 'सुरक्षा–विकास–लोकतंत्र' की त्रिवेणी को आधार बनाकर क्षेत्रीय विशिष्टताओं के अनुरूप नीति निर्माण की आवश्यकता बताई गई है। शोध में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आतंकवाद के स्थायी समाधान के लिए सैन्य बल, न्याय व्यवस्था, सामाजिक समावेश और विकास योजनाओं का सम्मिलित दृष्टिकोण अनिवार्य है। जब तक हर नागरिक सुरक्षित और सम्मानित नहीं महसूस करेगा, तब तक आतंकवाद की जड़ें नहीं सूखेंगी।

कुंजीभूत शब्द –आतंकवाद, राष्ट्रीय सुरक्षा, समावेशी विकास, खुफियातंत्र, न्यायिक प्रक्रिया ,काउंटर – रैडिकलाइजेशन, सीमा प्रबंधन, समुदाय–आधारित पुलिसिंग, सूचना–साझाकरण तंत्र तथा लोकतांत्रिक विश्वसनीयता ''

भारत जैसे विशाल और विविधताओं से भरे राष्ट्र के लिए आतंकवाद एक ऐसी चुनौती है, जो न केवल उसकी आंतरिक सुरक्षा को प्रभावित करती है, बल्कि उसकी लोकतांत्रिक बुनियाद को भी हिला देती है। पिछले कुछ दशकों में आतंकवाद के अनेक रूप सामने आए हैंकृधार्मिक कट्टरता, अलगाववाद, उग्र वामपंथ, या बाहरी शक्तियों द्वारा प्रायोजित हिंसा। इन सभी स्वरूपों का उद्देश्य एक ही रहा हैकृजनमानस में भय और अस्थिरता फैलाकर लोकतांत्रिक प्रक्रिया को बाधित करना। आतंकवाद की जड़ें केवल भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं होतीं, बल्कि यह विचारधारा, असमानता और सामाजिक विघटन से भी पोषित होता है।

इस समस्या का समाधान केवल हथियारों या सैन्य बलों से नहीं हो सकता। इसके लिए एक समन्वित और बहुस्तरीय रणनीति की आवश्यकता है, जिसमें सुरक्षा उपायों के साथ–साथ सामाजिक न्याय, शिक्षा, रोजगार और संवाद को भी प्राथमिकता दी जाए। युवाओं को भटकाव से बचाने के लिए उनके भीतर विश्वास, उद्देश्य और अवसर का निर्माण करना जरूरी है। साथ ही, संवैधानिक संस्थाओं की मजबूती, मीडिया की जिम्मेदारी और नागरिक समाज की सतर्क भागीदारी भी इस संघर्ष में निर्णायक भूमिका निभा सकती है।

लोकतंत्र केवल एक राजनीतिक प्रणाली नहीं, बल्कि नागरिकों की साझी चेतना और सक्रिय भागीदारी पर आधारित होता है। यदि हम आतंकवाद को केवल एक सुरक्षा संकट मानकर सीमित प्रतिक्रिया देंगे, तो इसकी जटिलताओं को समझने और सुलझाने में चूक हो सकती है। आवश्यकता है व्यापक, दीर्घकालिक और मानवीय दृष्टिकोण की, जिससे न केवल आतंकवाद का प्रतिकार संभव हो, बल्कि एक शांतिपूर्ण और समावेशी समाज की नींव भी सुदृढ़ हो सके।

भारत में संगठित आतंकवादी गतिविधियों का इतिहास स्वतंत्रता पूर्व काल से जुड़ा हुआ है, किंतु इनकी तीव्रता और संरचना में गहराई से बदलाव स्वतंत्रता के बाद के दशकों में दिखाई देता है। औपनिवेशिक शासन के अंतिम चरण में ब्रिटिश सत्ता के विरोध में कई प्रकार की हिंसात्मक गतिविधियाँ हुईं, जिन्हें आज के परिप्रेक्ष्य में आतंकवाद नहीं, बल्कि स्वतंत्रता संग्राम की उग्र अभिव्यक्तियाँ माना जाता है। स्वतंत्र भारत में आतंकवाद एक भिन्न और जटिल स्वरूप लेकर सामने आया, जिसमें क्षेत्रीय असंतोष, वैचारिक मतभेद, सामाजिक–आर्थिक असमानताएँ और बाहरी हस्तक्षेप जैसी कई शक्तियाँ सक्रिय रूप से जुड़ी रहीं।

1980 के दशक में पंजाब के संदर्भ में जो उग्रवाद पनपा, वह भारतीय लोकतंत्र के लिए पहली गंभीर आतंरिक चुनौती के रूप में उभरा। खालिस्तान की माँग को लेकर चले इस आन्दोलन में हिंसक गतिविधियों, राजनीतिक हत्याओं और नागरिकों पर हमलों ने देश की एकता और सुरक्षा व्यवस्था को गहरे संकट में डाला। यह आन्दोलन न केवल धार्मिक भावनाओं को भड़काकर उकसाया गया, बल्कि इसके पीछे विदेशी ताकतों की प्रत्यक्ष और परोक्ष भूमिका भी मानी जाती रही है। अंततः यह संघर्ष भारी सैन्य बल और रणनीतिक कार्रवाई से नियंत्रित किया गया, लेकिन इसने भारत में आतंकवाद की गहरी जड़ें स्थापित कर दीं।

1990 के दशक में आतंकवाद का केंद्र जम्मू–कश्मीर बन गया, जहाँ पाकिस्तान द्वारा समर्थित घुसपैठियों, आतंकियों और अलगाववादी शक्तियों ने खुलेआम हिंसा का सहारा लिया। स्थानीय जनसंख्या में एक वर्ग को कट्टरपंथी विचारधारा से प्रभावित कर हथियारबंद संघर्ष के लिए प्रेरित किया गया। घाटी में धार्मिक अल्पसंख्यकों का पलायन, बम धमाके, नागरिकों व सुरक्षा बलों पर हमले आम हो गए। यह आतंकवाद न केवल क्षेत्रीय असंतोष पर आधारित था, बल्कि पूरी तरह से एक रणनीतिक सीमा–पार प्रायोजित युद्ध का हिस्सा था, जिसका उद्देश्य भारत की संप्रभुता को कमजोर करना था। पूर्वोत्तर भारत में विद्रोही गतिविधियाँ एक अलग प्रकार के असंतोष से उपजीं। यहाँ के समुदायों ने लंबे समय से केंद्र की उपेक्षा, सांस्कृतिक पहचान के संकट और आर्थिक अवसरों की कमी को लेकर अलगाव की भावना विकसित की। नागालैंड, मणिपुर, असम, त्रिपुरा आदि राज्यों में कई जातीय और क्षेत्रीय समूहों ने हथियार उठाए और भारत सरकार के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष की राह चुनी। इन आंदोलनों ने भी आतंकवाद का रूप लिया और सुरक्षा व्यवस्था के समक्ष गंभीर चुनौतियाँ पेश कीं।

2000 के दशक में वामपंथी उग्रवाद, जिसे माओवादी आंदोलन या नक्सलवाद के नाम से जाना जाता है, देश के आदिवासी–बहुल, खनिज–समृद्ध लेकिन विकास से वंचित क्षेत्रों में फैला। इस आन्दोलन ने गरीबी, विस्थापन, शोषण और प्रशासनिक उपेक्षा के मुद्दों को हथियार बनाकर हिंसा का सहारा लिया। यह आन्दोलन तथाकथित जन–क्रांति के नाम पर सरकार और पुलिस बलों के विरुद्ध खुला युद्ध छेड़े हुए था।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से स्पष्ट है कि भारत में आतंकवाद एकरूपी न होकर समय, क्षेत्र और कारणों के अनुसार विविध रूपों में विकसित हुआ है। इसकी जड़ें न केवल बाहरी हस्तक्षेपों में हैं, बल्कि कहीं न कहीं आंतरिक असंतुलन, उपेक्षा और विफल नीतियों से भी जुड़ी हुई हैं। आतंकवाद के विरुद्ध प्रभावी रणनीति के लिए इसका यह बहुआयामी विश्लेषण अत्यंत आवश्यक है।

आतंकवाद के प्रकार और भौगोलिक वितरण –

भारत में आतंकवाद एक जटिल और बहुआयामी समस्या है, जो देश के विभिन्न भागों में भिन्न–भिन्न रूपों में दिखाई देती है। इसका स्वरूप केवल सीमा–पार प्रायोजित हिंसा तक सीमित नहीं है, बल्कि यह क्षेत्रीय असंतोष, वैचारिक कट्टरता, धार्मिक उग्रवाद, तकनीकी माध्यमों का दुरुपयोग और सामाजिक असंतुलन के रूप में भी उभरता रहा है। भारत के भिन्न क्षेत्रों में आतंकवाद की प्रकृति और उसके कारण अलग–अलग हैं, जिनका विस्तारपूर्वक अध्ययन आवश्यक है।

1. सीमा–पार प्रायोजित आतंकवाद (जम्मू–कश्मीर)–

जम्मू–कश्मीर भारत का सबसे अधिक आतंकवाद–प्रभावित क्षेत्र रहा है, जहाँ पाकिस्तान द्वारा समर्थित आतंकवादी गतिविधियों ने लंबे समय से हिंसा फैलाई है। वर्ष 1989 से अब तक इस क्षेत्र में लगभग 44,000 से अधिक लोगों की जानें जा चुकी हैं। इस आंकड़े के कारण कश्मीर को विश्व के सबसे अधिक सैन्यीकृत क्षेत्रों में गिना जाता है।आतंकवाद की घटनाओं में कमी के बावजूद खतरा पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। इसका उदाहरण हाल ही में 22 अप्रैल 2025 को हुए पहलगाम हत्याकांड से मिलता है, जिसमें 26 निर्दोष नागरिकों की हत्या कर दी गई। इस घटना ने एक बार फिर यह सिद्ध कर दिया कि आतंकवाद की छिटपुट घटनाओं में भी गहरी घातक क्षमता शेष है, जो किसी भी समय बड़ी जनहानि कर सकती है।

2. पूर्वोत्तर भारत के पृथकतावादी विद्रोह –

पूर्वोत्तर भारत के राज्योंकृअरुणाचल प्रदेश, नागालैण्ड, मणिपुर, असम और मेघालयकृमें लंबे समय से पृथकतावादी आंदोलन सक्रिय रहे हैं। ये आंदोलन क्षेत्रीय समुदायों की सांस्कृतिक स्वायत्तता, आर्थिक अधिकारों, और कभी–कभी पूर्ण स्वतंत्रता की मांग पर आधारित हैं। इन क्षेत्रों में कई सशस्त्र गुट दशकों तक सरकार के खिलाफ संघर्षरत रहे। हालाँकि, 2015 के बाद शांति वार्ताओं और समझौतों की एक श्रृंखला से हिंसा में उल्लेखनीय कमी आई है। फिर भी, कुछ गुट अब भी हथियारबंद हैं और पूर्ण शांति की प्रक्रिया अभी अधूरी है। सीमावर्ती भौगोलिक स्थिति और जातीय विविधता यहाँ की संवेदनशीलता को और बढ़ा देती है।

3. वामपंथी उग्रवाद (नक्सलवाद / माओवादी आंदोलन)–

वामपंथी उग्रवाद, जिसे आमतौर पर नक्सलवाद कहा जाता है, मुख्यतः आदिवासी और पिछड़े इलाकों में फैला रहा है। यह आंदोलन उन क्षेत्रों में पनपा जहाँ विकास की गति धीमी रही, और स्थानीय समुदायों को प्रशासन व पूंजीपतियों द्वारा उपेक्षा एवं शोषण का सामना करना पड़ा। 2010 के बाद, भारत सरकार ने इस समस्या से निपटने के लिए 'सुरक्षा और विकास की दोहरी रणनीति' अपनाई, जिसके अंतर्गत एक ओर सैन्य कार्रवाई की गई और दूसरी ओर विकास योजनाओं को तेजी से लागू किया गया। इसके परिणामस्वरूप, 2013 की तुलना में 2025 तक माओवादी घटनाओं में लगभग 70 प्रतिशत की कमी दर्ज की गई है। फिर भी, कुछ इलाकों में माओवादी प्रभाव शेष है, जहाँ प्रशासन की उपस्थिति अभी भी सीमित है।

4. धार्मिक और वैचारिक चरमपंथ–

धार्मिक कट्टरता भारत में आतंकवाद के एक और स्वरूप के रूप में सामने आई है। विशेषकर इस्लामी चरमपंथ, जो विदेशी संगठनों जैसे आई.एस., अल–कायदा आदि से प्रेरित है, कुछ क्षेत्रों में स्लीपर सेल नेटवर्क के माध्यम से सक्रिय रहता है। ये स्लीपर सेल लंबे समय तक शांत रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर अचानक हमले करते हैं। इसके अलावा, देश में धार्मिक ध्रुवीकरण और सांप्रदायिक तनाव भी उग्रवाद को बढ़ावा देते हैं। कुछ अवसरों पर दक्षिणपंथी उग्रवादी कृत्य भी सामने आए हैं, जो सामाजिक सौहार्द और राष्ट्रीय एकता के लिए चुनौती बने हैं। वैचारिक उग्रवाद केवल हिंसात्मक रूप में नहीं, बल्कि सांस्कृतिक आक्रमण और मनोवैज्ञानिक प्रचार के रूप में भी उभरता है।

5. साइबर–आतंकवाद और नई तकनीकों का दुरुपयोग–

वर्तमान समय में आतंकवाद ने तकनीक का नया रूप धारण कर लिया है। अब यह केवल बंदूक और बम तक सीमित नहीं रहा, बल्कि साइबर माध्यमों, सोशल मीडिया, क्रिप्टो करेंसी, और ड्रोन तकनीक जैसे आधुनिक साधनों का उपयोग करके आतंकवादी गतिविधियाँ संचालित की जा रही हैं।

- ड्रोन के माध्यम से हथियारों की तस्करी सीमावर्ती क्षेत्रों में सुरक्षा एजेंसियों के लिए नई चुनौती बन चुकी है।

- क्रिप्टोकरेंसी का प्रयोग फंडिंग के लिए हो रहा है जिससे ट्रांजेक्शन ट्रेस करना कठिन होता है।
- सोशल मीडिया रैडिकलाइजेशन के जरिए युवाओं को चरमपंथी विचारधाराओं की ओर आकर्षित किया जा रहा है।
- डीपफेक तकनीक से झूठे वीडियो बनाकर नफरत फैलाने और भ्रम उत्पन्न करने के प्रयास किए जा रहे हैं। इस तरह, आतंकवाद की प्रकृति पहले की तुलना में अधिक परिष्कृत और व्यापक होती जा रही है, जिससे इसके विरुद्ध लड़ाई और अधिक चुनौतीपूर्ण बन चुकी हैस

प्रमुख चुनौतियां –

भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश के लिए आतंकवाद केवल एक सुरक्षा संकट नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक, कानूनी और तकनीकी स्तर पर भी गंभीर चुनौतियाँ प्रस्तुत करता है। आतंकवादी गतिविधियाँ न केवल लोगों की जान और संपत्ति को नुकसान पहुँचाती हैं, बल्कि देश के विकास और एकता के रास्ते में भी कई बाधाएँ खड़ी करती हैं। निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से हम समझ सकते हैं कि आतंकवाद भारत के सामने किस–किस प्रकार की चुनौतियाँ उत्पन्न कर रहा हैः

1. राष्ट्रीय और आंतरिक सुरक्षा पर खतरा –

आतंकवादी अक्सर उन जगहों को निशाना बनाते हैं जो देश के लिए रणनीतिक रूप से महत्वपूर्ण होते हैं, जैसेकृहाइवे, हवाई अड्डे, रेलवे स्टेशन, पुल, ऊर्जा संयंत्र आदि। ऐसे हमलों का उद्देश्य सिर्फ जान–माल की हानि नहीं होता, बल्कि वे सरकार की ताकत और नियंत्रण को चुनौती देने का माध्यम भी होते हैं। इसके कारण सुरक्षा बलों को हर समय अलर्ट रहना पड़ता है, जिससे उन पर भारी मानसिक और संसाधनगत दबाव बनता है।

2. सामाजिक और सांस्कृतिक ताने–बाने में दरार –

आतंकवाद का एक छिपा हुआ लेकिन बहुत खतरनाक पहलू यह है कि यह समाज के अंदर भय, अविश्वास और आपसी नफरत फैलाता है। जब बार–बार किसी विशेष धर्म या समुदाय के नाम पर हिंसा होती है, तो समाज में आपसी रिश्ते कमजोर होने लगते हैं। आतंकवादी संगठनों द्वारा सोशल मीडिया या अन्य माध्यमों से फैलाए गए झूठे प्रचार (प्रोपेगैंडा) के कारण साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण बढ़ता है, जिससे सामाजिक सद्भाव को बनाए रखना कठिन हो जाता है।

3. मानवाधिकार और नागरिक स्वतंत्रताओं पर प्रभाव –

जब आतंकवाद बढ़ता है, तो सरकारें कड़े कानून बनाती हैं, जैसे—UAPA (Unlawful Activities Prevention Act)। ऐसे कानूनों का उद्देश्य आतंकियों पर सख्ती करना होता है, लेकिन कई बार निर्दोष लोग भी इनकी चपेट में आ जाते हैं। लम्बी कानूनी प्रक्रिया, कठोर जमानत नियम और व्यापक पुलिस अधिकार नागरिकों की आजादी और मौलिक अधिकारों पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करते हैं। इससे लोकतांत्रिक मूल्यों को भी नुकसान पहुँच सकता है।

4. आर्थिक विकास में बाधा –

आतंकवाद का सीधा असर देश के आर्थिक विकास पर भी पड़ता है। कोई भी उद्योगपति या निवेशक असुरक्षित क्षेत्रों में अपना पैसा लगाने से कतराता है। उदाहरण के लिए, जम्मू–कश्मीर में 1990 से 2010 तक पर्यटन से होने वाली आय में 75 प्रतिशत तक की गिरावट दर्ज की गई। इसी तरह, पूर्वोत्तर भारत में भी लम्बे समय तक जारी हिंसा के कारण उद्योग और व्यापार का विकास बहुत सीमित रहा। पर्यटन, निवेश और रोजगार के अवसरों पर इसका सीधा असर होता है।

5. तकनीक से जुड़ी नई चुनौतियाँ –

आज के समय में आतंकवाद पहले से कहीं ज्यादा तकनीकी रूप से सक्षम हो चुका है। अब आतंकवादी पारंपरिक हथियारों के साथ–साथ ड्रोन, रिमोट–नियंत्रित बम, और सोशल मीडिया का इस्तेमाल करते हैं। ड्रोन के जरिए सीमाओं पर हथियार और विस्फोटक गिराए जाते हैं। एन्क्रिप्टेड चौट एप्स (जैसे– Signal, Telegram आदि) के कारण सुरक्षा एजेंसियों के लिए संदिग्धों की बातचीत को ट्रैक करना कठिन होता जा रहा है। इसके अलावा, फेक न्यूज और डीपफेक वीडियो के जरिए समाज में भ्रम और नफरत फैलाना आसान हो गया है।

सरकारी एवं संस्थागत प्रयास–

भारत एक लंबे समय से आतंकवाद जैसी जटिल और बहुआयामी चुनौती का सामना करता आ रहा है। इस समस्या से निपटने के लिए सरकार और विभिन्न संस्थानों ने कई स्तरों पर व्यापक प्रयास किए हैंकृ कानून, सुरक्षा एजेंसियाँ, तकनीकी संसाधन, विकास योजनाएँ, जन–भागीदारी और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग इन सभी मोर्चों पर योजनाबद्ध कार्रवाई की गई है। इन प्रयासों का उद्देश्य आतंकवाद की जड़ों को काटना, हिंसा को रोकना, समाज में विश्वास बहाल करना और सीमाओं को सुरक्षित बनाना है। नीचे इन सरकारी एवं संस्थागत प्रयासों को सरल और विस्तार से समझाया गया हैः

1. कानूनी ढांचा – कठोर कानूनों के माध्यम से कार्रवाई–

भारत में आतंकवाद से लड़ने के लिए मजबूत कानून व्यवस्था तैयार की गई है। Unlawful Activities (Prevention) Act, 1967 (UAPA) एक प्रमुख कानून है जिसे कई बार संशोधित किया गया है। 2019 के संशोधन में एक बड़ा बदलाव यह हुआ कि अब किसी व्यक्ति को भी, न कि केवल संगठनों को, ''आतंकवादी'' घोषित किया जा सकता है। इससे जांच एजेंसियों को सीधे कार्यवाही करने की सुविधा मिली है हालांकि, इस कानून की कठोर धाराओं को लेकर मानवाधिकार संगठनों और नागरिक स्वतंत्रता से जुड़ी संस्थाओं द्वारा चिंता भी व्यक्त की गई है, क्योंकि इसमें जमानत कठिन है और न्यायिक प्रक्रिया लंबी हो सकती है। फिर भी आतंक से निपटने के लिए यह कानून एक शक्तिशाली उपकरण माना गया है।

2. राष्ट्रीय जांच एजेंसी (NIA) – जांच में दक्षता का प्रतीक–

भारत में आतंकवादी मामलों की जांच के लिए राष्ट्रीय जांच एजेंसी (NIA) को प्रमुख संस्था के रूप में स्थापित किया गया है। यह एजेंसी गंभीर आतंकी मामलों की जांच करती है और पूरे देश में अपने अधिकार क्षेत्र का प्रयोग कर सकती है। 2024 में NIA द्वारा दर्ज 25 प्रमुख मामलों में 100 प्रतिशत दोषसिद्धि एक उल्लेखनीय उपलब्धि रही, जो इस बात का संकेत है कि एजेंसी ने सबूत इकट्ठा करने, पेश करने और मुकदमा चलाने के मामलों में उच्च स्तर की दक्षता दिखाई है। इससे आम जनता का विश्वास भी बढ़ा है और आतंकवादियों को कानूनी रूप से सजा दिलाना संभव हुआ है।

3. सीमा प्रबंधन और तकनीकी उन्नयन – सुरक्षा की पहली दीवार–

सीमा पार से होने वाली घुसपैठ और हथियारों की तस्करी आतंकवाद का बड़ा स्रोत है। इसे रोकने के लिए सरकार ने सीमा प्रबंधन (Border Management) पर विशेष ध्यान दिया है।

प्रमुख उपायों में शामिल हैंः

- एकीकृत सीमा चौकियाँ (Integrated Border Outposts)
- स्मार्ट फेंसिंग और ड्रोन–रोधी तकनीकें
- 'C4I2SR* सिस्टम की स्थापना, जिसमें कमांड, कंट्रोल, कम्युनिकेशन, कंप्यूटर, इंटेलिजेंस, इंफॉर्मेशन, सर्विलांस और रिकनैसेंस का समावेश है।

इन तकनीकों के जरिए सीमा पर निगरानी की क्षमता बढ़ी है और आतंकवादियों की घुसपैठ को रोकने में मदद मिली है।

4. समावेशी विकास कार्यक्रम – हिंसा के मूल कारणों पर प्रहार –

आतंकवाद और उग्रवाद अक्सर सामाजिक–आर्थिक पिछड़ेपन से जुड़ा होता है। सरकार ने उन क्षेत्रों पर विशेष ध्यान दिया है जो विकास से वंचित थे और जहाँ माओवादी या अलगाववादी गतिविधियाँ अधिक थीं। कुछ प्रमुख योजनाएँ हैं:

- अस्पिरेशनल डिस्ट्रिक्ट्स कार्यक्रम, जो देश के सबसे पिछड़े जिलों में शिक्षा, स्वास्थ्य और आजीविका के स्तर को सुधारने का प्रयास करता है।
- प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, जिससे सुदूरवर्ती क्षेत्रों को मुख्यधारा से जोड़ा गया।
- राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन, जिससे गाँवों में स्वरोजगार और महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा मिला।

इन योजनाओं से लोगों को सरकार के प्रति भरोसा बढ़ा और आतंकवाद के प्रति सहानुभूति कम हुई।

5. समुदाय आधारित पुलिसिंग दृ जनता का विश्वास जीतना –

जहाँ सरकार और पुलिस नागरिकों के साथ संवाद बनाती है, वहाँ आतंकवाद के विरुद्ध माहौल अपने आप बनता है। कश्मीर में ''ऑपरेशन सद्भावना'' जैसे प्रयासों के माध्यम से सुरक्षा बलों ने वहाँ के युवाओं के साथ संवाद, शिक्षा, खेल और रोजगार से जुड़े कार्यक्रम चलाए हैं। इसी तरह, छत्तीसगढ़ में ''पुलिस–संग संवाद'' के जरिए माओवादी क्षेत्रों में आम जनता और पुलिस के बीच दूरी कम करने की कोशिश की गई है। यह रणनीति ''बल से नहीं, भरोसे से'' आधारित है, जो दीर्घकालिक रूप से अधिक प्रभावी साबित होती है।

6. अंतर्राष्ट्रीय सहयोग – वैश्विक प्रयासों का हिस्सा–

भारत ने आतंकवाद से लड़ने के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सक्रिय भूमिका निभाई है।

- FATF (Financial Action Task Force) के दिशानिर्देशों का पालन करते हुए टेरर फंडिंग की सख्त निगरानी की जा रही है।
- संयुक्त राष्ट्र के 1267 संकल्प के तहत भारत ने आतंकवादी संगठनों और व्यक्तियों को वैश्विक प्रतिबंध सूची में शामिल करवाने में सफलता पाई है।
- 'क्वाड–काउंटर–टेररिज्म वर्किंग ग्रुप' जैसे मंचों पर अमेरिका, जापान और ऑस्ट्रेलिया के साथ भारत आतंकवाद–निरोधक सहयोग को और मजबूत बना रहा है।

इन प्रयासों से वैश्विक आतंकवाद के खिलाफ एक साझा रणनीति तैयार करने में भारत की भूमिका सशक्त हुई है।

आतंकवाद के समाधान हेतु बहुआयामी दृष्टिकोण –

भारत जैसे विशाल और विविध सामाजिक–भौगोलिक देश के सामने आतंकवाद एक बहुस्तरीय चुनौती है। इसे केवल सैन्य बल से नहीं, बल्कि एक समग्र रणनीति से ही प्रभावी ढंग से नियंत्रित किया जा सकता

है। यह रणनीति न केवल सुरक्षा–केन्द्रित होनी चाहिए, बल्कि सामाजिक न्याय, आर्थिक विकास, तकनीकी दक्षता और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग पर भी आधारित होनी चाहिए। नीचे इस बहुआयामी समाधान–दृष्टि को छह मुख्य आयामों में सरल शब्दों में समझाया गया है:

1. सख्त सुरक्षा और खुफिया समन्वय–

- आतंकवाद से निपटने के लिए मजबूत खुफिया तंत्र जरूरी है। इसके लिए देश में 'रियल–टाइम इंटेलिजेंस फ्यूजन सेंटर' जैसे प्लेटफॉर्म विकसित किए जा रहे हैं, जहाँ विभिन्न एजेंसियों की सूचनाएँ एक साथ मिलती हैं और त्वरित कार्रवाई संभव होती है।
- ड्रोन के जरिए हमलों को रोकने के लिए ड्रोन–जामिंग तकनीक और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के माध्यम से संदिग्ध गतिविधियों का विश्लेषण किया जा रहा है।
- सीमा–पार आतंकी लॉन्च–पैड्स की पूर्व–निगरानी (pre&emptive surveillance) से आतंकी घुसपैठ को रोका जा सकता है। साथ ही जंगल और पहाड़ी इलाकों में मोबाइल संचार नेटवर्क स्थापित कर सुरक्षाबलों की दक्षता बढ़ाई जा रही है।

2. विकास, सशक्तिकरण और सम्मान का त्रिकोण –

- माओवादी और दूरस्थ क्षेत्रों में हिंसा तभी घटेगी जब वहाँ सड़क, बिजली, इंटरनेट और स्वास्थ्य सेवाओं की पहुंच होगी। ब्रॉडबैंड कनेक्टिविटी, ई–गवर्नेंस, और मोबाइल स्वास्थ्य सेवाओं से युवाओं को मुख्यधारा से जोड़ा जा सकता है।
- कश्मीर और पूर्वोत्तर भारत में पर्यटन के पुनरोत्थान के लिए होम–स्टे क्लस्टर, स्थानीय हस्तशिल्प की ई–मार्केटिंग और लोकल गाइड ट्रेनिंग जैसे प्रयासों से स्थानीय लोगों को सीधे आर्थिक लाभ पहुँचाया जा रहा है, जिससे उनकी संतुष्टि और सुरक्षा बलों के प्रति सहयोग भी बढ़ता है।

3. काउंटर–रैडिकलाइजेशन और शिक्षा के माध्यम से रोकथाम–

- कट्टरपंथ से बचाव के लिए शिक्षा में सुधार जरूरी है। मदरसों में आधुनिक विषयों को शामिल करना, करियर काउंसलिंग, और समुदाय के धार्मिक व सामाजिक नेताओं से संवाद जैसे उपाय युवाओं को भटकाव से बचा सकते हैं।
- ऑनलाइन नफरत फैलाने वाले कंटेंट के खिलाफ डिजिटल साक्षरता बढ़ाई जा रही है ताकि लोग झूठे प्रचार का शिकार न हों।
- जेलों में बंद कैदियों के लिए 'डि–रेडिकलाइजेशन मॉड्यूल' तैयार किए गए हैं, जिसमें मनोवैज्ञानिक सलाह, रोजगार प्रशिक्षण और पुनर्वास कार्यक्रम शामिल होते हैं।

4. मीडिया और सोशल मीडिया का प्रबंधन–

- आतंकवादी घटनाओं की जिम्मेदार रिपोर्टिंग बहुत जरूरी है। इसके लिए 'टेरर–इंसीडेंट एडवाइजरी प्रोटोकॉल' जैसे दिशानिर्देश बनाए जा रहे हैं, ताकि मीडिया भय और सनसनी फैलाने से बचे और तथ्यात्मक जानकारी ही प्रसारित करे।
- सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म्स के साथ मिलकर रेड–फ्लैग प्रणाली और स्वैच्छिक कंटेंट टेकडाउन सिस्टम विकसित किए जा रहे हैं, जिससे नफरत या आतंकवाद से संबंधित सामग्री को तुरंत हटाया जा सके।

5. कानूनी और न्यायिक संतुलन–

- आतंकवाद से जुड़े मुकदमों का शीघ्र निपटारा जरूरी है। इसके लिए राष्ट्रीय जांच एजेंसी (NIA) और विशेष अदालतों की संख्या बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है, ताकि मामलों का निपटारा एक–दो साल के भीतर हो सके।
- UAPA जैसे कठोर कानूनों में 'न्यायिक समीक्षा' (Periodic Judicial Review) का प्रावधान लाया जा रहा है, जिससे लम्बी हिरासत का दुरुपयोग रोका जा सके और निर्दोष लोगों के अधिकारों की रक्षा हो।

6. क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग–

- भारत अपने पड़ोसी और क्षेत्रीय देशों के साथ आतंकवाद के खिलाफ सहयोग बढ़ा रहा है।
- BIMSTEC देशों के साथ समुद्री सुरक्षा अभ्यास किए जा रहे हैं।
- SAARC के माध्यम से टेरर फंडिंग ट्रैकिंग का तंत्र विकसित किया जा रहा है।
- SCO (Shanghai Cooperation Organisation) के 'रिजनल एंटी टेरर स्ट्रक्चर' (RATS) में भारत आतंकी गतिविधियों से संबंधित डेटा साझा करता है और वैश्विक आतंक–निरोधक प्रणाली को मजबूत करता है।

नीतिगत सुधार एवं भविष्य की दिशा–

भारत में आतंकवाद विरोधी रणनीति को दीर्घकालिक सफलता तभी मिल सकती है जब वह केवल दमनात्मक न होकर समग्र और संवेदनशील दृष्टिकोण पर आधारित हो। इस दिशा में नीति–निर्माण को ''सुरक्षा, विकास और लोकतंत्र'' के त्रिसूत्रीय सिद्धांत पर केंद्रित करना होगा। आतंक प्रभावित क्षेत्रों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक विविधता और आर्थिक चुनौतियाँ अलग–अलग हैंय अतः वहाँ के समाधान भी स्थान–सापेक्ष, लचीले और स्थानीय भागीदारी पर आधारित होने चाहिए। इसके लिए सरकार की विभिन्न इकाइयों जैसे गृह मंत्रालय, वित्त मंत्रालय, संचार मंत्रालय, शिक्षा मंत्रालय, जनजातीय कार्य मंत्रालय तथा अल्पसंख्यक मामलों के मंत्रालय को एक–दूसरे से तालमेल बनाकर कार्य करना होगा। 'ऑल ऑफ गवर्नमेंट अप्रोच' के अंतर्गत डाटा–साझेदारी, संयुक्त विकास परियोजनाएं, और संवेदनशील प्रशासनिक ढांचे को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त एक राष्ट्रीय आतंकवाद निरोधक नीति की आवश्यकता है, जो SMART (pecific] Measurable] Achievable] Realistic] Time&bound) सिद्धांतों पर आधारित हो। इस नीति के अंतर्गत प्रत्येक वर्ष स्वतंत्र निगरानी एवं ऑडिट द्वारा कार्यों की प्रगति की समीक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। पारदर्शिता और उत्तरदायित्व न केवल लोकतांत्रिक संस्थाओं की विश्वसनीयता को बढ़ाते हैं, बल्कि आम नागरिक का विश्वास भी सुदृढ़ करते हैं। इस नीति ढांचे में मानवाधिकार, न्याय प्रक्रिया की निष्पक्षता, और स्थानीय समुदायों की सहभागिता भी सुनिश्चित की जानी चाहिए, जिससे आतंकवाद की जड़ों को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक रूप से निष्प्रभावी किया जा सके।

निष्कर्ष– भारत में आतंकवाद की उपस्थिति विभिन्न भू–क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न कारणों से देखी गई है – कहीं यह सीमा–पार प्रायोजित रहा, तो कहीं आंतरिक वैचारिक असंतोष या फिर विकास की कमी इसका कारण बनी। बावजूद इसके, आतंकवाद का प्रभाव सर्वत्र एक जैसा रहाकृनिर्दोष नागरिकों की जान–माल की क्षति, सामाजिक अस्थिरता, विकास में बाधा और लोकतांत्रिक मूल्यों को सीधी चुनौती। पिछले वर्षों में भारत

की सुरक्षा एजेंसियों, न्यायिक सुधारों, और केंद्र–राज्य समन्वय की बदौलत आतंकवादी घटनाओं में कमी देखी गई है। कई क्षेत्रों में माओवादी प्रभाव घटा है, और जम्मू–कश्मीर सहित पूर्वोत्तर राज्यों में भी स्थिरता की प्रक्रिया प्रगति पर है। हालांकि, समय–समय पर होने वाले छिटपुट हमले यह संकेत देते हैं कि खतरा पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ है और एक अस्थायी सफलता को स्थायी समाधान के रूप में नहीं देखा जा सकता।इस चुनौती का समाधान केवल सैन्य कार्रवाई या कड़े कानूनों तक सीमित नहीं होना चाहिए। आतंकवाद से लड़ने के लिए एक बहु–आयामी दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसमें सुरक्षा बलों की दक्षता, न्याय प्रणाली की निष्पक्षता, समावेशी विकास, और सामाजिक सौहार्द सभी एक साथ कार्य करें। जब तक भारत का हर नागरिककृचाहे वह सीमावर्ती गाँव में रहता हो
या किसी महानगर मेंकृस्वयं को सुरक्षित, सम्मानित और भविष्य की संभावनाओं से जुड़ा हुआ नहीं महसूस करता, तब तक आतंकवाद की जड़ें समाप्त नहीं हो सकतीं।

अतः आवश्यक है कि राष्ट्र की सुरक्षा नीति मानवता की संवेदना के साथ आगे बढ़े। यह संतुलन ही भारत को न केवल आतंरिक स्थिरता देगा, बल्कि उसे वैश्विक पटल पर एक जिम्मेदार और सशक्त लोकतंत्र के रूप में स्थापित भी करेगा। 'अमन–ए–हिंद' का स्वप्न तभी यथार्थ बनेगा जब सुरक्षा और समावेशन, दोनों समान रूप से हमारे नीति निर्माण का हिस्सा होंगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1. प्रमोद कुमार (2017), राष्ट्रीय सुरक्षा और आतंकवाद, भारतीय सामाजिक अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली, पृ. 112–130।
2. सिंह, ए.के. (2019), आतंकवाद और भारतीय राज्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 89–104।
3. भाटिया आर.एस. (2018), भारत की आंतरिक सुरक्षा चुनौतियाँ, पब्लिक अफेयर्स फाउंडेशन, नई दिल्ली, पृ. 56–78।
4. शुक्ला नीलम (2020), आतंकवादः कारण और समाधान, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पृ. 141–158।
5. द्विवेदी जितेंद्र (2021), Unlawful Activities (Prevention) Act एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, लीगल इंडिया पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ. 65–81
6. मेहता कविता(2016), समावेशी विकास और सुरक्षा का द्वंद्व, राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान, हैदराबाद, पृ. 97–115।
7. अरविंद ठाकुर (2015), आधुनिक भारत में आंतरिक संघर्ष, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (हिंदी संस्करण), नई दिल्ली, पृ. 203–221।

JSECR, Vol. 11, No. 22, Jan.-June, 2025 ISSN : 2394-2878
Peer Reviewed Journal, Impact Factor: 9.0 (IIFS)

प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना का ग्रामीण महिलाओं के सामाजिक–आर्थिक सशक्तिकरण पर प्रभाव

(वाराणसी के कोरौता माधोपुर गाँव का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन)

डॉ. हसन बानो
एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग,
डी. ए. वी. पी. जी. कॉलेज,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
ईमेल आइडी – drhasansocio@gmail.com

सारांश –
यह अध्ययन वाराणसी के कोरौता माधोपुर गाँव में प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना का महिलाओं के स्वास्थ्य, समय के उपयोग और जीवन की गुणवत्ता पर पड़ने वाले प्रभाव का समालोचनात्मक मूल्यांकन करता है। PMUY, गरीब परिवारों को मुफ्त एलपीजी कनेक्शन प्रदान करने की एक प्रमुख योजना है, जिसका लक्ष्य पारंपरिक खाना पकाने के ईंधन से जुड़े स्वास्थ्य जोखिमों और महिलाओं के श्रम को कम करना है। वर्णनात्मक अनुसंधान डिजाइन का उपयोग करते हुए, गाँव की 50 PMUY महिला लाभार्थियों के एक नमूने से संरचित साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से प्राथमिक डेटा एकत्र किया गया। शोध एलपीजी अपनाने और रिफिल खपत की दर, महिलाओं के स्वास्थ्य में परिवर्तन (विशेषकर श्वसन और आँखों से संबंधित समस्याओं में), और जलावन लकड़ी इकट्ठा करने में बचाये गए समय जैसे प्रमुख संकेतकों पर केंद्रित है। प्रारंभिक निष्कर्ष बताते हैं कि एलपीजी कनेक्शन अपनाने की प्रारंभिक दर काफी उच्च है। हालाँकि, अध्ययन एलपीजी के निरंतर उपयोग में एक महत्वपूर्ण चुनौती को उजागर करता है, जहाँ अधिकांश उत्तरदाता मुख्य रूप से सिलेंडर रिफिल की उच्च लागत के कारण अभी भी ईंधन स्टैकिंग (ईंधन का दोहरा उपयोग, जैसे एलपीजी के साथ लकड़ी) का अभ्यास कर रही हैं। इसके बावजूद, लाभार्थियों ने घर के धुएँ में उल्लेखनीय कमी और श्वसन स्वास्थ्य में अनुभवजन्य सुधार की सूचना दी। महत्वपूर्ण रूप से, इस योजना से औसतन प्रतिदिन एक घंटे का समय बचा, जिसका उपयोग कुछ महिलाओं ने आराम, बच्चों की देखभाल, या छोटे, आय–सृजन करने वाले कार्यों में किया। यह शोध पत्र निष्कर्ष निकालता है कि PMUY ने स्वच्छ खाना पकाने के ईंधन की ओर बदलाव की सफलतापूर्वक शुरुआत की है और तत्काल स्वास्थ्य तथा सुविधा संबंधी लाभ प्रदान किए हैं, लेकिन इसकी दीर्घकालिक सफलता सुनिश्चित करने के लिए एलपीजी रिफिल की सामर्थ्यता को संबोधित करने और दूर–दराज के ग्रामीण क्षेत्रों में आपूर्ति श्रृंखला को मजबूत करने हेतु लक्षित नीतिगत हस्तक्षेप की आवश्यकता है।

सार शब्द - प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना, स्वच्छ खाना पकाने का ईंधन, स्वास्थ्य प्रभाव, समय की कमी, ईंधन स्टैकिंग, ग्रामीण महिलाएँ, सशक्तीकरण ।

प्रस्तावना

प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना (PMUY) भारत सरकार द्वारा मई 2016 में आरंभ की गई एक परिवर्तनकारी सामाजिक कल्याणकारी पहल रही है, जिसने विशेष रूप से ग्रामीण एवं निम्न–आय वर्ग की महिलाओं को स्वच्छ और सुरक्षित खाना पकाने के ईंधन तक पहुँच प्रदान कर उन्हें सशक्त बनाने का लक्ष्य रखा था। योजना का प्राथमिक उद्देश्य था– घरेलू वायु प्रदूषण से उत्पन्न स्वास्थ्य जोखिमों को घटाना, महिलाओं की श्रम–समय व्यय में कमी लाना, तथा पारंपरिक ईंधन प्रणालियों से होने वाले पर्यावरणीय नुकसान को कम करना। इस योजना के अंतर्गत पात्र परिवारों को निःशुल्क एलपीजी कनेक्शन उपलब्ध कराया गया, जिससे भारत में स्वच्छ ऊर्जा की पहुँच लगभग सार्वभौमिक हो गई। हालाँकि, सात वर्षों बाद के राष्ट्रीय डेटा एक जटिल वास्तविकता को उजागर करते हैं। ग्रामीण भारत में ईंधन स्टैकिंग अर्थात् स्वच्छ ईंधन और पारंपरिक ईंधन का संयुक्त उपयोग व्यापक रूप से देखा जाता है। यह व्यवहार ऊर्जा उपयोग की सामाजिक–आर्थिक जटिलताओं को

रेखांकित करता है, जहाँ एलपीजी की वहनीयता, पुनः भराई लागत, वितरण नेटवर्क की दूरी, और स्थानीय ऊर्जा आदतें योजना के लक्ष्य को सीमित करती हैं। परिणामस्वरूप, उज्ज्वला योजना द्वारा घोषित स्वास्थ्य लाभ और पर्यावरणीय सुधार अपेक्षित स्तर पर नहीं प्राप्त हो सके हैं। ग्रामीण स्वास्थ्य केंद्रों के आंकड़े बताते हैं कि श्वसन रोग, उच्च रक्तचाप, और आंखों में जलन जैसी समस्याएँ अब भी उच्च दरों पर पाई जाती हैं– इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वच्छ ईंधन तक पहुँच अपने आप में व्यवहार परिवर्तन या सतत उपयोग में परिणत नहीं हो सकी है।

इस पृष्ठभूमि में, कोरौता माधोपुर (वाराणसी) में प्रस्तावित अध्ययन ग्रामीण उपभोक्ताओं की वास्तविक ऊर्जा उपयोग प्रथाओं, योजना से संबंधित आर्थिक वहनीयता, वितरण श्रृंखला की स्थिरता, और सामाजिक स्वीकृति में विविधताओं को समझने का प्रयास करेगा। प्रस्तुत अध्ययन के अंतर्गत निम्नलिखित तीन आधार बिंदुओं को ध्यान में रखकर प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना के प्रभाव का विश्लेषण किया गया है।

1. यह जाँचना कि उज्ज्वला योजना के तहत लाभार्थी कितने नियमित रूप से एलपीजी सिलेंडर का उपयोग कर रहे हैं और किस स्तर पर पारंपरिक ईंधन का सह–प्रयोग जारी है।
2. यह विश्लेषण करना कि लक्षित सब्सिडी वृद्धि (₹300) और छोटे 5 किलोग्राम सिलेंडरों के प्रयोग को प्रोत्साहित करने वाले हालिया सुधारों ने ईंधन स्टैकिंग में कितनी कमी लाई है।
3. यह मूल्यांकन करना कि क्या समय की बचत, बेहतर स्वास्थ्य स्थिति, और सामाजिक सुविधा जैसे कल्याणकारी परिणाम वास्तव में स्थानीय स्तर पर अनुभव किए जा रहे हैं।

कार्यप्रणाली के तहत, अध्ययन में मिश्रित विधि का प्रयोग किया गया है, जहाँ परिमाणात्मक सर्वेक्षण से 50 लाभार्थी परिवारों के डेटा एकत्र किए गए तथा गुणात्मक साक्षात्कार द्वारा अनुभवजन्य सूचनाएँ संकलित की गईं । विश्लेषण में सामाजिक वर्ग, आय स्तर, शिक्षा, परिवार संरचना, और लैंगिक भूमिका जैसे घटकों के आधार पर विश्लेषण किया गया। अध्ययन का सैद्धांतिक आधार "ऊर्जा न्याय" और "लैंगिक सशक्तिकरण" के दृष्टिकोणों पर आधारित है, जो यह समझने में मदद करता है कि स्वच्छ ऊर्जा तक पहुँच किस प्रकार समानता और कल्याण को व्यवहार में रूपांतरित करती है। इसके अतिरिक्त, अनुसंधान यह भी विश्लेषित करता है कि क्या योजना के स्थानीय क्रियान्वयन में सरकारी एजेंसियों, निजी वितरकों और सामुदायिक नेटवर्क के बीच समन्वय पर्याप्त रहा है या नहीं। ग्रामीण क्षेत्र में ईंधन वितरण की दूरी, सिलेंडर उपलब्धता, और रीफिल नीति का प्रभाव भी विश्लेषण में शामिल किया गया है। अध्ययन यह संकेत देता कि महिलाएँ एलपीजी उपयोग से कितनी समय बचत करती हैं और उस बचाए हुए समय को शिक्षा, आय अर्जन या अन्य सामाजिक क्रियाओं में किस हद तक निवेश कर रही हैं। इसके निष्कर्ष उज्ज्वला योजना के "पहुँच से उपयोग" और "उपयोग से सतत कल्याण" तक के संक्रमण की वास्तविकता को परिभाषित करते हैं। नतीजे नीति निर्माताओं के लिए यह समझने में सहायक होंगे कि स्वच्छ ऊर्जा के लिए सिर्फ अधोसंरचनात्मक पहुँच नहीं, बल्कि निरंतर उपयोग को प्रोत्साहित करने हेतु व्यवहारिक प्रोत्साहन एवं आर्थिक सुरक्षा तंत्र भी आवश्यक हैं।

अंततः यह शोध ग्रामीण भारत के लिए ऐसी स्थायित्वशील ऊर्जा नीति के निर्माण की दिशा में ठोस सिफारिशें प्रदान करता है जो स्थानीय सामाजिक, आर्थिक और व्यवहारिक सम्बंधों को ध्यान में रखे। अध्ययन सतत विकास लक्ष्यों, विशेषतः लक्ष्य 7 ("सभी के लिए सस्ती और स्वच्छ ऊर्जा") तथा लक्ष्य 3 ("सभी के लिए अच्छे स्वास्थ्य और कल्याण") के स्थानीय कार्यान्वयन पर एक ठोस शैक्षणिक योगदान प्रस्तुत करेगा। इस प्रकार यह कार्य उज्ज्वला योजना के वास्तविक प्रभावों, सीमाओं, और संभावित सुधारों का गहन विश्लेषण प्रदान करते हुए ग्रामीण ऊर्जा नीति और लैंगिक न्याय पर विकास अध्ययन की दिशा में एक निर्णायक शोध हस्तक्षेप साबित होगा।

साहित्य समीक्षा –

ठुकराल और भंडारी (1994) का उल्लेख है कि सरकार की सब्सिडी देने की नीति के परिणामस्वरूप, पिछले दो दशकों में घरेलू खाना पकाने की ऊर्जा आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एलपीजी और मिट्टी के तेल का उपयोग बढ़ गया है। निजी कंपनियों को एलपीजी और मिट्टी के तेल को एक साथ बेचने की अनुमति

देने की सरकार की हालिया पहल को एक सही कदम के रूप में देखा जा सकता है। हालाँकि, निजी कंपनियों को इन दोनों ईंधनों की कुल बिक्री के आधे हिस्से तक पहुँचने में भी पाँच साल या उससे अधिक का समय लग सकता है।[1]

श्वार्ट्ज और क्लेमेंट्स (1999) ने निष्कर्ष निकाला है कि सब्सिडी को मापना जटिल है, क्योंकि विभिन्न विकल्पों में से प्रत्येक की अपनी कमियाँ हैं। कई सब्सिडी के परिणामस्वरूप स्पष्ट और समसामयिक बजटीय लागत नहीं होती है। सब्सिडी कई रूप ले सकती है, जिसमें उत्पादकों या उपभोक्ताओं को सीधा भुगतान के साथ–साथ सरकार द्वारा दिए गए कम–ब्याज वाले ऋण भी शामिल हैं। सब्सिडी अर्थव्यवस्था पर वित्तीय और दक्षता दोनों के मामले में एक महत्वपूर्ण बोझ डालती है। सब्सिडी के राजकोषीय बोझ और सुधार विकल्पों का आकलन करते समय, पारदर्शिता बढ़ाने, लागत–प्रभावशीलता में सुधार करने और सब्सिडी नीतियों के लिए एक व्यावहारिक दृष्टिकोण चुनने पर जोर दिया जाना चाहिए।[2]

राव, हेमलता और एच.के. अमरनाथ (2003) ने कर्नाटक राज्य में विभिन्न सामाजिक और आर्थिक सेवाओं की जाँच की, जिसमें पता चलता है कि लागत वसूली न केवल कम है, बल्कि वर्षों से घटी भी है। सब्सिडी, चाहे वह अप्रत्यक्ष हो या प्रत्यक्ष, शुद्ध राज्य घरेलू उत्पाद का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। अक्षमता , कुप्रबंधन, खराब प्राथमिकता निर्धारण , और दोषपूर्ण नीतियों के कारण उत्पन्न होने वाली अनावश्यक सब्सिडी को तर्कसंगत बनाने और छाँटने की आवश्यकता है।[3]

बाटलीवाला (1983) ने खाना पकाने की ऊर्जा प्रणाली का महिलाओं पर पड़ने वाले प्रभाव की जाँच की। भारत और अन्य विकासशील देशों के विभिन्न हिस्सों में किए गए कई अवलोकन और क्षेत्र अध्ययन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि विश्व स्तर पर महिलाओं के कार्यभार का एक बड़ा हिस्सा ईंधन संग्रह और खाना पकाने से संबंधित है। खाना पकाने की ऊर्जा की समस्या पुरुषों की तुलना में महिलाओं के लिए, विशेष रूप से गरीब महिलाओं के लिए, कहीं अधिक बड़ी चिंता का विषय है। गरीबी में रहने वाली महिला की खाना पकाने के ईंधन तक सीमित पहुँच होती है, वह इसे प्राप्त करने में सबसे अधिक समय लगाती है, और इसे ऐसे चूल्हों में इस्तेमाल करती है जो न केवल ईंधन–अकुशल हैं, बल्कि उसे गंभीर या घातक बीमारियों के संपर्क में भी लाते हैं। पिछले दशक में, वैकल्पिक खाना पकाने के ईंधन विकसित करने के लिए कुछ काफी कड़े शोध प्रयास किए गए हैं। इनमें से अधिकांश विकल्प वनों की कटाई पर बढ़ते डर की पृष्ठभूमि में विकसित किए गए हैं, न कि उन समस्याओं के कारण जिनका महिलाएँ सामना करती हैं। कोई भी ऊर्जा विकल्प जो खाना पकाने के ईंधन की कमी को कम करना चाहता है और इस प्रकार महिलाओं पर पड़ने वाले बोझ को कम करना चाहता है, उसे महिलाओं के हाथों में दिया जाना चाहिए। अध्ययन के अनुसार, खाना पकाने के ईंधन की कमी से आहार पर किए जाने वाले किसी भी समझौते का परिवार के अन्य सदस्यों की तुलना में महिलाओं के पोषण पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा।[4]

रवींद्रनाथ एन.एच. एट अल. (1997) ने भारत में खाना पकाने के लिए ऊर्जा विकल्प पर एक अध्ययन करने का प्रयास किया। उन्होंने यह राय दी कि खाना बनाना एक महत्वपूर्ण दैनिक घरेलू गतिविधि है जिसके लिए महत्वपूर्ण मात्रा में ऊर्जा और मानवीय प्रयास की आवश्यकता होती है। इस शोध अध्ययन में, विभिन्न ईंधनों और उपकरणों की तुलना के लिए दो उपायों का उपयोग किया गया थारू थर्मल दक्षता परीक्षण और नियंत्रित खाना पकाने के परीक्षण । खाना पकाने की ऊर्जा आवश्यकताओं को पूरा करने के विभिन्न विकल्पों की तुलना करने के लिए, वर्तमान अध्ययन ने दक्षिण भारत में विभिन्न ईंधन–उपकरण संयोजनों का मूल्यांकन किया। विकल्पों का प्रस्ताव करने के किसी भी प्रयास के लिए, उपकरण की दक्षता को देखते हुए, एक विशिष्ट मात्रा में भोजन पकाने के लिए आवश्यक ईंधन की मात्रा पर डेटा आवश्यक है। तुलना बायोमास, केरोसिन, और एलपीजी स्टोवों तक सीमित है क्योंकि ये ऊर्जा पर सलाहकार बोर्ड द्वारा माने गए विकल्प हैं। थर्मल दक्षता और नियंत्रित खाना पकाने के परीक्षणों के निष्कर्षों को बारह ईंधन–उपकरण संयोजनों पर वर्णित किया गया है, और परिणाम प्रतिशत ताप उपयोग और विशिष्ट ईंधन खपत के बीच एक दिलचस्प संबंध दिखाते हैं।[5]

पूँगोड़ी पी. (2014) ने अपने अध्ययन में एलपीजी के भारत पर आर्थिक प्रभाव पर ध्यान केंद्रित किया। लेखक के अनुसार, भारत 1950 के दशक से मुद्रास्फीति की बीमारी से त्रस्त है, लेकिन इसने 1991 से अपने

हानिकारक प्रभाव दिखाने शुरू कर दिए हैं। भारत दुनिया में ईंधन उत्पादों का सबसे बड़ा उपभोक्ता है, और मजबूत आर्थिक विकास और बढ़ती आय के परिणामस्वरूप मांग बढ़ रही है। यह शोध पत्र एलपीजी आयात और बीओपी (भुगतान संतुलन) पर उनके प्रभाव के बीच संबंध की जाँच करता है। इस अध्ययन के समय, घरेलू–से–गैर–घरेलू एलपीजी ग्राहक अनुपात 9:1 था। एलपीजी की मांग वार्षिक 6% की दर से बढ़ रही है, जबकि आपूर्ति में उतार–चढ़ाव हो रहा है और इस अंतर को आयात द्वारा भरा जा रहा है। भारतीय एलपीजी बाजार पर सरकार का प्रभुत्व है, जिसमें प्रतिस्पर्धा बहुत कम है। घरेलू एलपीजी सब्सिडीयुक्त (subsidised) है, जबकि वाणिज्यिक और औद्योगिक एलपीजी बाजार–निर्धारित हैं।[6]

गाउल्ड और उरपेलाइनन (2018) का कहना है कि ग्रामीण भारत में द्रवीकृत पेट्रोलियम गैस (एलपीजी), एक बड़े अंतर से, सबसे लोकप्रिय स्वच्छ खाना पकाने का ईंधन है। ग्रामीण भारतीय घरों में एलपीजी तक पहुँच और उसे अपनाने में सुधार के लिए महत्वपूर्ण नीतिगत प्रयास किए जा रहे हैं, इस उम्मीद में कि व्यापक रूप से ठोस ईंधन के उपयोग से जुड़े बड़े स्वास्थ्य, आर्थिक और सामाजिक बोझ को दूर किया जा सकेगा। अनुसंधान का उद्देश्य ग्रामीण भारतीय घरों में एलपीजी के उपयोग का एक व्यापक मूल्यांकन प्रदान करना है। अध्ययन के निष्कर्ष स्वच्छ खाना पकाने की ऊर्जा और बिजली तक पहुँच – राज्यों का सर्वेक्षण के 2014–15 सर्वेक्षण के डेटा पर आधारित हैं, जिसमें छह बड़े भारतीय राज्यों के 8500 से अधिक घरों को शामिल किया गया था। जनसंख्या स्तर का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्णनात्मक आँकड़े उत्पन्न करने के लिए सर्वेक्षण नमूनाकरण भार का उपयोग किया जाता है। यह अध्ययन केवल एलपीजी कनेक्शनों की गिनती से आगे बढ़कर, एक स्वच्छ खाना पकाने के ईंधन के रूप में एलपीजी के विभिन्न पहलुओं का एक व्यापक अवलोकन प्रदान करता है। इस अध्ययन के निष्कर्षों के अनुसार, ईंधन लागत व्यापक रूप से अपनाने में एक महत्वपूर्ण बाधा है, ईंधन स्टैकिंग एक सामान्य नियम है क्योंकि एलपीजी पर स्विच करते समय कुछ ही घर जलाऊ लकड़ी का उपयोग करना बंद करते हैं, और उपयोगकर्ताओं और गैर–उपयोगकर्ताओं दोनों के पास एक सुविधाजनक और स्वच्छ खाना पकाने के ईंधन के रूप में एलपीजी के बारे में अत्यधिक सकारात्मक विचार हैं।[7]

ए. शर्मा व अन्य (2019) बताते हैं कि दुनिया की एक बड़ी आबादी, मुख्य रूप से विकासशील देशों में, आधुनिक ऊर्जा स्रोतों तक पहुँच नहीं रखती है। अध्ययन में झारखंड के रांची जिले में 300 घरेलू सर्वेक्षण और छत्तीसगढ़ के रायपुर जिले में 510 सर्वेक्षण किए गए। अध्ययन में स्तरीकृत यादृच्छिक नमूनाकरण का उपयोग किया गया था। शोध जिलों को ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में विभाजित किया गया था। इस शोध का उद्देश्य स्वच्छ खाना पकाने के ईंधन के संक्रमण के संबंध में ज्ञान अंतराल को भरना और एलपीजी के उपयोग को बढ़ावा देने के लिए नीति डिजाइन को सुविधाजनक बनाना है। हमारे नमूना डेटा के आधार पर, हमारा विश्लेषण बताता है कि पीएमयूवाई एलपीजी पूंजी सब्सिडी योजना ने लाभार्थी घरों के बीच एलपीजी संक्रमण को ट्रिगर किया। यह निष्कर्ष यह भी बताता है कि नए ग्राहक धीरे–धीरे एलपीजी में संक्रमण कर सकते हैं जब वे स्वच्छ ईंधन की लागत और लाभों को समझते हैं। यह चल रही पीएमयूवाई योजना के लिए एक महत्वपूर्ण खोज हो सकती है।[8]

राव व अन्य (2020) का कहना है कि यह शोध पत्र ग्रामीण, संसाधन–गरीब समुदायों में स्वच्छ ऊर्जा के प्रसार में आने वाली चुनौतियों की खोज करके और एलपीजी आपूर्तिकर्ताओं के दृष्टिकोण को बुनकर ऊर्जा प्रसार साहित्य में जोड़ता है। अनुसंधान दक्षिणी भारत में ग्रामीण आंध्र प्रदेश के चित्तूर जिले में आयोजित किया जा रहा है। इस अध्ययन में उत्तरदाताओं ने एलपीजी रिफिल लागत को कम करने और सबसे जरूरतमंद लोगों को लाभ पहुँचाने के लिए सब्सिडी समाप्त करने का समर्थन किया। जमीन पर एलपीजी वितरण भारत में सार्वजनिक या निजी गैस कंपनियों के तहत स्थापित निजी वितरण द्वारा प्रबंधित किया जाता है। पारंपरिक ईंधनों की तुलना में एलपीजी की अपेक्षाकृत उच्च लागत एक महत्वपूर्ण कारक बनी हुई है, लगभग सभी उत्तरदाताओं ने इसे प्रसार लक्ष्यों के लिए एक बाधा के रूप में पहचाना है।[9]

शोध के उद्देश्य

1. लाभार्थियों की सामाजिक आर्थिक स्थिति का मूल्यांकन करना।
2. प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना के दैनिक जीवन प्रभाव का मूल्यांकन करना।
3. प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजन के प्रभाव से हुए परिवर्तन का विश्लेषण करना।

यह अध्ययन प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना के महिलाओं के जीवन की गुणवत्ता और सुविधा पर समग्र प्रभाव का समालोचनात्मक मूल्यांकन करने के साथ–साथ पारंपरिक ईंधन से खाना पकाने में लगने वाले समय की तुलना में बचाए गए समय का आकलन करने का प्रयास करता है। पारंपरिक ईंधनों जैसे लकड़ी या गोबर के स्थान पर स्वच्छ एलपीजी ईंधन के उपयोग ने महिलाओं के दैनिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाए हैं। इस उद्देश्य के तहत यह समझने का प्रयास किया गया है कि एलपीजी की उपलब्धता ने किस प्रकार रसोई के वातावरण को स्वच्छ बनाया, घर के धुएँ को कम किया, और खाना पकाने की प्रक्रिया को अधिक सुविधाजनक एवं सुरक्षित बनाया। इसके परिणामस्वरूप महिलाओं के शारीरिक स्वास्थ्य, श्रम के बोझ में कमी, और घरेलू जीवन में सम्मान एवं आत्मनिर्भरता की भावना में सुधार देखा गया है। साथ ही, अध्ययन यह भी मूल्यांकन करता है कि एलपीजी के उपयोग से जो समय बचा – जो पहले जलावन लकड़ी इकट्ठा करने और पारंपरिक धीमी आँच पर खाना पकाने में व्यतीत होता था। उसे महिलाएँ अब किस प्रकार उपयोग में ला रही हैं, जैसे विश्राम, बच्चों की देखभाल, या छोटे पैमाने पर आय–सृजन गतिविधियों में। इस प्रकार, यह उद्देश्य महिलाओं के जीवन स्तर और सामाजिक कल्याण में योजना के सकारात्मक योगदान को समझने पर केंद्रित है।

शोध प्रश्न

1 लाभार्थियों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति क्या है, और यह प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना के क्रियान्वयन से पूर्व एवं पश्चात किस प्रकार परिवर्तित हुई है?

2 प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना ने लाभार्थियों के दैनिक जीवन, स्वास्थ्य, समय उपयोग, घरेलू कार्य प्रणाली तथा जीवन–स्तर पर किस प्रकार के प्रभाव डाले हैं?

3 प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना के कारण लाभार्थियों के सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक तथा लैंगिक सशक्तिकरण के स्तर में क्या–क्या परिवर्तन देखने को मिले हैं?

अध्ययन क्षेत्र

यह अध्ययन उत्तर प्रदेश राज्य के वाराणसी जनपद के कौरौटा माधोपुर गाँव में किया गया है, जो प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना के ग्रामीण कार्यान्वयन को समझने के लिए एक उपयुक्त अध्ययन क्षेत्र प्रस्तुत करता है। यह गाँव सामाजिक और आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ अधिकांश परिवार पारंपरिक ईंधनों जैसे लकड़ी, गोबर और फसल अवशेषों पर निर्भर रहे हैं। अध्ययन क्षेत्र के रूप में कौरौटा माधोपुर का चयन इसलिए किया गया है क्योंकि यह ग्रामीण उत्तर भारत की उन विशिष्ट परिस्थितियों को प्रतिबिंबित करता है जहाँ एलपीजी की पहुँच तो बढ़ी है, परंतु रिफिल की वहनीयता, आपूर्ति श्रृंखला की सीमाएँ और ईंधन स्टैकिंग की प्रवृत्ति जैसी समस्याएँ अब भी विद्यमान हैं। इस गाँव का सूक्ष्म–स्तरीय विश्लेषण प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना के स्थानीय प्रभावों को समझने में सहायक है, विशेष रूप से महिलाओं के स्वास्थ्य, समय के उपयोग, और जीवन की गुणवत्ता में हुए परिवर्तनों के संदर्भ में। इस प्रकार, कौरौटा माधोपुर अध्ययन क्षेत्र ग्रामीण भारत में स्वच्छ ईंधन अपनाने की स्थिरता और योजना की वास्तविक प्रभावशीलता का मूल्यांकन करने में महत्वपूर्ण रूप से कार्य करता है।

कार्य प्रणाली

यह अध्ययन एक वर्णनात्मक अनुसंधान डिजाइन पर आधारित है, जिसका उद्देश्य प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना (PMUY) के लाभार्थियों के अनुभवों और उसके प्रभावों का वास्तविक व व्यवस्थित मूल्यांकन करना है। अध्ययन के लिए कोरौता माधोपुर गाँव (वाराणसी) को चयनित किया गया, जो योजना के ग्रामीण कार्यान्वयन का प्रतिनिधिक क्षेत्र है। प्राथमिक डेटा संग्रह के लिए संरचित साक्षात्कार अनुसूची का उपयोग किया गया, जिसके माध्यम से गाँव की 50 महिला लाभार्थियों से जानकारी एकत्र की गई। चयनित उत्तरदाताओं को उद्देश्यपूर्ण नमूना विधि के माध्यम से चुना गया, ताकि केवल वे महिलाएँ शामिल हों जिन्हें उज्ज्वला योजना के तहत एलपीजी कनेक्शन प्राप्त हुआ है। संग्रहित आंकड़ों में महिलाओं के एलपीजी उपयोग के पैटर्न, रिफिल

खपत दर, ईंधन स्टैकिंग की प्रवृत्ति, स्वास्थ्य में हुए परिवर्तन (विशेषकर श्वसन और नेत्र संबंधी समस्याओं में सुधार), तथा समय की बचत और उसके उपयोग से संबंधित पहलुओं को शामिल किया गया। द्वितीयक डेटा विभिन्न सरकारी रिपोर्टों, नीति दस्तावेजों, और पूर्ववर्ती शोध अध्ययनों से संकलित किया गया, ताकि प्राथमिक निष्कर्षों की तुलना व्यापक परिप्रेक्ष्य में की जा सके। सभी एकत्रित आंकड़ों का विश्लेषण सरल सांख्यिकीय तकनीकों जैसे प्रतिशत, औसत के माध्यम से किया गया। परिणामों की व्याख्या गुणात्मक टिप्पणियों के साथ की गई ताकि योजना के सामाजिक, आर्थिक और स्वास्थ्य संबंधी प्रभावों की समग्र समझ विकसित की जा सके।

अंतर्दृष्टियाँ

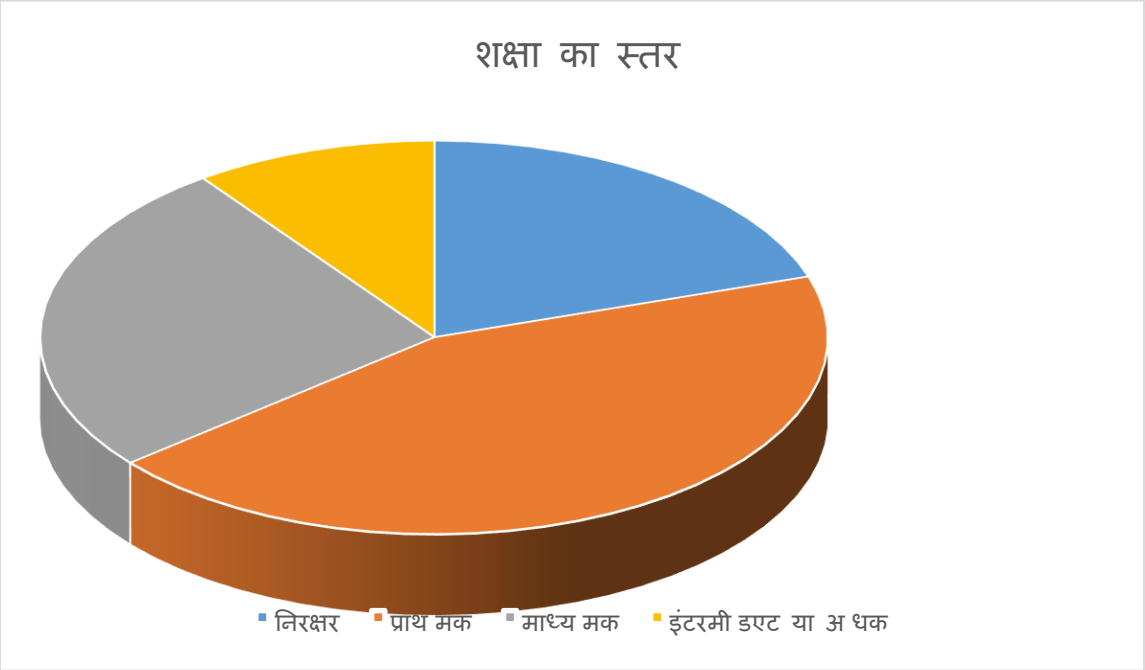
इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना (PMUY) ने कौरौटा माधोपुर गाँव की महिलाओं के स्वास्थ्य, समय प्रबंधन और जीवन की गुणवत्ता में सकारात्मक बदलाव लाने में सफलता प्राप्त की है। एलपीजी अपनाने से घर के धुएँ में कमी आई, श्वसन और नेत्र संबंधी स्वास्थ्य में सुधार हुआ, और प्रतिदिन लगभग एक घंटे का समय बचा, जिसे महिलाएँ आराम, बच्चों की देखभाल और आय–सृजन गतिविधियों में उपयोग कर रही हैं। हालांकि, रिफिल की उच्च लागत और आपूर्ति असुविधा के कारण लगभग आधी महिलाएँ अभी भी ईंधन स्टैकिंग का उपयोग करती हैं, जो योजना की दीर्घकालिक स्थिरता पर असर डालती है। इसके बावजूद, स्वच्छ रसोई, तेज खाना पकाने और सामाजिक जुड़ाव ने महिलाओं के आत्मनिर्भरता और सशक्तीकरण में वृद्धि की है। इसलिए, योजना ने प्रारंभिक स्वास्थ्य और सुविधा लाभ प्रदान किए हैं, लेकिन स्थायी प्रभाव सुनिश्चित करने के लिए रिफिल की वहनीयता बढ़ाने, आपूर्ति श्रृंखला को मजबूत करने, और सामुदायिक जागरूकता कार्यक्रमों जैसी नीतिगत हस्तक्षेपों की आवश्यकता है।

उत्तरदाताओ की सामाजिक आर्थिक स्थिति

क्रम सं.	श्रेणी	उपश्रेणी	आवृत्ति	प्रतिशत
1-	शिक्षा का स्तर	निरक्षर	10	20.0
		प्राथमिक	22	44.0
		माध्यमिक	13	26.0
		इंटरमीडिएट या अधिक	5	10.0
2-	परिवार की मासिक आय	₹5,001 से कम	9	18.0
		₹5,001 - ₹10,000	26	52.0
		₹10,001 - ₹15,000	10	20.0
		₹15,000 से अधिक	5	10.0
3-	आजीविका का मुख्य स्रोत	कृषि/पशुपालन	24	48.0
		दैनिक मजदूरी/कृषि श्रमिक	8	16.0
		छोटा व्यवसाय/स्वरोजगार	10	20.0
		अन्य (गृहिणी/निर्भर)	8	16.0
4-	मकान की स्थिति	पक्का मकान	33	66.0
		कच्चा मकान	17	34.0
5-	सामाजिक जुड़ाव (SHG सदस्यता)	हाँ	28	56.0
		नहीं	22	44.0

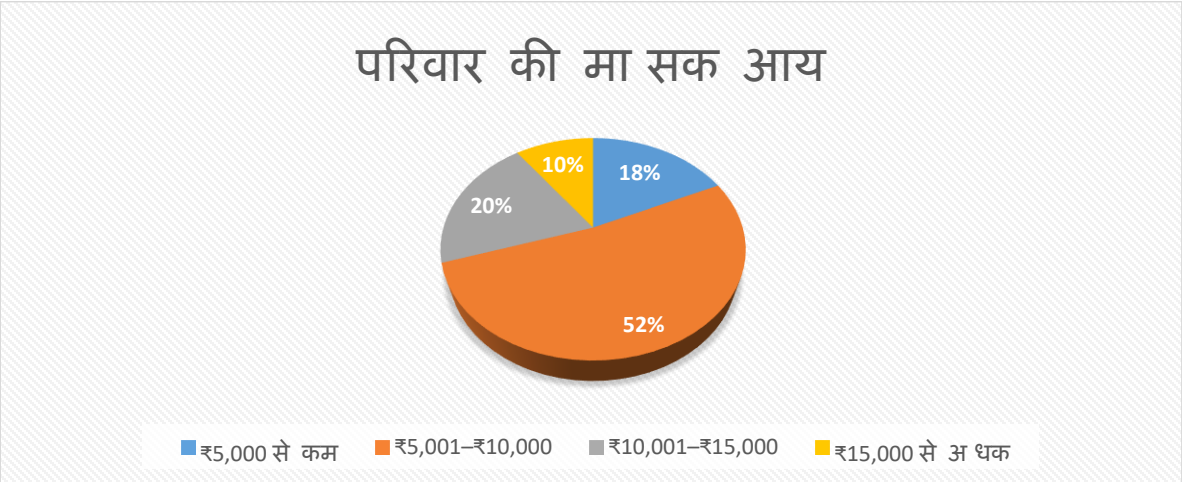
1. शिक्षा का स्तर

सर्वेक्षित 50 ग्रामीण गृहिणियों में से अधिकांश महिलाएँ प्राथमिक स्तर तक शिक्षित (44%) हैं, जबकि 20% महिलाएँ निरक्षर पाई गईं। माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने वाली महिलाओं की संख्या 26% और इंटरमीडिएट या उससे अधिक शिक्षित केवल 10% हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ग्रामीण महिलाओं की शिक्षा का स्तर अभी भी सीमित है।



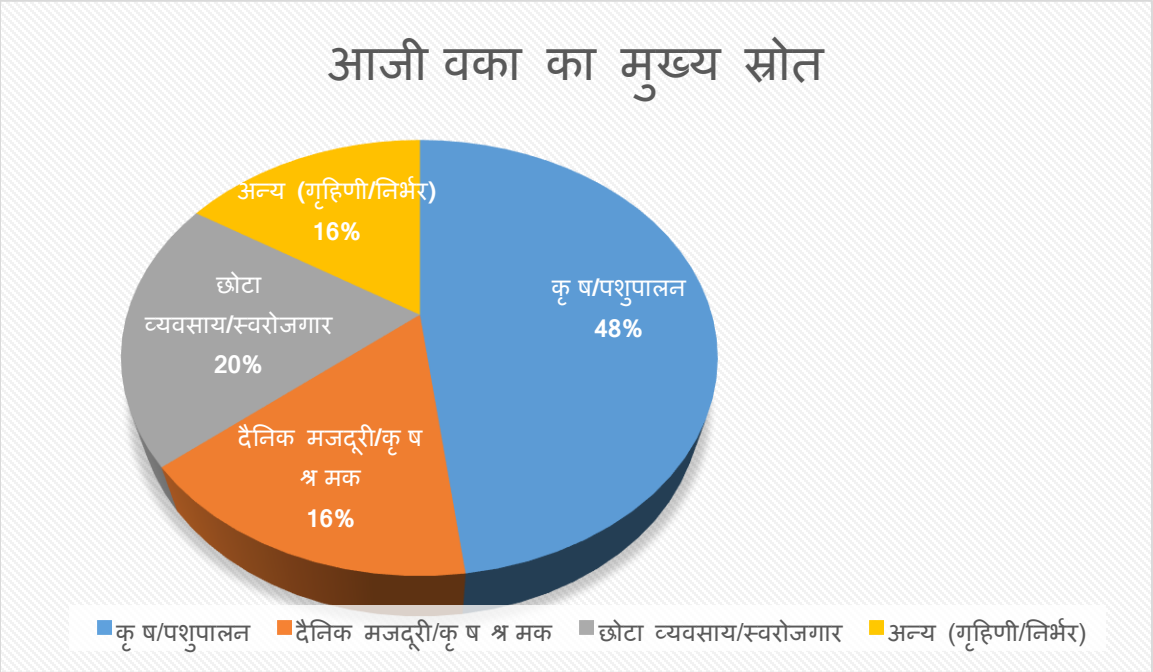
2. परिवार की मासिक आय

सर्वाधिक परिवारों (52%) की मासिक आय ₹5001 – ₹10000 के बीच है, जो निम्न–मध्यम आर्थिक स्थिति को दर्शाता है। लगभग 18% परिवारों की आय ₹5000 से कम है, जबकि केवल 10% परिवार ही ₹15000 से अधिक आय वर्ग में आते हैं।



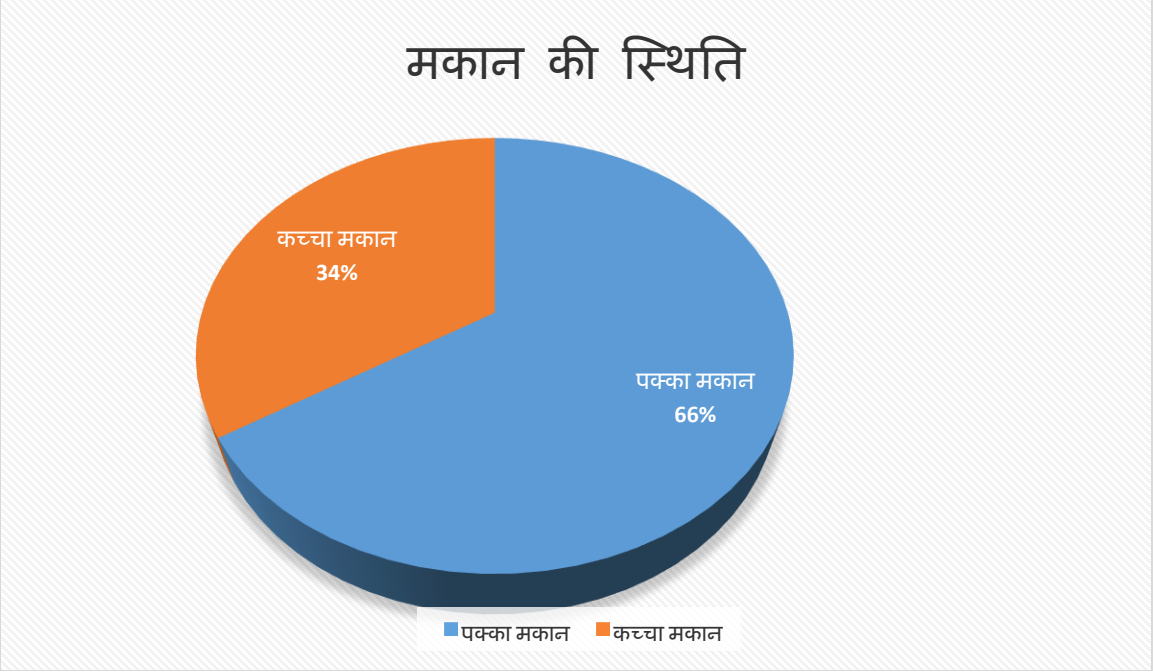
3. आजीविका का मुख्य स्रोत

अधिकांश परिवारों (48%) की आय का प्रमुख स्रोत कृषि एवं पशुपालन है। इसके अतिरिक्त 20% महिलाएँ छोटा व्यवसाय या स्वरोजगार में जुड़ी हैं, जबकि 16% परिवार दैनिक मजदूरी पर निर्भर हैं। इससे पता चलता है कि आजीविका के साधन मुख्यतः कृषि आधारित हैं।



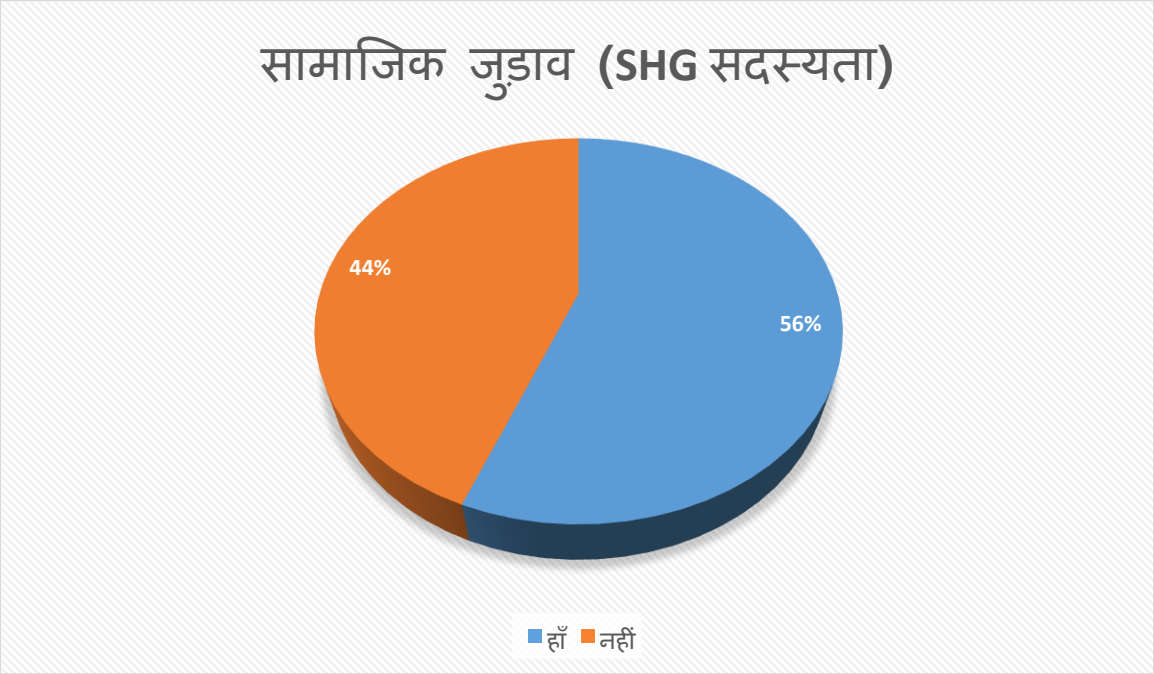
4. मकान की स्थिति

66% महिलाओं के परिवारों के पास अपना पक्का मकान है, जबकि 34% परिवार अब भी कच्चे मकान में रहते हैं। यह ग्रामीण क्षेत्र में आवासीय स्थिरता की मध्यम स्थिति को इंगित करता है।



5- सामाजिक जुड़ाव (SHG सदस्यता)

56% महिलाएँ स्वयं सहायता समूह (SHG) या अन्य महिला समूहों की सदस्य हैं। यह दर्शाता है कि आधे से अधिक महिलाएँ सामाजिक एवं आर्थिक रूप से संगठित समूहों से जुड़ाव रखती हैं, जो सामुदायिक सशक्तिकरण का संकेत है।

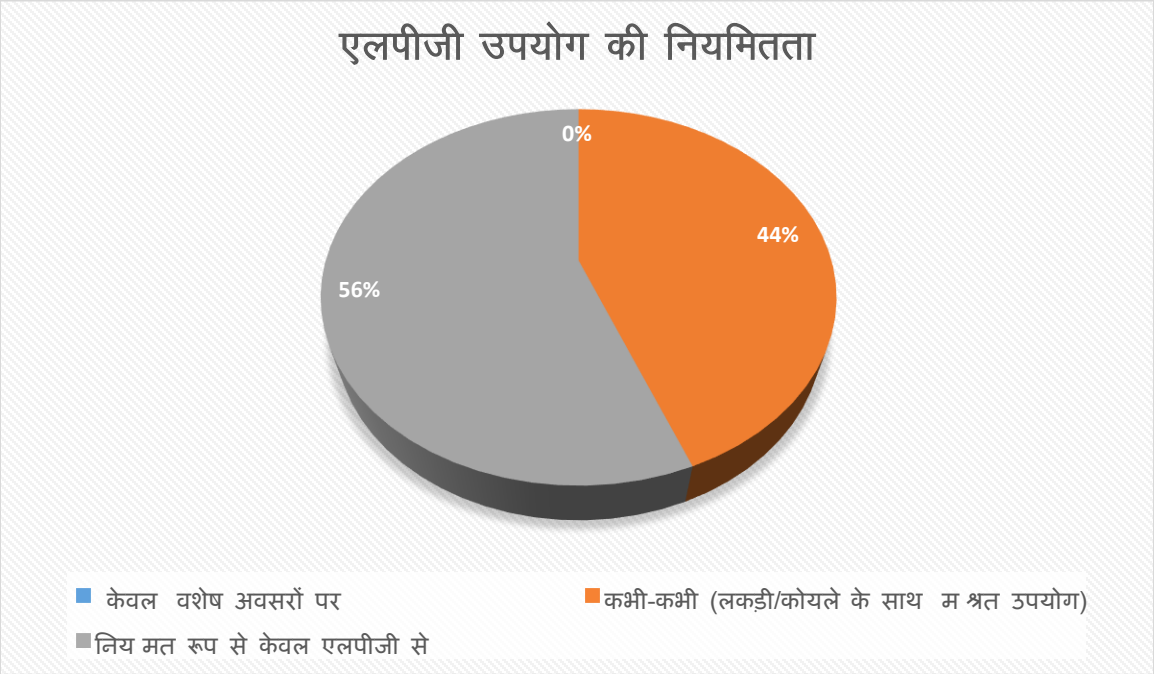


प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजन के दैनिक जीवन प्रभाव

क्रम सं.	प्रश्न	उत्तर विकल्प	आवृत्ति	प्रतिशत
1.	आप एलपीजी का उपयोग कितनी नियमितता से करती हैं?	केवल विशेष अवसरों पर	0	0.0
		कभी–कभी (लकड़ी/कोयले के साथ मिश्रित उपयोग)	22	44.0
		नियमित रूप से केवल एलपीजी से	28	56.0
2.	एलपीजी उपयोग के बाद दैनिक कामकाज में समय की बचत	कोई समय नहीं बचा	2	4.0
		आधा घंटा	10	20.0
		लगभग 1 घंटा	30	60.0
		1 घंटे से अधिक	8	16.0
3.	बचाए गए समय का उपयोग मुख्य रूप से किस कार्य में होता है	आराम या स्वास्थ्य के लिए	10	20.0
		बच्चों की देखभाल या शिक्षा के लिए	12	24.0
		घरेलू कार्य या सिलाईध्बुनाई जैसे छोटे कामों में	16	32.0
		अन्य	12	24.0

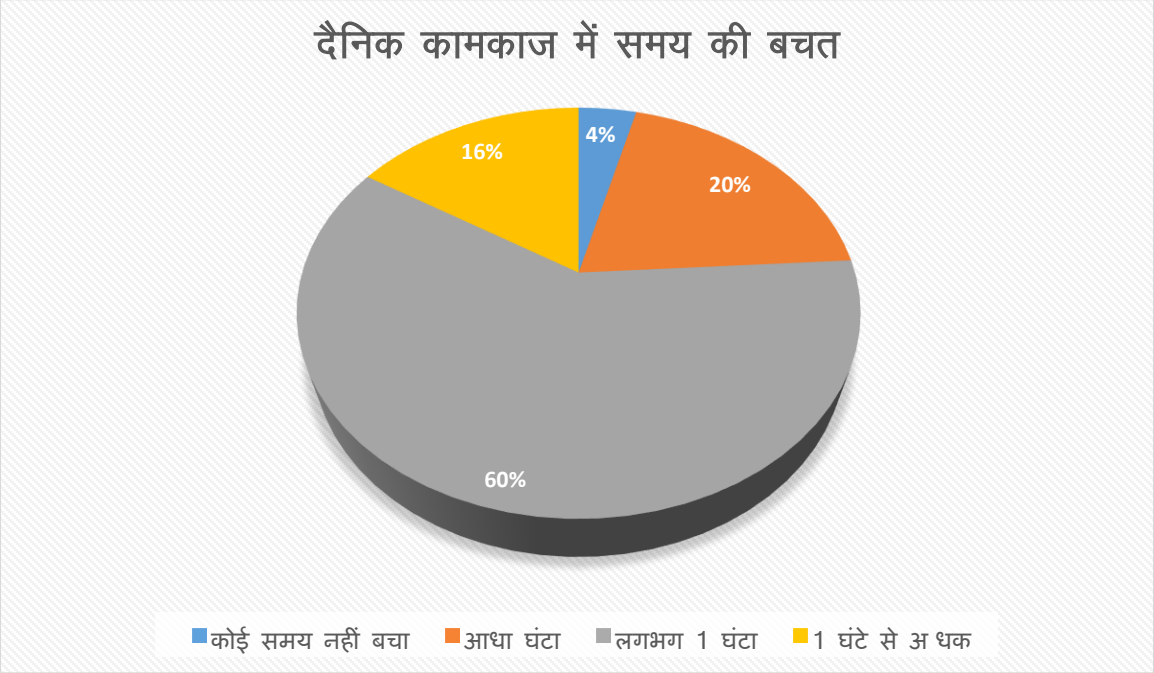
1. एलपीजी उपयोग की नियमितता

56% महिलाएँ नियमित रूप से केवल एलपीजी का उपयोग करती हैं। 44% महिलाएँ कभी–कभी लकड़ी/कोयले के साथ मिश्रित उपयोग करती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक अपनाने की दर अच्छी है, लेकिन ईंधन स्टैकिंग अभी भी मौजूद है।



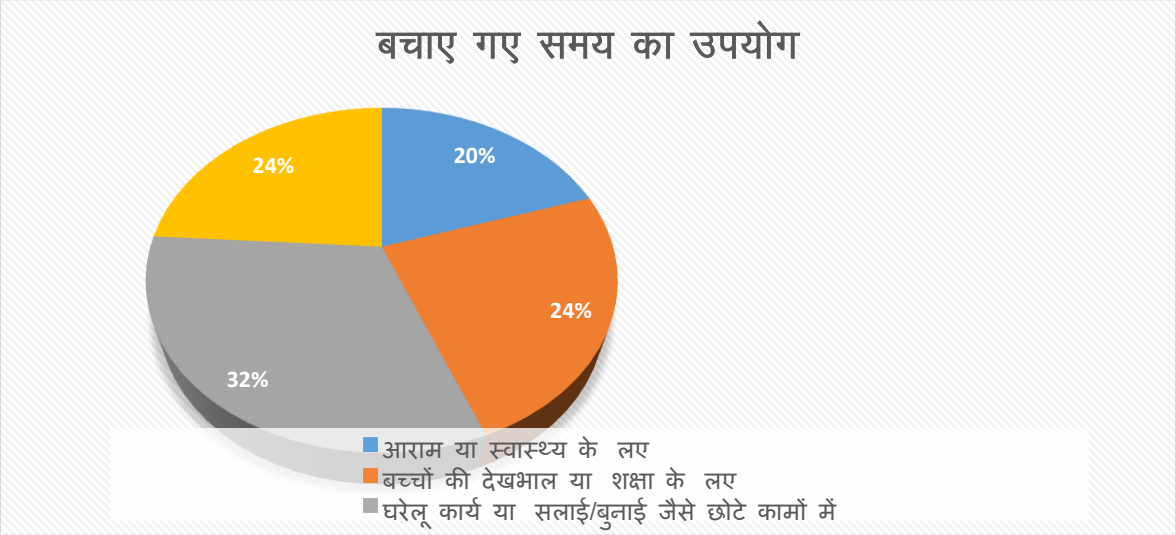
2. दैनिक कामकाज में समय की बचत

60% महिलाएँ लगभग 1 घंटा, और 16% ने 1 घंटे से अधिक समय की बचत बताई। केवल 4% महिलाओं को कोई समय बचा नहीं। यह दिखाता है कि एलपीजी उपयोग ने महिलाओं के समय प्रबंधन में सुधार किया है।



3. बचाए गए समय का उपयोग

32% महिलाएँ घरेलू कार्य/सिलाई में, 24% बच्चों की देखभाल शिक्षा में, 20% आराम के लिए और 24% अन्य कार्यों में समय का उपयोग करती हैं। इसका मतलब है कि बचाए गए समय का लाभ विभिन्न गतिविधियों में व्याप्त है।



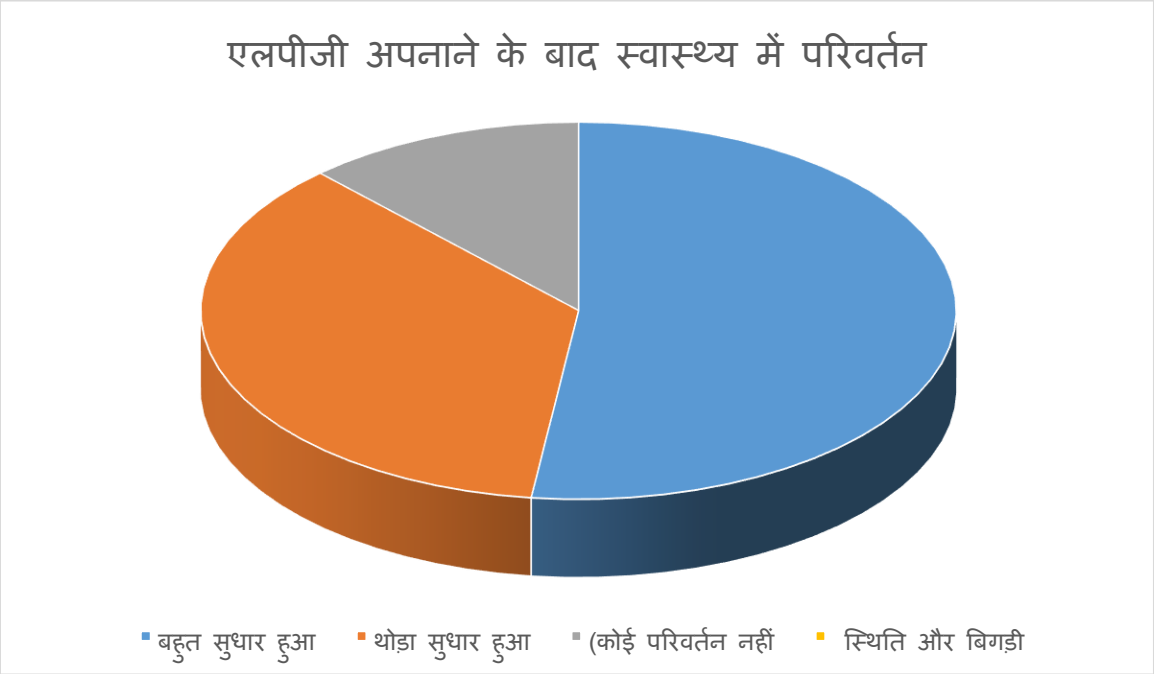
प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजन के प्रभाव से हुए परिवर्तन

क्रम सं.	प्रश्न	उत्तर विकल्प	आवृत्ति	प्रतिशत

1.	एलपीजी अपनाने के बाद स्वास्थ्य में परिवर्तन	बहुत सुधार हुआ	26	52.0
		थोड़ा सुधार हुआ	18	36.0
		कोई परिवर्तन नहीं	6	12.0
		स्थिति और बिगड़ी	0	0.0
2.	एलपीजी रिफिल की लागत पर अनुभव	बहुत महँगा है, इसलिए कम उपयोग करती हूँ	20	40.0
		थोड़ा महँगा है, पर उपयोग जारी है	18	36.0
		सामान्य लागत है, कोई समस्या नहीं	12	24.0
		सरकारी सब्सिडी पर्याप्त मिलती है	0	0.0

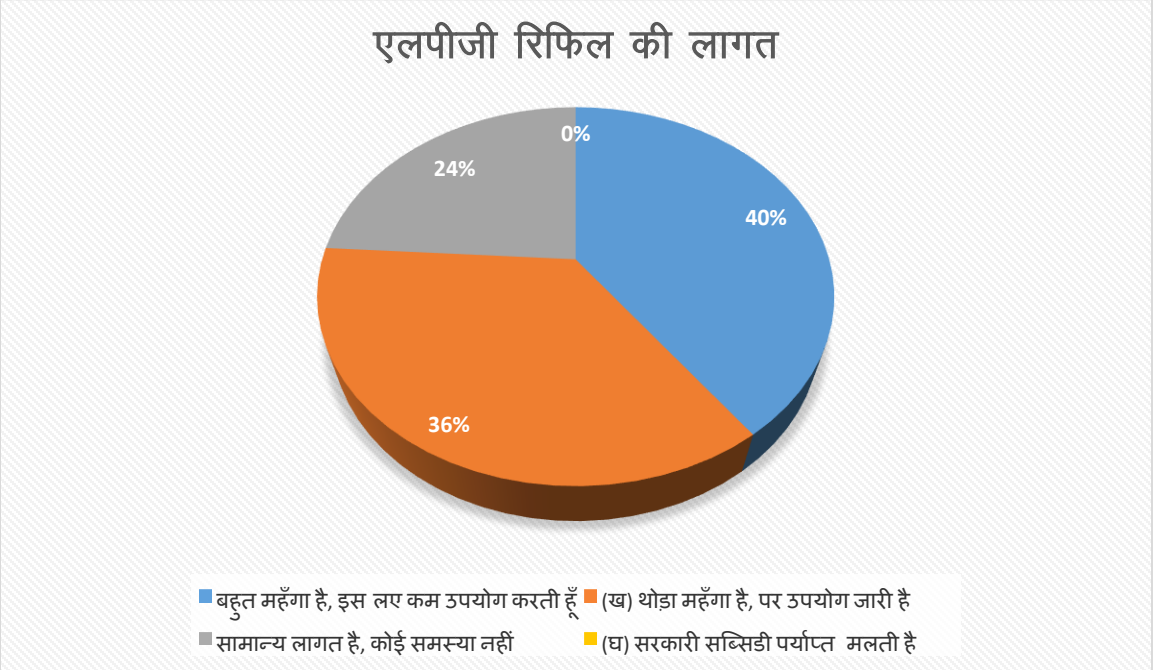
1. स्वास्थ्य में परिवर्तन

52% ने "बहुत सुधार" और 36% ने "थोड़ा सुधार" बताया। केवल 12% महिलाओं ने कोई परिवर्तन नहीं महसूस किया। इससे यह संकेत मिलता है कि एलपीजी अपनाने से घर के धुएँ और श्वसन स्वास्थ्य में सकारात्मक असर पड़ा है।



2. एलपीजी रिफिल की लागत

40% महिलाओं ने "बहुत महँगा" बताया, 36% ने "थोड़ा महँगा" और 24% ने "सामान्य लागत" कहा। लागत एक मुख्य चुनौती है, जिससे निरंतर उपयोग पर असर पड़ता है।



निष्कर्ष –

इस अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना (PMUY) ने कौरौटा माधोपुर गाँव की महिलाओं के जीवन में बहुआयामी सकारात्मक बदलाव लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। एलपीजी कनेक्शन के अपनाने से पारंपरिक ईंधनों जैसे लकड़ी, गोबर और कोयले के उपयोग से उत्पन्न घरेलू धुएँ में स्पष्ट कमी आई, जिससे महिलाओं और बच्चों के श्वसन स्वास्थ्य, नेत्र स्वास्थ्य और समग्र भौतिक स्वास्थ्य में सुधार हुआ। यह स्वास्थ्य लाभ न केवल शरीर पर सकारात्मक प्रभाव डालते हैं, बल्कि मानसिक स्वास्थ्य, जीवन की गुणवत्ता और घर के वातावरण की स्वच्छता में भी वृद्धि करते हैं। अध्ययन से यह भी पता चला कि एलपीजी के उपयोग से रसोई का काम अधिक सुरक्षित और सुविधाजनक बन गया, जिससे महिलाओं को खाना पकाने के दौरान जलने, धुएँ के कारण आँख और श्वसन समस्याओं का कम सामना करना पड़ता है।

समय की बचत और उत्पादक उपयोग इस योजना का दूसरा प्रमुख लाभ रहा। अध्ययन के अनुसार, एलपीजी के उपयोग से प्रतिदिन लगभग एक घंटे का समय बचता है, जो पहले लकड़ी इकट्ठा करने, खाना पकाने में लंबा समय बिताने, और पारंपरिक ईंधनों से होने वाली समस्याओं में व्यतीत होता था। महिलाएँ इस समय का उपयोग आराम और स्वास्थ्य सुधार, बच्चों की देखभाल और शिक्षा, घरेलू कार्यों, और छोटे पैमाने पर आय–सृजन गतिविधियों में कर रही हैं। इससे न केवल उनके दैनिक जीवन की गुणवत्ता में सुधार हुआ है, बल्कि सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण के अवसर भी उत्पन्न हुए हैं।

हालांकि, अध्ययन ने यह भी उजागर किया कि योजना की दीर्घकालिक स्थिरता अभी भी चुनौतीपूर्ण है। लगभग आधी महिलाएँ अभी भी ईंधन स्टैकिंग कर रही हैं, यानी एलपीजी के साथ लकड़ी या अन्य पारंपरिक ईंधनों का मिश्रित उपयोग कर रही हैं। इसका प्रमुख कारण एलपीजी रिफिल की उच्च लागत, ग्रामीण आपूर्ति श्रृंखला की अस्थिरता, और आर्थिक सीमितता है। ईंधन स्टैकिंग न केवल स्वास्थ्य लाभ को कम करती है, बल्कि योजना के उद्देश्य – स्वच्छ खाना पकाने और महिलाओं तथा बच्चों को घरेलू वायु प्रदूषण की पुरानी स्वास्थ्य समस्याओं से बचाने–को पूरी तरह हासिल नहीं कर पाती। इसके अतिरिक्त, अध्ययन ने यह भी दर्शाया कि महिलाओं की सामाजिक और आर्थिक स्थिति, शिक्षा स्तर, और सामुदायिक जुड़ाव (SHG सदस्यता) योजना के लाभों को प्राप्त करने और उनका स्थायी उपयोग करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जो महिलाएँ स्वयं सहायता समूहों या अन्य महिला संगठनों से जुड़ी हैं, उन्हें एलपीजी के उपयोग

और समय बचत के उत्पादक लाभों को अपनाने में अधिक सुविधा मिली। यह संकेत देता है कि सामुदायिक सहभागिता और सामाजिक समर्थन योजना की प्रभावशीलता को बढ़ाने में सहायक हैं।

इस प्रकार, प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना ने स्वास्थ्य सुधार, समय बचत और जीवन की गुणवत्ता में प्रारंभिक सफलता प्राप्त की है और ग्रामीण महिलाओं के जीवन में सुविधा, सुरक्षा, स्वच्छता और आत्मनिर्भरता को बढ़ावा दिया है। लेकिन इसकी दीर्घकालिक सफलता और व्यापक प्रभाव सुनिश्चित करने के लिए कुछ आवश्यक कदम उठाने होंगे, जैसे किः एलपीजी रिफिल की वहनीयता बढ़ाना, ताकि आर्थिक रूप से कमजोर परिवार नियमित उपयोग कर सकें। ग्रामीण आपूर्ति श्रृंखला को मजबूत करना, ताकि दूरदराज के गाँवों में भी एलपीजी की उपलब्धता सुनिश्चित हो। सामुदायिक जागरूकता और प्रशिक्षण कार्यक्रम लागू करना, ताकि महिलाएँ नियमित और पूर्ण रूप से एलपीजी का उपयोग कर सकें और ईंधन स्टैकिंग कम हो। लक्षित नीतिगत हस्तक्षेप जैसे सब्सिडी वृद्धि, छोटे सिलेंडर के प्रचार और समय प्रबंधन व स्वास्थ्य लाभों पर जागरूकता, योजना के सतत प्रभाव को बढ़ाने में मदद करें।

अंततः, यह अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि PMUY ने ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य, समय उपयोग, और सामाजिक–आर्थिक सशक्तिकरण में वास्तविक और मापनीय लाभ प्रदान किए हैं। हालांकि, सतत और दीर्घकालिक प्रभाव प्राप्त करने के लिए नीतिगत सुधार, आर्थिक समर्थन और समुदाय आधारित हस्तक्षेप अनिवार्य हैं। यदि ये कदम उठाए जाएँ, तो योजना न केवल स्वच्छ खाना पकाने की दिशा में सफल होगी, बल्कि ग्रामीण महिलाओं के समग्र सामाजिक, आर्थिक और स्वास्थ्य सशक्तिकरण में भी निर्णायक योगदान दे सकती है।

संदर्भ सूची –

1. ठुकराल, के., एवं भंडारी, पी. एम. (1994). भारत में एलपीजी पर सब्सिडी कम करने का औचित्यः भारतीय अर्थव्यवस्था में एलपीजी और केरोसिन की भूमिका।
2. श्वार्ट्ज, जी., एवं क्लेमेंट्स, बी. (1999). सरकारी सब्सिडियाँ।
3. राव, हेमलता, एवं एच. के. अमर नाथ (2003)। कर्नाटक में सरकारी सब्सिडियों का व्यापक दृष्टिकोण, मोनोग्राफ 1, वॉल्यूम एंड कॉम्पोजीशन ऑफ बजटरी सब्सिडीज इन कर्नाटक (संपा. एम. गोविंदा राव), समाज एवं आर्थिक परिवर्तन संस्थान, बेंगलुरु।
4. बटलीवाला, एस. (1983). महिलाएँ और रसोई ऊर्जा (खंड 18, अंक 52)। http://www.jstor.org/stable/41626955
5. रविंद्रनाथ, एन. एच., एवं रामकृष्ण, जे. (1997). भारत में खाना पकाने के लिए ऊर्जा विकल्प (खंड 25, अंक 1)।
6. पूंगोड़ी, पी. (2014). एलपीजी का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभावः एक अध्ययन। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इंग्लिश लैंग्वेज, लिटरेचर एंड ह्यूमेनिटीज, खंड II(अंक VI)।
7. गोल्ड, सी. एफ., एवं उरपेलाइनेन, जे. (2018). भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में स्वच्छ ईंधन के रूप में एलपीजीः अपनाना, उपयोग और प्रभाव। एनर्जी पॉलिसी, 122, 395–408। https://doi.org/10.1016/j.enpol.2018.07.042
8. शर्मा, ए., पारिख, जे., एवं सिंह, सी. (2019). खाना पकाने के लिए एलपीजी में परिवर्तन भारत के दो राज्यों का एक केस स्टडी। एनर्जी फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट, 51, 63–72। https://doi.org/10.1016/j.esd.2019.06.001
9. राव, एस., दहल, एस., हैडिंघम, एस., एवं कुमार, पी. (2020). ग्रामीण भारत में एलपीजी के प्रसार की चुनौतियाँः क्षेत्र से प्राप्त दृष्टिकोण। सस्टेनेबिलिटी (स्विट्जरलैंड), 12(6), 1–18। https://doi.org/10.3390/su12062327

JSECR, Vol. 11, No. 22, Jan.-June, 2025 ISSN : 2394-2878
Peer Reviewed Journal, Impact Factor: 9.0 (IIFS)

उत्तर प्रदेश की जनजातियॉ और उनकी सामाजिक स्थिति

कु0 मधुबाला
असि0 प्रो0 समाजशास्त्र,
महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बहराइच (उ0प्र0)

सारांश–

प्रायः वन्य, पर्वतीय एवं दूर–दराज के क्षेत्रों में निवास करने वाले वे मानव समुदाय जो सभ्यता एवं विकास की दृष्टि से काफी पिछड़े हुए है या उस सम्बन्ध में प्रारम्भिक सोपान पर ही है, उन्हे ही जनजाति या आदिवासी कहा जाता है। सन् 1931 की जनगणना के पूर्व इन्हे दलित या आदिवासी कहा जाता था। सन् 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में इन्हे समाज में काफी पिछड़ा माना गया, बाद में इनके लिए जनजाति शब्द का प्रयोग किया गया। संविधान में इनजातियों को सूचीबद्ध कर दिया गया और इन्हे अनुसूची पांच और छः में रखा गया।[1] इसके बाद इन जातियों के समूह को अनुसूचित जनजाति कहा जाने लगा।

मुख्य शब्द–जनजाति, थारू, बोक्सा, भोरिया, राजी, जौनसारी, गोंड, धुरिया, अनूसची, पांच, पिछड़ापन, समुदाय, आदिवासी, आरक्षण आदि।

आजादी के बाद 1950 में विभिन्न जनजातीय समुदायों की पहचान करके 212 जनजातियों की एक सूची तैयार की गयी और अनुसूचित जनजाति आदेश 1950 लागू किया गया। किसी कारण बस सभी जनजातीय समूहो को इस सूची में शामिल नही किया जा सका। जिसके परिणाम स्वरूप बाद में संशोधन करके उन जनजातीय समुदाय को इसमें शामिल किया गया, जो पूर्व में छूट गये थे और उनके बारे में जनजाति होने की जानकारी मिल गयी थी। इसी सूची में उत्तर प्रदेश की थारू, बोक्सा, भोरिया सहित एक दर्जन से अधिक जनजातियों को शामिल किया गया। इन सूचीबद्ध जनजातियों को भी अनुसूचित जनजाति कहा जाता है। प्रदेश की जनजातियों को अनुसूची 5 में रखा गया है। अतः अनुसूचित जनजाति वे जनजातीय समूह है जिनको संवैधानिक तथा कानूनी रूप में सरकार द्वारा बनायी गयी सूची में शामिल किया गया है।[2]

अनुसूचित जनजाति एक संवैधानिक शब्दावली है, जिसका प्रयोग भारतीय संविधान में किया गया है। नवीनतम आकड़ों के अनुसार देश के विभिन्न क्षेत्रों में लगभग 106 भाषाएँ बोलने वाले 705 समुदायों या जनजातियों को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में रखा गया है। उत्तर प्रदेश की 5 जनतातियों–थारू बोक्सा, भोरिया, राजी और जौनसारी को सम्पूर्ण प्रदेश में जनजाति का दर्जा प्राप्त है। शेष अन्य कई जातियॉ है, जिन्हें कुछ ही जिलो में जनजाति होने का दर्जा प्राप्त है, जैसे गोंड, धूरिया, नायक, ओझा, पठारी और राजगोंड को महाराजगंज, सिद्धार्थ नगर, बस्ती, गोरखपुर, देवरिया, मऊ, आजमगढ़, जौनपुर, बलिया , गाजीपुर, वाराणसी, मिर्जापुर और सोनभद्र जिलो में ही जनजाति होने का दर्जा मिला हुआ है। इसी प्रकार खौरवार और खरवार को देवरिया, बलिया, गाजीपुर, वाराणसी और सोनभद्र जिलो में जनजाति मानी गयी है। पहाड़िया, वेगा, अगरिया, पतरी, भुइया, भुईयॉ समुदाय को केवल सोनभद्र जनपद में जनजाति का दर्जा दिया गया है। सहरिया को ललितपुर, पंखा और पनिका को सोनभद्र एवं मिर्जापुर, चेरो जाति को सोनभद्र एवं वाराणसी जनपद में ही जनजाति की श्रेणी में रखा गया है। [3]

जनजातियों को समाजशास्त्रियों द्वारा कई नामों से पुकारा गया है। ठक्कर बप्पा ने आदिवासी शब्द का प्रयोग किया, जबकि एल0पी0 विद्यार्थी ने जनजातियों को गिरिजन नाम से पुकारा है। बेरियर एल्पिन ने

जनजातियों को आदिम जाति कहा है। जसपाल ने जनजातियों को आदिवासी कहकर सम्बोंधित किया है। धुरिये द्वारा इन्हे पिछड़ा हिन्दू कहा गया है।[4] जनजाति व्यक्तियों का वह समूह है, जो निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास या विचरण करता है और किसी आदिम पुरूष से अपना उद्‌गम मानता है, जिनकी अपनी एक सामान्य संस्कृति है और आधुनिक सभ्यता के प्रभाओं से आज भी वंचित है। इम्पीरियल गजटियर ऑफ इण्डिया ने जनजातियों को परिभाषित करते हुए लिखा है कि'' जनजाति परिवारों का वह समूह है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक भाषा बोलते है तथा एक सामान्य क्षेत्र में रहते है या अपने को उसी क्षेत्र से सम्बंधित मानते है।''[5]

संविधान में अनुसूचित जनजातियों की कोई परिभाषा नही दी गयी है, लेकिन राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह प्रत्येक राज्य के राज्यपाल से परामर्श करके एक सूची बनाये। इसका उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 341–342 में किया गया है। संसद को इस सूची के पुनरीक्षण का अधिकार दिया गया है। अनुच्छेद 342(1) राष्ट्रपति किसी राज्य के राज्यपाल से परामर्श करके जनजातीय समुदायों या इनके भागो को अनुसूचित जनजातियों के रूप में अधिसूचित कर सकते है। परन्तु संसद को इस सूची के पुनरीक्षण का अधिकार दिया गया है। अनुच्देद 342(2) में संसद को किसी जनजातीय समुदाय या इनके भागों को अनुसूचित जनजातियों की सूची में शामिल करने या हटाने के लिए कानून बनाने की शक्ति दी गयी है।[6]

इस प्रकार किसी राज्य के सम्बन्ध में अनुसूचित जनजातियों का पहला विनिर्देश सम्बंधित राज्य सरकार के परामर्श से राष्ट्रपति के अधिसूचित आदेश से होता है। जिसका उल्लेख संविधान की पांचवी अनुसूची में किया गया है। राष्ट्रपति के आदेश को संसद ही अधिनियम के द्वारा संशोधन कर सकती है। किसी भी समुदाय को अनुसूचित जनजाति में शामिल करने के लिए निम्न मापदण्ड अपनाये जाते है[7]–

(i) मनुष्यों में आदिम लक्षणों के संकेत,

(ii) विशिष्ट संस्कृति,

(iii) भौगोलिक एकाकीपन

(iv) अपने या अन्य समुदाय के साथ स्वछन्द सम्पर्क में संकोच,

(v) पिछड़ापन।

हिन्दू धर्म ग्रन्थों में कार्य की दृष्टि से समाज को चार वर्णो–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्य एवं शूद्र में विभाजित किया गया है। शूद्र वर्ण को समाज में सबसे निम्न स्थान दिया गया। इसमें वे जातियॉ रखी गयी, जो निम्न कार्य करती थी। शूद्र वर्ण से कई जातियॉ निकली। इनमें जो जातियॉ समाज में सबसे निम्न कार्य जैसे सफाई और गन्दगी साफ करती थी उन्हे म्लेच्छ, अछूत या दलित नामों से सम्बोधित किया गया। इसी से अनुसूचित जाति या जनजाति की उत्पत्ति मानी जाती है।[8]

भारतीय समाज एवं संस्कृति को जनजातियॉ निराली छवि प्रदान करती है, भले ही उन्हे आदिवासी कहा जाता है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में अनुसूचित जनजातियों की संख्या 10, 42, 81, 034 है। यह देश की कुल जनसंख्या का 8.6 प्रतिशत है।[9] जनजातियों की अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। जनजातियों के 9,38, 162 व्यक्ति ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते है, जबकि मात्र 1,04,61,872 व्यक्ति ही शहरी क्षेत्रों में निवास करते है।[10]

उत्तर प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में भी अनुसूचित जनजातियॉ बिखरी हुई है, जो मुख्यतः तराई एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश में है। प्रदेश में डेढ़ दर्जन से अधिक जातियों को अनुसूचित जनजाति में रखा गया है। जिसमें 5 ही जनजातियॉ–थारू, बोक्सा, भेरिया, राजी और जौनसारी को सम्पूर्ण प्रदेश में जनजाति माना गया है, शेष

जातियों को कुछ ही विशेष जिलो में जनजाति का दर्जा प्राप्त है। प्रदेश में 2011 की जनगणना के अनुसार जनजातियों की संख्या 11,34,273 है।[11] यह प्रदेश की कुल जनसंख्या का 0.57 प्रतिशत है।

भारतीय समाज में जनजातियों को निम्न स्थान प्राप्त है, वे समाज की मुख्य धारा से अलग–थलग पड़े हैं। समाज की मुख्य धारा से जोड़ने के लिए संविधान में उनके लिए निम्न व्यवस्थाएँ की गयी है [12]

- किसी भी नागरिक के साथ जाति, धर्म, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर कोई भेद–भाव नही किया जायेगा। (अनुच्छेद–15)।
- संघ और राज्य की सेवाओं में अनुसूचित जनजाति की नियुक्ति के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। इसी आधार पर इन जातियों को केन्द्र की सरकारी सेवाओं में 7.50 प्रतिशत और उत्तर प्रदेश की सेवाओं में 2.00 प्रतिशत आरक्षण दिया गया है।
- जनजातियों के कल्याण के लिए योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए वित्तीय सहायता का उपबन्ध किया गया है (अनुच्छेद–275)।
- राज्य जनजातियों के युवाओं को शिक्षित्र करने के लिए विशेष सुविधा उपलब्ध करा रही है, जैसे छात्रवृत्ति और शुल्क प्रतिपूर्ति आदि (अनुच्छेद–335)।
- राष्ट्रपति जनजातियों के कल्याण के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति कर सकता है। (अनुच्छेद–338)।
- जनजातियों के विरूद्ध अत्याचार को रोकने के लिए ''अनुसूचित जाति एवं अनसूचित जनजाति अत्याचार रोकथाम अधिनियम 1989'' बनाया गया है। इसे 1990 में लागू किया गया।
- लोकसभा में जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित किये गये है। (अनुच्छेद–330) इस समुदाय के लिए 543 स्थानों में से 47 स्थान आरक्षित किये गये है।
- राज्य विधानसभाओं में जनजातियों के आरक्षण की व्यवस्था की गयी है (अनुच्छेद–332)।
- जनजातियों की जमीन को अन्य वर्गो द्वारा क्रय नही की जा सकती है, जबकि ये दूसरे वर्गो की भूमि को खरीद सकते है।
- केन्द्र द्वारा एक तीन सदस्यीय समिति बनायी गयी है, जिसका कार्य जनजातियों के कल्याण के लिए योजनाएँ बनाना, उसके कार्यो का अवलोकन करना तथा उससे सम्बंधित विषयों पर भारत सरकार को सलाह देना है।

अनसूचित जनजातियों की भाषा शैली, रहन–सहन, खान–पान, व्यवसाय अन्य समुदायों से कुछ अलग होता है। जिसके आधार पर इनकी सामाजिक स्थिति का अध्ययन किया जाता है। सरकारी सुविधाओं के द्वारा अब ये अपने को समाज की मुख्य धारा से जोड़ने का प्रयास कर रहे है। प्रदेश में अनुसूचित जनजातियों की सामाजिक स्थिति की निम्न विशेषताएँ दिखलायी दे रही है–

- जनजाति परिवारों का एक समूह होता है, जो किसी विशेष गोत्र या टोटम द्वारा एक सूत्र में बधे होते है।
- जनजातियों का एक निश्चित भू–क्षेत्र होता है। जो जनजातियॉ घुमन्तू होती है, वह भी प्रायः एक निश्चित क्षेत्र में भ्रमण करती है और उससे उनका लगाव होता है।
- जनजाति के लोग अपने पड़ोसियों के समान भाषा बोलते है, जिससे वे आपस में बातचीत करके दूसरे के विचारों को जान सकते है।

- प्रदेश की प्रत्येक जनजाति में विवाह, व्यवसाय और लेन–देन परम्परागत आधार पर किये जाते है।
- प्रत्येक जनजाति में ऊंच–नीच का अभाव होता है। वे अपने को केवल जनजाति मानते है। उनके द्वारा अपनी जनजाति में ही प्रायः खान–पान, विवाह एवं सामाजिक साहवास किया जाता है।
- जनजातियों का अपना एक संगठन होता है, जिसका संचालन जनजातीय पंचायत द्वारा किया जाता है।
- जनजातियों की अपनी धार्मिक व्यवस्था होती है। ये आदिम धर्म को मानते हुए देवी–देवताओं में विश्वास करते है। भूत–प्रेत आत्माओं में ये आस्था रखते है।
- जनजाति के लोग विकास एवं सामाजिक दृष्टि से काफी पिछड़े हुए है । इनका आदिम व्यवसाय जंगलो में शिकार करना, लकड़ी को प्राप्त करके विक्री करना, मधु निकालना और कृषि के कार्य करने तक सीमित है। कुछ जनजातियॉ जंगलो में कन्द–मूल फल से ही अपना पेट भरती है। ये लोग प्रायः मांसाहारी होते है।

उत्तर प्रदेश में जनजातीय समुदायों के पिछड़ेपन के प्रमुख कारण कई हैं, जो उनके सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक विकास में बाधा डालते हैं। ये समुदाय राज्य की मुख्यधारा से कटे हुए हैं, जिसके कारण वे विभिन्न चुनौतियों का सामना करते हैं।

यहां उत्तर प्रदेश में जनजातियों के पिछड़ेपन के प्रमुख कारण

1 शैक्षिक पिछड़ापन

शिक्षा किसी भी समुदाय के विकास की कुंजी है, लेकिन जनजातियों में इसका गंभीर अभाव है

1. कम साक्षरता दर उत्तर प्रदेश में जनजातीय साक्षरता दर, विशेषकर महिलाओं में, राज्य के औसत से काफी कम है।
2. विद्यालयों की अनुपलब्धता दूरदराज के क्षेत्रों में प्राथमिक और उच्च विद्यालयों की कमी है, और जो विद्यालय हैं भी, उनमें शिक्षकों की उपस्थिति, गुणवत्ता और बुनियादी सुविधाओं का अभाव है।
3. मातृभाषा में शिक्षा का अभाव शिक्षा का माध्यम अक्सर जनजातीय बच्चों की मातृभाषा से अलग होता है, जिससे सीखने की प्रक्रिया बाधित होती है और स्कूल छोड़ने (ड्रॉपआउट) की दर बढ़ जाती है।
4. आर्थिक मजबूरी गरीबी के कारण, बच्चे अक्सर अपने परिवार की आजीविका में हाथ बंटाने के लिए जल्दी स्कूल छोड़ देते हैं।

2. आर्थिक और आजीविका से संबंधित समस्याएँ

जनजातीय समुदाय मुख्य रूप से वनोपज और कृषि पर निर्भर रहे हैं, लेकिन उनकी आजीविका के साधन लगातार सिकुड़ रहे हैं

1. वन अधिकारों का ह्रास : संरक्षित वनों और राष्ट्रीय उद्यानों की अवधारणाओं के प्रसार के कारण, जनजातियों को वनोत्पाद संग्रह (थ्वतमेज च्तवकनबम ब्वससमबजपवद), शिकार और झूम कृषि जैसी अपनी पारंपरिक आजीविका गतिविधियों से वंचित कर दिया गया है। इससे वे बेरोजगार हो गए हैं।
2. भूमि अलगाव और ऋणग्रस्तता :अशिक्षा और कानूनी ज्ञान की कमी के कारण बेईमान जमींदारों, साहूकारों और ठेकेदारों द्वारा उनकी उपजाऊ जमीनें हड़प ली गईं।
3. उच्च ब्याज दर पर लिए गए ऋण के कारण वे लगातार कर्ज के जाल में फंसे रहते हैं।

4. गैर–कृषि रोजगार की कमीरू उनके पास कौशल की कमी होती है, और उनके क्षेत्रों में कृषि के अलावा अन्य उद्योगों का विकास बहुत कम हुआ है, जिससे बेरोजगारी बढ़ी है।

3. स्वास्थ्य और पोषण की कमी

1. बुनियादी स्वास्थ्य सेवाओं का अभावः जनजातीय क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों (च्भ्े) की कमी, चिकित्साकर्मियों की अनुपस्थिति, और दवाइयों एवं टीकों की अपर्याप्त आपूर्ति है।
2. कुपोषण : गरीबी और आहार में विविधता की कमी के कारण कुपोषण और एनीमिया की समस्या व्यापक रूप से फैली हुई है, खासकर बच्चों और महिलाओं में।
3. जागरूकता की कमी : स्वच्छ पेयजल, स्वच्छता और स्वास्थ्य संबंधी आधुनिक जानकारी के अभाव में वे आसानी से संक्रामक रोगों का शिकार हो जाते हैं।

4. सामाजिक और सांस्कृतिक पृथक्करण

- मुख्यधारा से अलगाव : अधिकांश जनजातियाँ दूरस्थ और दुर्गम क्षेत्रों में निवास करती हैं, जिसके कारण वे आधुनिक विकास, बाजार और सरकारी कल्याणकारी योजनाओं की सूचना से कटे रहते हैं।
- रूढ़िवादिता और अंधविश्वास : बाहरी दुनिया से कम संपर्क होने के कारण रूढ़िवादिता, जादू–टोना और अंधविश्वास का प्रभाव अधिक है, जो प्रगतिशील विचारों को अपनाने में बाधा डालता है।
- भाषाई और सांस्कृतिक अंतर : उनकी अपनी अनूठी भाषाएँ, बोलियाँ और जीवनशैली होती है, जिसका सम्मान करते हुए विकास योजनाओं को लागू नहीं किया जाता, जिससे वे असुरक्षित महसूस करते हैं।

5. प्रशासनिक और संस्थागत कारण

- कमजोर कार्यान्वयन : केंद्र और राज्य सरकार द्वारा जनजातियों के लिए शुरू की गई कल्याणकारी योजनाओं (जैसे छात्रवृत्ति, आरक्षण) का प्रभावी कार्यान्वयन नहीं हो पाता है।
- जागरूकता की कमी : अशिक्षा के कारण, जनजातीय समुदाय को यह जानकारी ही नहीं होती कि उनके लिए कौन–कौन सी सरकारी सहायता या संवैधानिक अधिकार उपलब्ध हैं।
- प्रशासनिक उदासीनता : सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा सहयोग और संवेदनशीलता की कमी भी अक्सर योजनाओं का लाभ उन तक पहुंचने में बाधा डालती है।

इन सभी कारणों के संयोजन से उत्तर प्रदेश में जनजातीय समुदाय सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक हर मोर्चे पर पिछड़ापन झेल रहा है। उन्हें मुख्यधारा में लाने के लिए एक समावेशी और संवेदनशील नीति की आवश्यकता है, जो उनके सांस्कृतिक पहचान का सम्मान करे।

निष्कर्षतः प्रदेश की अनुसूचित जनजातियॉ काफी पिछड़ी हुई है। प्रायः एक जनजाति समूह का दूसरे जनजाति समूह से सम्पर्क नहीं के बराबर होता है, साथ ही किसी विशेष क्षेत्र में रहने वाला समूह दूसरे क्षेत्र में रहने वाले से बहुत ही कम सम्पर्क होता है, भले ही वह उसी समुदाय का सदस्य क्यों न हो। अतः किसी दूसरे भू–क्षेत्र में रहने वाला अपनी ही जनजाति का सदस्य सामाजिक दृष्टि से काफी अलग होता है।

संदर्भ सूची–

1. सिंह, नामवर (1990) आलोचना और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ – 220
2. वर्मा डॉ0 महेन्द्र प्रताप : स्वतन्त्रता आन्दोलन वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ0–262
3. मेयर लूसी : सामाजिक नृविज्ञान की भूमिका, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना (1973)
4. त्रिपाठी, प्रभात (2005) बाजार और भाषा, लोक भारती, इलाहाबाद, पृष्ठ – 198
5. मिश्र, रमेश हिंदी समाज और उपभोक्ता संस्कृति, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पृष्ठ – 250
6. देवी, गणेश (2010) साहित्य का समाजशास्त्र वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ – 230
7. मुखर्जी, अमिताभ (एवित मति के स्थान पर संभवतः) (1998). संस्कृति का विनाश (Culture Destruction] Routledge edition). लंदन: रूटलेज, पृष्ठ–180
8. मिश्र, रवीन्द्रनाथ (2012) नया बाजार, नई भाषा, मध्य भारत प्रकाशन, भोपाल, पृष्ठ – 205
9. मिश्र, अरुण कुमार (2015) मीडिया, बाजार और भाषा, साहित्य भवन, प्रयागराज, पृष्ठ–190
10. पाटिल, चंद्रकांत (2016) संचार माध्यम और भाषा, लोकवाणी प्रकाशन, मुंबई, पृष्ठ – 215
11. जनगणना 2011 भारत सरकार

JSECR, Vol. 11, No. 22, Jan.-June, 2025 ISSN : 2394-2878
Peer Reviewed Journal, Impact Factor: 9.0 (IIFS)

खरवार जनजाति की सामाजिक–सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन के बदलते प्रतिमान : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. प्रतिमा गोंड
सह आचार्य, समाजशास्त्र विभाग,
महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
डॉ. सुभाष कुमार
सहायक आचार्य, (अतिथि विद्वान), समाजशास्त्र विभाग,
शासकीय कला एवं विज्ञान महाविद्यालय, ताला, मैहर (मध्य प्रदेश)

सारांश
प्रस्तुत शोध पत्र "खरवार जनजातिः सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन एवं धार्मिक जीवन के बदलते प्रतिमान " पर आधारित है जो सोनभद्र क्षेत्र की एक प्रमुख आदिवासी संप्रदाय है। इस अध्ययन में पारंपरिक जीवनशैली, धार्मिक आस्थाएं, सामाजिक संगठन, विवाह प्रथाएं और लोकसंस्कृति की गहन समीक्षा की गई है। शोध में यह स्थापित किया गया है कि खरवार जनजाति का जीवन कृषि, पशुपालन, सामूहिक श्रम और स्थानीय धार्मिक विश्वासों पर आधारित था। शिक्षा, औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, सरकारी नीतियों और बाजार अर्थव्यवस्था के प्रभाव से इस समाज में सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन तेजी से हुए हैं, जिनमें परिवार संरचना, पंचायत व्यवस्था, विवाह प्रथाएं, भाषा और लोकपरंपराओं में महत्वपूर्ण बदलाव शामिल हैं। पारंपरिक सामुदायिक जीवन अब बदल रहा है, परंतु आदिवासियों की सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक एकता को बनाए रखने की चुनौतियां स्पष्ट हैं। यह शोध खरवार समाज की सांस्कृतिक विरासत और उसके समकालीन बदलावों की समझ को गहरा करता है, जो सामाजिक नीतियों और जनजातीय विकास कार्यों के लिए मार्गदर्शक हो सकता है। इस इस परियोजना कार्य शोध कार्य के सफल निष्पादन हेतु हम इंस्टीट्यूशंस ऑफ एमिनेंस, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं जिनके द्वारा इस शोध कार्य के लिए आवश्यक वित्तीय सहयोग प्रदान किया गया जिसके कारण यह शोध कार्य सार्थक रूप से संभव हो पाया । इस शोध कार्य से संबंधित एक शोध पत्र प्रकाशन हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है।

मुख्य शब्द – खरवार जनजाति, सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन, आदिवासी जीवनशैली, विवाह प्रथा, लोकसंस्कृति, पंचायत व्यवस्था, कृषि और पशुपालन, शिक्षा और आधुनिकरण, भाषा और पहचाना, सोनभद्र क्षेत्र, अनुसूचित जाति एवं जनजाति, सामाजिक संगठनों का प्रभाव, आदिवासी पहचान।

प्रस्तावना

भारत की जनजातीय समाज व्यवस्था बहुलतावादी सांस्कृतिक परंपराओं की धरोहर है। प्रत्येक जनजाति की अपनी विशिष्ट जीवनशैली, सांस्कृतिक मान्यताएँ, आस्था–विश्वास और परंपराएँ होती हैं। उत्तर प्रदेश के दक्षिण–पूर्वी क्षेत्र, विशेषकर सोनभद्र ज़िले में रहने वाली खरवार जनजाति विंध्य पर्वतीय क्षेत्र की एक प्रमुख आदिवासी जनजाति है। परंपरागत रूप से यह समुदाय जंगल पर आधारित जीवन, कृषि, पशुपालन और प्राकृतिक संसाधनों के सहारे अपना निर्वाह करता रहा है। इनके रीति–रिवाज, पर्व–त्योहार, विवाह–पद्धति, बोली–भाषा, नृत्य–संगीत आदि एक अलग पहचान बनाए हुए थे किन्तु विगत कुछ दशकों में संस्कृतिकरण, औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, शिक्षा का प्रसार, प्रवासन, सरकारी योजनाओं,बाज़ारिकरण जैसे कारकों ने इनके सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन में गहरे परिवर्तन लाए हैं। पारंपरिक जीवनशैली और सांस्कृतिक प्रथाओं पर आधुनिक मूल्यों, रोजगार संबंधी दबाव और बाहरी संस्कृतियों का असर दिखाई देने लगा है। इस अध्ययन का उद्देश्य इन परिवर्तनों की प्रकृति, कारण और प्रभाव का विश्लेषण करना है ताकि खरवार समुदाय की

वर्तमान स्थिति को समझा जा सके और उनके सांस्कृतिक संरक्षण तथा सामाजिक विकास के लिए उपयोगी सुझाव दिए जा सकें।

साहित्य समीक्षा

चन्द्र मोहन पालीवाल (1986)[1] ने आदिवासी क्षेत्रों और वहाँ निवास करने वाले समुदायों पर व्यापक अध्ययन किया है। उन्होंने विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में निवास करने वाले आदिवासियों के साथ–साथ मुख्यतः आदिवासी ग्रामों में रहने वाले समुदायों का तुलनात्मक विश्लेषण किया। इस अध्ययन में राष्ट्रीय स्तर पर आदिवासी विकास नीतियों तथा मध्य प्रदेश में चल रही आदिवासी विकास गतिविधियों का विशेष रूप से मूल्यांकन किया गया। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत ट्राइबल सब–प्लान के माध्यम से राज्य शासन के विभिन्न विभागों को आदिवासी विकास प्रयासों से जोड़ने और उनके समन्वित विकास का प्रयास किया गया। इस प्रक्रिया में परिवारों की जीवनशैली, जीवन–स्तर तथा उनके व्यय व्यवहार का विश्लेषण भी सम्मिलित किया गया। अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर आदिवासी विकास को गति प्रदान करने के लिए "आदिवासी विकास संरक्षण" नामक विशेष योजना प्रारूप का सुझाव प्रस्तुत किया गया।

टेकामाही वर्मा (1992)[2] ने अपने अध्ययन में सरकार और कानून से जुड़े मुद्दों पर चर्चा की है। उन्होंने जातियों में समय–समय पर हुए परिवर्तनों और उन पर लगाए गए कुछ प्रतिबंधों पर प्रकाश डाला है। धर्म और संस्कृति को नए रूप में विस्तार से उल्लेखित किया गया है। अपने शोधकार्य में उन्होंने स्त्रियों की स्थिति, भारतीय पारंपरिक ग्रामीण समाज में हो रहे परिवर्तनों तथा उनके समक्ष उपस्थित प्रमुख समस्याओं जैसे जाति–व्यवस्था और उसके प्रशासन से जुड़े पहलुओं पर भी विचार किया है। साथ ही, उन्होंने सामाजिक गतिशीलता पर भी अनेक बिंदुओं को समाहित किया है।

जनगणना 1961 के अनुसार विभिन्न अनुसूचित जातियों की जनसंख्या प्रस्तुत की गई है। इसके अतिरिक्त, सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों से संबंधित वर्ष 1967 में एक रिपोर्ट प्रकाशित की गई, जिसके आधार पर नए आँकड़े भी उपलब्ध कराए गए हैं।

राकेश कुमार तिवारी (1990)[3] ने अपने विचार आदिवासी समाज में हो रहे आर्थिक परिवर्तनों के संबंध में व्यक्त किए हैं। उनका मानना है कि अनुसूचित जनजातियाँ केवल भारत की कुल जनसंख्या का एक बड़ा अनुपात ही नहीं हैं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी वे अन्य वर्गों की तुलना में अत्यधिक पिछड़ी स्थिति में हैं। यही कारण है कि जनजातियाँ अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं के मुद्दों पर भी गहन रूप से संवेदनशील रही हैं। परंपरागत जीवन शैली से बाहर निकलने की उनकी क्षमता सीमित रही है, जिसके चलते विकास के अनेक प्रयास अपेक्षित परिणाम नहीं दे पाए। लेखक का विचार है कि कुछ जनजातियाँ अन्य समुदायों की तुलना में आगे बढ़ सकती थीं लेकिन आंतरिक विविधताओं और अलग–थलग रहने की प्रवृत्ति के कारण उनकी स्थिति आज भी अविकसित बनी हुई है। विकास तभी संभव है जब कोई समुदाय स्वयं के प्रति सचेत हो और अपने अधिकारों तथा अवसरों के लिए संगठित होकर प्रयास करे।

योजना आयोग द्वारा जनजातीय विकास के लिए जो विशेष योजनाएँ बनाई जाती हैं, वे सामान्य विकास और गरीबी उन्मूलन जैसी नीतियों से भिन्न रहती हैं। फिर भी, जनजातियों के पिछड़ेपन के पीछे अनेक कारण हैं जिनमें प्रमुख कारण आर्थिक न होकर सांस्कृतिक और परंपरागत व्यवस्था द्वारा लगाया गया सामाजिक नियंत्रण है। इसी कारण उनका सामाजिक और आर्थिक विकास अब तक अपूर्ण ही बना हुआ है।

नारायण चौरे (1994)[4] ने आदिवासियों के हॉस्टल से संबंधित विषय पर चर्चा की है। उन्होंने जनजातीय समाज की विविधतापूर्ण संस्कृति और उनकी समस्याओं का विश्लेषण विभिन्न दृष्टिकोणों से किया है। प्राचीन काल से ही ग्रामीण तथा जनजातीय संस्कृति में सामूहिकता का महत्व रहा है, जिसका प्रमाण हमें प्राचीन ग्रंथों से मिलता है। वैदिक साहित्य की समीक्षा करने पर स्पष्ट होता है कि उस समय जनजातियों ने अपने विशिष्ट स्वरूप को कायम रखा, लेकिन उनका स्तर अन्य आर्यों की तुलना में अपेक्षाकृत निम्न था।

हॉस्टल (छात्रावास) व्यवस्था की उत्पत्ति आदिवासियों से जुड़ी है। प्रचलित मान्यता के अनुसार, इसकी शुरुआत राज्य द्वारा की गई थी। इसका मुख्य उद्देश्य था युवक एवं युवतियों को शिक्षा प्रदान करना और उन्हें सभ्य एवं संगठित बनाना, ताकि वे ग्रामीण जीवन में जिम्मेदार नागरिक के रूप में अपनी भूमिका निभा सकें। इस संदर्भ में लेखक का मत है कि इस संस्था का पूर्ण स्वरूप तब ही प्रभावी होगा जब इसे चलचित्रों के माध्यम

से प्रस्तुत कर भारतीय समाजशास्त्रीय अध्ययन का हिस्सा बनाया जाएगा। लेखक का यह भी मानना है कि आज भी संभवतः कुछ नगर–परिवेश के जनजातीय समूहों में हॉस्टल परंपरा जीवित है, अथवा पुनः जीवित हो उठने की संभावना बनी हुई है।

जैनब बानू (2002)[5] ने आदिवासी समुदायों के संदर्भ में राजनीतिक पहचान और सहभागिता पर कार्य किया है। उनका मानना है कि राजनीतिक प्रक्रिया में आदिवासी समाज की भागीदारी सीमित किन्तु महत्वपूर्ण रूप से देखी जा सकती है। विशेषतः अनुसूचित जनजातियों में यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से ही दिखाई देती है, क्योंकि वे प्रायः दूरस्थ गाँवों या जंगलों में निवास करते हुए एक अलग जीवन–शैली बनाए रखते आए हैं।

आदिवासी समाज पर हुए अध्ययनों में सामान्यतः सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक पहलुओं को प्राथमिकता दी गई है, किंतु उनकी राजनीतिक सक्रियता और नेतृत्व की भूमिका का अध्ययन अपेक्षाकृत कम हुआ है। जेनब बानू ने इन्हीं आयामों को अपने अध्ययन में विश्लेषित किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत में राजनीतिक सहभागिता किसी एक विशेष जाति पर आधारित अधिकार नहीं है, बल्कि यह नागरिकता और सार्वभौमिक मताधिकार से संचालित है।

अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आदिवासी समुदाय के लोग इस अधिकार का प्रयोग मुख्यतः वोट बैंक के रूप में करते रहे हैं। वस्तुतः वे राजनीतिक सहभागिता के निर्धारित दायरे तक ही सीमित होते हैं, और अधिकांश राजनीतिक संस्थाएँ तथा संगठन उन्हें सक्रिय नेतृत्व की भूमिका दिए बिना केवल समर्थन आधार के रूप में इस्तेमाल करते आए हैं।

पी. आर. नायडू (1997)[6] का मत है कि आदिवासी समाज की जीवन–शैली, सामाजिक संगठन, अर्थव्यवस्था और संस्कृति सभी कुछ परंपरागत रूप से परस्पर गहराई से जुड़े हुए हैं। यद्यपि यह सही है कि आदिवासी समुदायों में अधिकांश लोग निरक्षर हैं, फिर भी वे अपनी आवश्यकताओं को प्राकृतिक संसाधनों से प्राप्त कर, उन पर निर्भर रहते हुए जीवन जीते हैं। उनके जीवन में शोषण की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती और पर्यावरण की सुरक्षा में उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। लेखक का कहना है कि यह अत्यंत विडंबनापूर्ण है कि सरकार और राजनीतिक दलों ने आदिवासी उत्थान के लिए अरबों रुपए खर्च करने के बावजूद उन्हें आज भी पिछड़ेपन और गरीबी से ऊपर नहीं उठा पाए हैं। अनुसूचित जनजातियों के लिए अनेक अधिकार प्रदान किए गए और कई योजनाएँ बनाई गईं, लेकिन लेखक का मानना है कि वास्तविक विकास तभी संभव होगा जब उनकी परंपरागत कमजोरियों और अवरोधों को समाप्त करने के ठोस प्रयास किए जाएँगे।

नायडू ने अपनी साहित्य समीक्षा में यह सुझाव दिया है कि सरकार, राजनीतिक दलों, स्वयंसेवी संस्थाओं और अकादमिक शोध संस्थानों को मिलकर नई रणनीतियाँ बनानी होंगी, ताकि आदिवासियों की समस्याओं का प्रभावी समाधान खोजा जा सके। गरीबी, शिक्षा का अभाव, बेरोजगारी, विस्थापन, मद्यपान, और विभिन्न राज्यों की भिन्न मांगों जैसी कई समस्याएँ हैं जिन्हें विशेष ध्यान देकर दूर करना आवश्यक है। उनके अनुसार ये समस्याएँ केवल वर्तमान की ही नहीं बल्कि भविष्य की चुनौतियाँ भी बनी रहेंगी।

आशीष भार्गव (2002)[7] ने लोक लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण और जनजातीय सशक्तिकरण पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में पंचायत राज के माध्यम से लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को आम जनता तक पहुँचाया जा सकता है। वास्तव में, लोकतंत्र को जमीनी स्तर पर स्थापित करने में पंचायत राज प्रणाली एक प्रभावी माध्यम है। पंचायती राज व्यवस्था में स्थानीय लोगों की शासन में भागीदारी सुनिश्चित होती है, क्योंकि वे अपनी समस्याओं से निकटता से जुड़कर परिचित रहते हैं और यह भलीभाँति समझते हैं कि उनकी समस्याओं का समाधान किस प्रकार किया जा सकता है। इस प्रकार वे अपने क्षेत्र में प्रशासनिक और विकासात्मक गतिविधियों में तुलनात्मक रूप से अधिक समझ रखते हैं।

भार्गव का मानना है कि पंचायत राज संस्थाओं के माध्यम से स्थानीय जनता को स्थानीय शासन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भागीदारी और प्रशासन का प्रशिक्षण सहज ही प्राप्त हो जाता है। स्थानीय स्तर पर यह अनुभव प्राप्त करने के बाद, समय के साथ, वही लोग विधानमंडल और संसद में जनप्रतिनिधियों के रूप में अपने समाज और राष्ट्र की सेवा करने में सक्षम हो सकते हैं।

आर. सी. मिश्रा और ए. सी. दुबे (2002)[8] ने अपने शोध पत्र में सोनभद्र के खरवार और बैगा जनजातियों में अंतर–सांस्कृतिक संप्रेषण की प्रक्रिया पर विशेष ध्यान केंद्रित किया। उनके अनुसार सामाजिक और सांस्कृ

तिक परिवर्तन एक वैश्विक घटना है, जिसे संसार के लगभग सभी समाजों में देखा जा सकता है। कुछ परिवर्तन समाज की आंतरिक गतिशीलता के कारण उत्पन्न होते हैं, जबकि अन्य बाहरी कारकों से प्रेरित रहते हैं। अंतःसांस्कृतिक संप्रेषण और वर्तमान सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तनों को समझने के लिए हाल के वर्षों में अनेक शोध कार्य किए गए हैं, विशेष रूप से विपन्न समाजों के संदर्भ में।

लेखकों ने अपने अध्ययन हेतु सोनभद्र जनपद की खरवार और बैगा जनजातियों का चयन करते हुए अंतःसांस्कृतिक संप्रेषण की व्याख्या के लिए बेरी का मॉडल अपनाया। इस अध्ययन में यह पाया गया कि इन दोनों जनजातियों में अंतःसांस्कृतिक संप्रेषण की प्रवृत्ति समान रूप से विद्यमान है। किंतु तुलनात्मक रूप से देखा गया कि खरवार जनजाति का बाहरी समाज से संपर्क बैगा जनजाति की अपेक्षा अधिक गहरा और सघन है। इस कारण खरवार समाज में आत्मसात और एकता की प्रवृत्ति अधिक दिखाई दी, जबकि बैगा जनजाति अपेक्षाकृत अलग पहचान और विशिष्ट जीवनशैली पर अधिक बल देती रही। निष्कर्षस्वरूप शोधकर्ताओं ने यह प्रतिपादित किया कि सांस्कृतिक संपर्क और अंतर–सांस्कृतिक संप्रेषण की प्रकृति ही इन जनजातियों में विशिष्टता और अलगाव की प्रवृत्तियों को जन्म देती है।

माली गाढ़वी (2008)[9] ने विमुक्त जातियों पर विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि विमुक्त जाति शब्द का संबंध उन जनजातियों से है जिन्हें मूलतः वर्ष 1871 के आपराधिक जनजाति अधिनियम के अंतर्गत अपराधी जातियाँ घोषित कर सूचीबद्ध किया गया था। यह अधिनियमित व्यवस्था न केवल इन जातियों को कलंकित करने वाली थी बल्कि इन्हें किसी भी प्रकार की सुविधाओं अथवा संरक्षण से वंचित भी रखती थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत किसी भी जाति को 'अपराधी जनजाति' घोषित कर दिए जाने के बाद उस जाति के प्रत्येक परिवार के सदस्यों का पंजीकरण स्थानीय मजिस्ट्रेट के साथ अनिवार्य हो जाता था। पंजीकरण न करवाने की स्थिति में भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत उनके विरुद्ध आपराधिक कार्यवाही की जाती थी।

बाद में वर्ष 1952 में अपराधी जनजाति अधिनियम को समाप्त कर दिया गया, किंतु तत्पश्चात इसे स्वतः अपराधी जनजाति अधिनियम के रूप में पुनः अधिनियमित किया गया। वर्ष 1959 में इन जातियों को पुनः पेशेवर अपराधियों के रूप में वर्गीकृत किया गया। वस्तुतः इन समुदायों को उनकी पारंपरिक जीविका अथवा व्यवसाय के आधार पर नहीं बल्कि जन्म से ही अपराधी मानकर चिह्नित कर दिया गया, जो सामाजिक न्याय और मानवाधिकारों की दृष्टि से अत्यंत त्रुटिपूर्ण व्यवस्था थी।

गाढ़वी के अनुसार, इन विमुक्त (पूर्व अपराधी घोषित) समुदायों को आज भी सामाजिक पहचान के संकट का सामना करना पड़ रहा है। संयुक्त राष्ट्र संगठन के हस्तक्षेप और मानवाधिकार संगठनों के दबाव पर भारत सरकार को यह स्पष्ट घोषणा करनी पड़ी कि किसी भी जाति अथवा समुदाय को केवल जातिगत आधार पर अपराधी घोषित करना अन्यायपूर्ण है। साथ ही, विमुक्त जातियों एवं घुमंतु जनजातियों के जीवन–स्तर में सुधार लाने की प्रक्रिया हेतु ठोस कदम उठाने का निर्णय लिया गया।

इस संदर्भ में 9 मार्च 2007 को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा भारत सरकार को यह निर्देशित किया गया कि औपनिवेशिक आपराधिक जनजाति अधिनियम की मानसिकता को पूरी तरह समाप्त किया जाए और विमुक्त एवं घुमंतु जातियों को सामाजिक मुख्यधारा में पुनर्स्थापित करने हेतु ठोस कार्यनीतियाँ बनाई जाएँ।

आर. सी. मिश्रा (2011)[10] ने उत्तर प्रदेश राज्य के चुनार तहसील, जनपद–मिर्जापुर के नौगढ़ क्षेत्र में खरवार जनजाति पर गहन अध्ययन किया। उनका मुख्य उद्देश्य खरवार समाज की आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक गतिविधियाँ तथा अंतर–सांस्कृतिक संप्रेषण की अवस्था को समझना था। शोधकर्ता का मत है कि सामान्यतः खरवार जनजाति सरल एवं परंपरागत जीवन जीती है। भले ही इन्हें अनुसूचित जनजाति के रूप में वर्गीकृत किया गया है, तथापि इनका जातीय जीवन–चक्र अभी भी अपेक्षाकृत पारंपरिक स्वरूप में विद्यमान है।

इस अध्ययन से प्राप्त रिपोर्ट में उल्लेख किया गया कि विभिन्न समयांतरालों में तथ्य–संग्रहण किया गया। यह तथ्य–संग्रह गैर–सरकारी संगठनों के माध्यम से संपन्न हुआ। सर्वप्रथम वर्ष 1992 में 200 खरवार परिवारों का चयन कर फील्डवर्क किया गया। तत्पश्चात वर्ष 2002 में उन्हीं 9 गाँवों के उन्हीं परिवारों पर पुनः फील्ड–सर्वेक्षण किया गया। 1992 में प्राप्त आँकड़ों को आधार वर्ष मानकर उनके साथ 2002 के आँकड़ों की तुलना की गई।

इस पद्धति के अंतर्गत यह आकलन किया गया कि इन दस वर्षों के अंतराल में किस प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिवर्तन घटित हुए। अध्ययन के दूसरे चरण में कुल 200 परिवारों का पुनः चयन किया गया और तुलनात्मक विश्लेषण किया गया। सर्वेक्षण में उत्तरदाताओं की आयु–सीमा 26 से 40 वर्ष निर्धारित की गई। इस प्रकार, अध्ययन से खरवार समाज में एक दशक के अंतराल में घटित परिवर्तनों के संबंध में ठोस एवं विश्वसनीय जानकारी प्राप्त हुई।

परिवार और सामाजिक संरचना

खरवार जनजाति की सामाजिक व्यवस्था सामूहिकता और सहयोग पर आधारित रही है। परंपरागत रूप से संयुक्त परिवार प्रचलित थे, जिनमें कई पीढ़ियाँ एक ही छत के नीचे रहती थीं। बुजुर्ग पुरुष परिवार के मुखिया माने जाते थे और उनका निर्णय सभी सदस्यों के लिए मान्य होता था। सामाजिक जीवन में ग्रामसभा या सामुदायिक पंचायत की महत्वपूर्ण भूमिका थी। पंचायत आपसी विवाद निपटाने, विवाह–संबंध तय करने और सामाजिक अनुशासन बनाए रखने का कार्य करती थी। पंचों का निर्णय अंतिम माना जाता था और समुदाय में उसका पालन अनिवार्य समझा जाता था। इस प्रकार, सामाजिक नियंत्रण औपचारिक कानून व्यवस्था से अधिक सामुदायिक परंपराओं और रीति–रिवाजों पर आधारित था। समुदाय के भीतर परस्पर सहयोग और सहभागिता की परंपरा मजबूत थी। कृषि कार्य, घर निर्माण, विवाह या धार्मिक अनुष्ठानों में सामूहिक श्रम और सहभागिता दिखाई देती थी।

विवाह प्रथा

खरवार जनजाति में विवाह को केवल दो व्यक्तियों का संबंध नहीं बल्कि दो परिवारों और दो कुलों का सामाजिक बंधन माना जाता था। विवाह पारंपरिक रूप से समुदाय के भीतर होता था। वर–वधू का चयन प्रायः माता–पिता और परिवार के बुजुर्ग तय करते थे। दहेज प्रथा नगण्य थी। इसके स्थान पर कभी–कभी वर पक्ष द्वारा वधू पक्ष को प्रतीकात्मक उपहार या "लैगन" दिया जाता था। विवाह समारोह सामूहिकता और उत्सवधर्मिता से परिपूर्ण होते थे। नृत्य, गीत और ढोल–नगाड़ों की धुन विवाह का अहम हिस्सा थी। विवाह की विधियाँ अपेक्षाकृत सरल और पारंपरिक थीं, जिनमें स्थानीय देवताओं और पूर्वजों की पूजा की जाती थी। बहुविवाह पहले कभी–कभी देखा जाता था, विशेषकर यदि पहली पत्नी संतान न पैदा कर पाए, परंतु यह नियम नहीं बल्कि अपवाद था। विवाह का मूल उद्देश्य केवल सामाजिक–सांस्कृतिक परंपरा का निर्वाह ही नहीं, बल्कि वंश की निरंतरता और सामुदायिक संबंधों को प्रगाढ़ करना था।

त्योहार और अनुष्ठान

खरवार जनजाति का सांस्कृतिक जीवन ऋतु–चक्र और कृषि पर आधारित रहा है। उनके प्रमुख त्योहार और अनुष्ठान प्रकृति और धरती से गहरे जुड़े हुए हैं।

करमा पर्व – यह सामुदायिक उत्सव है जिसमें करम वृक्ष की पूजा की जाती है। युवा लड़के–लड़कियाँ नृत्य–गान करते हैं और पूरी रात उत्सव चलता है। इसे भाईचारे, प्रेम और समृद्धि का प्रतीक माना जाता है।

सोहराई पर्व – यह फसल कटाई के बाद मनाया जाता है। इसमें पशुओं की पूजा की जाती है और घरों को सजाया जाता है।

सरहुल – वसंत ऋतु में पेड़ों के फूल आने पर इसे मनाया जाता है। इसे धरती माता और प्रकृति के प्रति आभार प्रकट करने का पर्व माना जाता है।

जन्म और मृत्यु से जुड़े अनुष्ठान – जन्म पर "सोहर" गीत गाए जाते थे, वहीं मृत्यु पर सामूहिक शोक और विशिष्ट रीति–रिवाज निभाए जाते थे। इन त्योहारों का उद्देश्य केवल धार्मिक आस्था ही नहीं, बल्कि सामूहिक एकजुटता और सामाजिक बंधन को सुदृढ़ करना भी था।

भाषा और लोककला

खरवार जनजाति की अपनी स्थानीय बोली "कहारवाड़ी" तथा आस–पास की भाषाओं (भोजपुरी, अवधी, मगही) का प्रभाव देखने को मिलता है। परिवार और सामुदायिक जीवन में यह बोली प्रमुख थी। लोककला उनकी सांस्कृतिक पहचान का अहम हिस्सा रही है:

लोकगीत विवाह, त्योहार, फसल कटाई, जन्म आदि अवसरों पर विशेष गीत गाए जाते थे। सामूहिक नृत्य में युवक–युवतियाँ वृत्ताकार होकर ढोल–नगाड़ों की थाप पर नाचते थे।

कथाएँ और लोककथाएँ – वीरगाथाएँ, देवताओं की कहानियाँ और पूर्वजों की कथाएँ पीढ़ी–दर–पीढ़ी मौखिक परंपरा से आगे बढ़ाई जाती थीं। चित्रकला और हस्तशिल्प घरों की दीवारों पर पारंपरिक चित्रांकन और प्राकृतिक रंगों का प्रयोग। लोककला केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि सामुदायिक शिक्षा, इतिहास और परंपराओं को संरक्षित करने का माध्यम भी रही।

खरवार जनजाति का पारंपरिक सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन सामुदायिकता, सरलता और प्रकृति–निष्ठा पर आधारित था। संयुक्त परिवार, पंचायत व्यवस्था, सहज विवाह प्रणाली, प्रकृति–पूजक त्योहार और जीवंत लोककला उनकी पहचान थी। यह जीवनशैली न केवल सामाजिक एकजुटता का आधार थी, बल्कि प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण और सांस्कृतिक धरोहर के संवहन की महत्वपूर्ण कड़ी भी थी।

सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन में हुए परिवर्तन

खरवार जनजाति का पारंपरिक जीवन सामूहिकता, परंपरा और प्रकृति–निष्ठा पर आधारित था, किंतु आधुनिकता, शिक्षा, औद्योगिकीकरण, प्रवासन और सरकारी हस्तक्षेप के कारण इसमें गहरे बदलाव आए हैं। नीचे इन परिवर्तनों का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत है –

परिवार संरचना में बदलाव

पहले संयुक्त परिवार प्रणाली सामान्य थी, जिसमें कई पीढ़ियाँ एक साथ रहती थीं और उत्पादन व उपभोग सामूहिक रूप से होता था। आज आर्थिक दबाव, प्रवासन और शहरीकरण के प्रभाव से एकल परिवार प्रणाली प्रचलित हो रही है। ग्राम पंचायत और सामुदायिक सभा की परंपरा भी कमज़ोर हुई है। अब विवादों के समाधान के लिए सरकारी प्रशासन, पुलिस और न्यायालय पर निर्भरता बढ़ गई है। इस कारण सामुदायिक एकजुटता में कमी देखी जाती है।

विवाह प्रथा में परिवर्तन

शिक्षा और आधुनिक मूल्यों के प्रसार से विवाह संबंधों में बदलाव आया है। पहले जाति–समुदाय के भीतर ही विवाह होते थे, किंतु अब अंतर्जातीय विवाहों की घटनाएँ बढ़ी हैं। पहले विवाह सरल होते थे और दहेज प्रथा लगभग नगण्य थी। अब मुख्यधारा समाज के प्रभाव से दहेज की प्रथा प्रवेश कर चुकी है। विवाह अनुष्ठानों में पारंपरिक गीत, नृत्य और देव–पूजा का स्थान कम होता जा रहा है, और उसकी जगह आधुनिक बैंड–बाजे, DJ तथा बाज़ारू खर्च ने ले लिया है।

त्योहार और अनुष्ठान में परिवर्तन

पारंपरिक पर्व जैसे करमा, सोहराई, सरहुल पहले प्रमुख थे और पूरे गाँव की भागीदारी होती थी। आजकल मुख्यधारा के त्योहार जैसे दीवाली, होली, छठ अधिक महत्व प्राप्त कर चुके हैं। इससे सामुदायिक पहचान और सांस्कृतिक विशिष्टता प्रभावित हुई है। परंपरागत नृत्य और लोकगीत युवा पीढ़ी में कम लोकप्रिय हो गए हैं और केवल कुछ अवसरों पर ही देखे जाते हैं।

भाषा और बोली में परिवर्तन

खरवार जनजाति की स्थानीय बोली कहारवाड़ी/क्षेत्रीय बोलियाँ नई पीढ़ी में कम प्रचलित हो रही हैं। अब अधिकांश लोग हिंदी और भोजपुरी का प्रयोग करते हैं, विशेषकर शिक्षा और रोजगार की दृष्टि से। इसका परिणाम यह हुआ कि मातृभाषा का संरक्षण संकट में है और मौखिक परंपराओं का धीरे–धीरे क्षरण हो रहा है।

धार्मिक आस्था में परिवर्तन

पारंपरिक आस्था प्रकृति पूजा और पूर्वज पूजा पर आधारित थी लेकिन समय के साथ हिन्दू धर्म की मुख्यधारा की रीति–रिवाज और देवी–देवताओं की पूजा का वर्चस्व बढ़ गया है। कुछ क्षेत्रों में ईसाई मिशनरी गतिविधियों के प्रभाव से धार्मिक परिवर्तन भी देखने को मिलते हैं। इस बदलाव ने पारंपरिक आस्था–व्यवस्था और स्थानीय देवी–देवताओं की पूजा–पद्धति को कमजोर किया है।

शिक्षा और रोजगार

शिक्षा के प्रसार ने जनजाति के जीवन में सकारात्मक बदलाव लाए हैं। युवा अब सरकारी नौकरियों, निजी क्षेत्र और उद्यमिता में प्रवेश कर रहे हैं। पारंपरिक कृषि, शिकार और जंगल–आधारित आजीविका से दूरी बढ़ी है। शिक्षा ने सामाजिक जागरूकता और आत्मविश्वास बढ़ाया है, किंतु इससे पारंपरिक सांस्कृतिक ज्ञान की उपेक्षा भी हुई है।

प्रवासन

सोनभद्र जिला खनन और औद्योगिक गतिविधियों के लिए प्रसिद्ध है। कई खरवार युवक खदानों, बिजलीघरों और कारखानों में मजदूरी करते हैं या रोज़गार की तलाश में शहरी क्षेत्रों की ओर प्रवास करते हैं। प्रवासन से पारिवारिक ताना–बाना कमजोर हुआ है, महिलाएँ और बुजुर्ग गाँवों में अकेले रह जाते हैं। साथ ही, शहरी संस्कृति के प्रभाव से गाँव की पारंपरिक संस्कृति में भी परिवर्तन हो रहा है।

स्त्री की स्थिति

पारंपरिक रूप से महिलाएँ घरेलू और कृषि कार्यों तक सीमित थीं। आज शिक्षा और स्व–सहायता समूहों के कारण उनकी सामाजिक और आर्थिक भूमिका बढ़ी है। महिलाएँ आज छोटे आर्थिक कार्यों (मशरूम उत्पादन, हस्तशिल्प, पशुपालन) में सक्रिय हैं। पंचायत और स्थानीय संगठनों में अपनी भागीदारी दर्ज करा रही हैं। इससे उनका आत्मसम्मान और सामाजिक पहचान सुदृढ़ हुई है।

सारांशतः, खरवार जनजाति के सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन में हुए परिवर्तन द्विमुखी हैं। एक ओर यह बदलाव आधुनिकता, शिक्षा और विकास की ओर ले जाते हैं, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक क्षरण, परंपराओं की हानि और सामुदायिक एकजुटता में कमी जैसी चुनौतियाँ भी सामने लाते हैं। अतः आवश्यकता है कि इन परिवर्तनों को संतुलित रूप से समझा जाए और ऐसे उपाय किए जाएँ, जिनसे समुदाय अपनी सांस्कृतिक पहचान और परंपराओं को संरक्षित करते हुए आधुनिक जीवन में आगे बढ़ सके।

चित्रकला और हस्तशिल्प

घरों की दीवारों पर पारंपरिक चित्रांकन, मिट्टी या प्राकृतिक रंगों का प्रयोग, और हाथ से बने सजावटी उत्पाद जैसे बांस और लकड़ी के हस्तशिल्प उनके जीवन का हिस्सा थे। चित्रकला धार्मिक विश्वासों, कृषि जीवन और प्रकृति पूजक रीति–रिवाजों का प्रतिनिधित्व करती थी। हस्तशिल्प और चित्रकला आर्थिक आजीविका के साथ–साथ सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण का माध्यम भी थीं।

निष्कर्ष

खरवार जनजाति सोनभद्र जिले की एक प्रमुख आदिवासी समुदाय है, जिनकी पारंपरिक सामाजिक–सांस्कृतिक जीवनशैली कृषि, पशुपालन, सामूहिक श्रम, परंपरागत विश्वास, और स्थानीय भाषा एवं लोककला पर आधारित रही है। विगत दशकों में शिक्षा, औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, बाहरी प्रवास और सरकारी विकास नीतियों के प्रभाव से इनकी पारंपरिक जीवनधारा में गहरे परिवर्तन आए हैं। जहां पहले संयुक्त परिवार प्रणाली, समुदाय आधारित पंचायत और पारंपरिक विवाह प्रथाएँ प्रचलित थीं, वहीं अब एकल परिवार का प्रचलन बढ़ा है, पंचायत और जनजातीय नेतृत्व का स्थान सरकारी प्रशासन ने ले लिया है, और विवाह प्रथाओं में आधुनिकता के प्रभाव तथा बाजारवाद और दहेज जैसी प्रवृत्तियाँ सामने आई हैं। आर्थिक वजहों और रोजगार के अवसरों की तलाश में बड़े पैमाने पर युवा वर्ग का प्रवास हुआ है, जिससे सामूहिकता और सांस्कृतिक एकजुटता कमजोर पड़ी है। शिक्षा और महिला सशक्तिकरण के चलते महिलाओं की स्थिति में भी बदलाव आया है और अनेक महिलाएँ अब ग्राम संगठनों और स्वयं सहायता समूहों में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। भाषा और लोकसंस्कृति में भी स्पष्ट परिवर्तन देखा जा सकता हैकृस्थानीय बोली का स्थान धीरे–धीरे हिंदी और भोजपुरी जैसी प्रादेशिक भाषाएँ ले रही हैं, वहीं पारंपरिक लोकगीत, नृत्य और त्योहार अब सीमित दायरे में ही मनाए जाते हैं। धर्म और पूजा–पद्धति में भी बदलाव आया हैकृस्थानीय देवी–देवताओं के साथ–साथ मुख्यधारा के धार्मिक प्रतीकों और परंपराओं का समावेश बढ़ा है। कुल मिलाकर, यह स्पष्ट है कि खरवार समाज आधुनिक परिवर्तनों के प्रभाव में अपनी पारंपरिक सांस्कृतिक पहचान और सामुदायिक एकता को आंशिक रूप से खो रहा है, जबकि शिक्षा, रोजगार और नवाचार के नए अवसर भी उनके लिए उत्पन्न हुए हैं। अतः आज खरवार जनजाति का जीवन परिवर्तनशील अवस्था में हैकृएक ओर वे सामाजिक–सांस्कृतिक विरासत को बचाए रखने

के लिए संघर्ष कर रहे हैं, तो दूसरी ओर समकालीन विकास की मुख्यधारा में भी सम्मिलित होने का प्रयास कर रहे हैं।

सोनभद्र जिले की खरवार जनजाति, अपने विशिष्ट सामाजिक–सांस्कृतिक इतिहास और पारंपरिक जीवनशैली के लिए विख्यात रही है। इस जनजाति का मुख्य आधार कृषि और पशुपालन था, जिसका संचालन सामूहिक श्रम, स्थानीय संसाधनों और समुदाय–आधारित निर्णयों के द्वारा होता था। परिवार व्यवस्था प्राचीन काल से संयुक्त और समावेशी रही, जिसमें सभी सदस्य मिलकर सम्पत्ति, उत्पादन और सामाजिक कार्यों का संचालन करते थे। ग्राम पंचायतें और पारंपरिक जनजातीय नेतृत्व, समुदाय के विवादों का समाधान और सामाजिक व्यवस्थाओं का संचालन करते थे। पारंपरिक विवाह प्रणाली में गोत्र या वंश आधारित नियमों का पालन होता था, तथा सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन में त्योहार, अनुष्ठान, देवी–देवताओं की पूजा, लोकगीत और लोकनृत्य जैसी सामूहिक अभिव्यक्तियाँ केन्द्र में थीं। 'डक्खोवारी' जैसी स्थानीय बोली, लोककला, चित्रांकन और हस्तशिल्प इस जनजाति की पहचान के मूल तत्व थे।

राज्य एवं समाज के स्तर पर शिक्षा के प्रचार, औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, प्रवास तथा सरकारी योजनाओं के प्रवेश के कारण खरवार समाज के पारंपरिक जीवन में व्यापक परिवर्तन आया है। शिक्षा के विस्तार के साथ नई विचारधारा, आधुनिक मूल्यों, बाजारवाद और कर्मकांडी प्रवृत्तियों ने संयुक्त परिवार व्यवस्था को कमजोर कर दिया, और परिवारों में एकलता का प्रचलन बढ़ा दिया। पंचायत और पारंपरिक नेतृत्व की जगह अब प्रशासन, कोर्ट एवं पुलिस द्वारा विवादों का समाधान होता है। विवाह में बाजार और दहेज प्रथा का प्रवेश हुआ है, जिससे पारंपरिक गोत्र–आधारित विवाह व्यवस्था और सामुदायिकता कमजोर हुई है। त्योहार, अनुष्ठान और पूजा पद्धतियों में भी मुख्यधारा हिंदू धर्म और मीडिया उत्पादित संस्कृति का प्रभाव बढ़ता गया है। यही वजह है कि लोकगीत, नृत्य और लोककला केवल विशेष अवसरों या सीमित दायरों में ही देखी जाती है, स्थानीय बोली का स्थान हिंदी और भोजपुरी जैसी प्रादेशिक भाषाएँ ले रही हैं, और सांस्कृतिक विरासत का क्षरण हो रहा है।

आर्थिक दृष्टि से कोयला खनन, उद्योग और बाजार के विस्तार तथा रोजगार की तलाश ने बड़े पैमाने पर युवाओं को प्रवास के लिए प्रेरित किया। इससे गाँव में सामूहिक जीवन कमजोर हुआ है, और स्त्रियों तथा बुजुर्गों पर कृषि एवं घरेलू कार्यों की जिम्मेदारी बढ़ी है। प्रवास के कारण सामूहिकता और सांस्कृतिक एकता कमजोर पड़ रही है, पर साथ ही आधुनिकता और शिक्षा के प्रभाव में महिलाएँ अब ग्राम संगठनों, पंचायतों और स्वयं सहायता समूहों में सक्रिय भूमिका निभाने लगी हैं, जिससे उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में सकारात्मक बदलाव आया है। पारंपरिक देवी–देवताओं की पूजा के साथ अब मुख्यधारा की धार्मिक परंपराएँ भी जुड़ गई हैं; पूजा–पद्धतियों में बदलाव आया है, और त्योहारों में धार्मिक व सांस्कृतिक एकजुटता की जगह व्यक्तिगत अभिव्यक्तियाँ प्रबल हो गई हैं।

आज के परिवेश में खरवार समाज की पहचान दोराहे पर खड़ी है। एक ओर वे अपनी ऐतिहासिक सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने के प्रयास में हैं, तो दूसरी ओर समकालीन आर्थिक विकास, शैक्षिक अवसरों और प्रशासनिक व्यवस्था की मुख्यधारा में शामिल होने की कोशिश कर रहे हैं। इस स्थिति में सामुदायिक एकता, संस्कृति और परंपरा का संरक्षण चुनौती है, साथ ही नई शिक्षा, आर्थिक अवसर और सामाजिक हिस्सेदारी ने उनको नवाचार की दिशा भी प्रदान की है।

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सोनभद्र जिले के खरवार जनजातीय समाज के सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन में गहरे, बहुआयामी और निरंतर परिवर्तन हुए हैं। शिक्षा, प्रवास, औद्योगिकीकरण और वैश्विक संवाद के कारण उनकी सामूहिकता, लोकपरंपरा, परिवार व्यवस्था, भाषा, धर्म और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ परिवर्तनशील बनी हैं। बावजूद इसके, खरवार समाज न केवल बदलाव को स्वीकार कर रहा है, बल्कि आधुनिकता एवं विकास की राह पर भी अपनी सामुदायिक पहचान और सांस्कृतिक विरासत को बचाए रखने का सतत प्रयास कर रहा है।

संदर्भ ग्रंथ–

1. पालीवाल, चन्द्र मोहन (1986). आदिवासी हरिजनः आर्थिक विकास। नार्दन बुक सेन्टर, शुक्ला प्रिन्टिंग सर्विस, मौजपुर, दिल्ली।
2. वर्मा, टेकामाही (1992), 'बिहार के आदिवासी' मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
3. तिवारी, राकेश कुमार (1990). आदिवासी समाज में आर्थिक परिवर्तन। नार्दन बुक सेन्टर, नई दिल्ली।
4. चौरे, नारायण (1994). आदिवासियों के घोटुल। विश्व भारती प्रकाशन, धनवते चेम्बर्स, सीताबाड़ी, नागपुर।
5. बानू, जैनब (2002). राजनीतिक पहचान का संघर्ष एवं अनुसूचित जनजातियाँ। कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
6. नायडु, पी. आर (1997). भारत के आदिवासी विकास की समस्याएँ (प्रथम संस्करण)। राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
7. भार्गव, आशीष (2002). लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण एवं जनजातीय नेतृत्व। रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।
8. मिश्र, आर. सी., एवं चौबे, ए. सी (2002). खरवार और अग्रिया जनजाति समूहों का सांस्कृतिक अनुकूलन दृष्टिकोण, सोनभद्र जिले के संदर्भ में। शोध लेख, 14(2)।
9. गाढ़वी, माली (2008). अपराधमुक्त जनजातियाँः परिवर्तन के आयाम। कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
10. मिश्रा, आर. सी. (2011). छंदपुर क्षेत्र के गाँव एवं ग्रामवासी। आर. नारायणपुर बद्री (संपादक), रथिंकिन्ग विलेजेस, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, पृ. 87।

महिला सुरक्षा में संचार प्रौद्योगिकी की भूमिका : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

पूजा देवी
शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी
Poojadevi6242gmail- com

शोध सारांश :

प्रस्तुत शोधः– पत्र महिला सुरक्षा में संचार प्रौद्योगिकी की भूमिका के अध्ययन पर आधारित है। वर्तमान युग के विविध आविष्कारों ने सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी एक क्रांतिकारी कदम है, जो दुनिया की तस्वीर बदलने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।इसमें सामाजिक परिवर्तन एवं विकास लाने की क्षमता है। संचार प्रौद्योगिकी में महिलाओं की समान भागीदारी के बिना लैंगिक न्याय की संकल्पना अधूरी है। यह महिलाओं को सुरक्षा, जागरूकता, ज्ञान,रोजगार के अवसर, आत्मविश्वास व लोकप्रियता प्रदान करने में सहायता करती है। संचार प्रौद्योगिकी ने महिला सुरक्षा उपकरणों के उपयोग एवं विकास से महिलाओं में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न होगी और महिलाएं घर से बाहर जाते समय एवं कार्यस्थल पर अधिक सुरक्षित महसूस करेंगी। वस्तुतः महिलाएं सभी प्रकार के विषम परिस्थितियों से लड़ने एवं सुख–सुविधाए प्राप्त करने और लैंगिक न्याय पर आधारित एक सशक्त समाज के निर्माण में संचार प्रौद्योगिकी की भूमिका अति महत्वपूर्ण हो सकती है।

मुख्य शब्दः– संचार, प्रौद्योगिकी, उपकरण, सूचना, महिला, लैंगिक, सुरक्षा।

प्रस्तावना

महिला और पुरुष दोनों समान रूप से समाज के दो पहिओ की तरह कार्य करते हैं। और समाज को प्रगति की ओर ले जाते हैं। जेंडर समानता सुरक्षा सिर्फ एक शब्द या नारा नहीं है, बल्कि यह समाज की मूलभूत आवश्यकता भी है। ऐसे में समाज के सभी लोगों की जिम्मेदारी है की लड़कियों वह महिलाओं के लिए सुरक्षित व समावेशी शहर एवं सार्वजनिक स्थलों के विकास में अपना सहयोग दें और जहां लड़किया व महिलाएं हिंसा व हिंसा के भय से निडर होकर निर्भीकता पूर्वक विकास की मुख्य धारा से जुड़ सके। भारत में महिलाओं की सुरक्षा एक गंभीर समस्या बन गई है। आज महिलाओं की सुरक्षा (वूमेन सेफ्टी) की गारंटी देना असंभव है। क्योंकि छेड़छाड़, घरेलू हिंसा, बाल विवाह, एसिड से जलाने और बलात्कार की खबरें सोशल मीडिया और अखबारों में लगातार आ रही है। देश की आधी आबादी कहीं जाने वाली महिलाओं की सुरक्षा हम सब की प्राथमिकता है। महिलाओं को सुरक्षित माहौल देने के लिए, हमारे देश में सुरक्षित वातावरण बनाना होगा, जिसके लिए सभी को मिलकर काम करना चाहिए। हालांकि सरकार निगमो और व्यक्तियों सहित सभी को जिम्मेदारी उठानी होगी, यह कोई व्यक्तिगत मामला नहीं है। समाज में महिलाओं की सुरक्षा गिरती जा रही है। भारत में महिलाओं की सुरक्षा अब एक बड़ा मुद्दा बन गई है। बच्ची हो या औरत समाज में कोई भी सुरक्षित महसूस नहीं करती हैं। आवश्यकता है कि वर्तमान समाज में महिलाओं की सुरक्षा में आत्म रक्षा उपकरण एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

ऑल इंडिया रेडियो महिला कार्यक्रम में महिलाओं की सुरक्षा, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण, खाद्य और पोषक, वैज्ञानिक गृह प्रबंधन, महिला उद्यमिता, प्रौढ़ शिक्षा, शिक्षा, महिला सशक्तिकरण, लिंग संबंधी मुद्दो आदि के सामाजिक–आर्थिक विकास से संबंधित विषय शामिल है। विशेष कर कार्यक्रम लड़की के जन्म का

स्वागत करने के लिए एवं सामाजिक जागरूकता पैदा करने के लिए पूरे वर्ष में लड़कियों और बच्चों की स्थिति का महत्व प्रसारित किया जाता है। ये कार्यक्रम कानूनी साक्षरता के प्रचार के माध्यम से महिलाओं के अधिकारों और अधिकारों के बारे में सामाजिक जागरूकता पैदा करने का भी लक्ष्य है। विभिन्न पारस्परिक लोक रूपों का उपयोग ग्रामीण महिलाओं के दर्शकों के साथ संवाद करने के लिए किया जाता है।

महात्मा गांधी के अनुसार– "जिस दिन एक महिला रात में सड़कों पर स्वतंत्र रूप से चल सकेगी उस दिन हम कह सकते हैं,कि भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है।"

''महिलाओं की सुरक्षा एक बुनियादी मानव अधिकार है न की विशेषाधिकार।"

"महिलाओं की सुरक्षा न्यायपूर्ण समाज की आधारशिला है।"

नई संचार प्रौद्योगिकियों का महिलाओं की सुरक्षा और कल्याण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

महिला सुरक्षा एवं संचार प्रौद्योगिकी उपकरण

महिलाओं की सुरक्षा को किसी भी समाज की प्रमुख चिताओं में से एक रूप में उजाकर किया गया है। जहां कई महिलाएं विभिन्न सामाजिक सांस्कृतिक कारणो से उत्पीड़न, बलात्कार, छेड़छाड़ और घरेलू हिंसा जैसे विभिन्न सुरक्षा मुद्दों से निपट रही है। इंटरनेट ऑफ थिंग्स (Lot) दिन – प्रतिदिन की चिंताओं को कम करने और विभिन्न मामलों को संभालने में सहायता प्रदान करने के लिए एक आशाजनक तकनीक बन रही है। ट्रैकिंग और संचार प्रौद्योगिकी को सक्रिय करके ट्रांसमिशन लेयर में अलर्ट उत्पन्न किया जाता है। पीड़ित के हरकतों को पकड़ने के लिए GPS, GSM रास्वेरी और ब्लूटूथ तकनीक का इस्तेमाल किया जाता है। महिला सुरक्षा एप्सः स्मार्टफोन का चलन तेजी से बढ़ रहा है। वर्तमान भारत में लगभग 20 करोड़ स्मार्टफोन यूजर्स मौजूद है। इन प्रयोगकर्ताओं में 40 फ़ीसदी महिलाएं शामिल है। महिलाओं के विरुद्ध बढ़ते अपराधों से महिलाओ को सुरक्षित करने के लिए इन एप्स को विकसित किया गया है। इन एप्स को महिलाएं अपने स्मार्ट फोन में इंस्टॉल कर अपने को सुरक्षा घेरे में कर सकती हैं। ये एप्स संकट के समय क्लिक मात्र से एक्टिव हो जाते हैं,और महिला द्वारा एप्स में दिए गए नंबर पर मैसेज एवं कॉल कर सूचित करते हैं। साथ ही इन एप्स के एक्टिव होते ही महिला की लोकेशन भी आसानी से ट्रैक हो जाती है, जिससे संकट में फंसी महिला को मदद पहुंचाना आसान हो जाता है। स्क्रीम, अलार्म, सेंटिनल सिक्योरिटी, आई एम सेफ,फाइट बैक वीमेन सिक्योरिटी, वीमेंन सेफ्टी सर्कल्स आफ सिक्स, मी अर्गेस्ट रेप, सस्पेक्टस रजिस्ट्री–फॉर–वीमेन, स्मार्ट शहर सेफ्टी, दामिनी एवं हिम्मत जैसे तमाम एप्स प्ले स्टोर पर उपलब्ध है।किसी भी संकट के समय मदद पहुंचाने के लिए यह आवश्यक साधन है। महिला सुरक्षा ऐप्स एक आधुनिक तकनीक है। जो की महिलाओं की सुरक्षा के लिए स्मार्टफोन के जरिए एक सरल एवं प्रभावशाली प्लेटफार्म उपलब्ध करता है।

पूर्व साहित्य सर्वेक्षण

एम. एम सिंह (2012) ने लिखा है कि मीडिया ने महिलाओं के अंदर सुरक्षा और जागरूकता की भावना विकसित की है। इसी भावना से प्रेरित होकर स्वयं को खुले और उन्मुक्त वातावरण में रखकर शीघ्रता से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रही है। मीडिया के कारण ही इनकी सोच और व्यवहार में विगत कुछ वर्षों में अविस्मरणीय परिवर्तन आया है। मीडिया ने वर्तमान समय में महिलाओं को स्वावलंबी बना दिया है। महिलाएं प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ काम कर रही हैं। पहले जो वे घर की चारदिवारी में कैद होकर रह गई थी, आज उनकी भागीदारी प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई पड़ती है।

कृष्ण चंद्र चौधरी (2013) ने लिखा है कि वर्तमान समय में संचार माध्यम महिलाओं के सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। बाल विवाह अधिनियम, विधवा गुजारा भत्ता, कार्यस्थल पर शोषण के प्रति जागरूकता या शिक्षा इन सभी बातों की जानकारी मीडिया के द्वारा ही महिलाओं तक पहुंचायी जा रही है।

सरयार (सरयाल) ने भारत में महिला अधिकारों से जुड़ी संभावनाओं और समस्याओं की जांच की। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 2000 में अपने मिलेनियन शिखर सम्मेलन में लैंगिक समानता और महिलाओं के सशक्तिकरण के महत्व को घोषित किया था। यह वर्ष 2015 तक प्राप्त होने वाली सहस्त्राब्दी विकास लक्ष्यों में से एक माना जाता है। इन लक्ष्यों के महत्व को भारत जैसे देशों में अति महत्वपूर्ण है। भारतीय महिलाएं कई समस्याओं की गवाह है। और यहां तक की मौलिक अधिकारों से भी वंचित है। शोध राष्ट्र में महिला अधिकारों की सुरक्षा से उन जुड़ी समस्याओं और संभावनाओं का पता लगाने के लिए किए गए हैं।

मंजू (मंजू) ने एक शोध किया जिसमें कार्य स्थल पर महिला कर्मचारियों की सुरक्षा की धारणा पर मनोवैज्ञानिक जलवायु लैंगिक उत्पीड़न अनुभव और लैंगिक प्रभाव की जांच की गई। लैंगिक भेदभाव का कार्यस्थल पर महिलाओं के व्यवसाय संचालन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। साहित्य से कर्मचारियों की कथित सुरक्षा पर लैंगिक उत्पीड़न के प्रभाव का पता लगाया गया, उन्होंने अपने अध्ययन के द्वारा लैंगिक उत्पीड़न के अनुभव और कर्मचारी सुरक्षा पर कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न वातावरण के प्रभाव के दृष्टिकोण की जांच की। शोध के निष्कर्षे में लैंगिक उत्पीड़न जलवायु और कथित सुरक्षा के बीच संबंध के अस्तित्व का पता लगाया।

ओ.पी.मिश्रा एवं छाया तिवारी (2013) ने लिखा है कि वर्तमान समय में महिलाओं में आई चेतना और जागरूकता के फलस्वरुप वे अपने अधिकारों के प्रति सजग हुई है। इसमें मीडिया की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जनसंचार माध्यमों ने महिलाओं को केवल उनके अधिकारों के विषय में ही जागरूक नहीं किया है, वरन उन्हें स्वावलंबी बनाने, आर्थिक– सामाजिक और राजनीतिक की स्थिति सुधारने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जनसंचार माध्यमों ने महिला उद्यमियों एवं कृषि क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं के जीवन स्तर में सुधार कर उन्हें आर्थिक रूप से सशक्त किया है। महिलाओं के लिए कौन–कौन से योजनाएं चल रही है। इसकी जानकारियां संचार माध्यमों द्वारा ही उन तक पहुंच रही है।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन का मूल उद्देश्य महिला सुरक्षा में संचार प्रौद्योगिकी क्या महत्व है। कोई अध्ययन कार्य तब तक सफल एवं महत्वपूर्ण नहीं हो सकता है। जब तक वह केंद्रित एवं उद्देश्य पूर्ण न हो, इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध पत्र के उद्देश्यों को निम्नवत में लिपीबद्व करने का प्रयास किया जा रहा है।

1– महिला सुरक्षा में अत्याधुनिक संचार प्रौद्योगिकी का अध्ययन करना।

2– कार्यस्थल पर महिलाओं के साथ भेद– भाव, शोषण और सुरक्षा का अध्ययन करना।

अध्ययन की उपकल्पना

1– नई पीढ़ी की महिलाओं ने अपने अधिकार एवं सुरक्षा के प्रति जागरूक हुई है।

2– महिला सुरक्षा में संचार प्रौद्योगिकी की अहम भूमिका रही है।

प्रस्तुत अध्ययन का स्रोत

प्रस्तुत अध्ययन महिला सुरक्षा एवं संचार प्रौद्योगिकी पर आधारित है। तथ्य संकलन के लिए द्वितीयक स्रोतों का चुनाव किया गया है। जिसके अंतर्गत विषय से संबंधित, प्रकाशित शोध प्रबंध पुस्तके एवं समाचार पत्र– पत्रिकाएं और प्रकाशित/अप्रकाशित प्रलेख शोध पत्रिकाएं तथा इंटरनेट आदि के माध्यम से तथ्यों का संकलन किया गया है।

महिलाओं के विरुद्ध अपराध से निपटने में चुनौतियाँ

भारतीय समाज में महिलाएं लैंगिक रूप से कमजोर नहीं बल्कि एक कमजोर वर्ग से संबंधित है। भारत में महिलाओं के साथ सम्मान से पेश आने की परंपरा है, लेकिन फिर भी यहा पितृसत्तात्मकता की एक

बड़ी मौजूदगी है। जिसके कारण लिंग आधारित हिंसा होती है। भारत एक समरूप समाज नहीं है, बल्कि एक पूरी तरह से विविधतापूर्ण समाज है।जो भारत में महिला सुरक्षा के इस मुद्दे को संबोधित करने में अधिक चुनौतियां पैदा करता है। ये कुछ चुनौतियां निम्नलिखित है।

1. **पर्याप्त बुनियादी ढांचे एवं संसाधन का अभाव :** कई क्षेत्रों में अपराधों से प्रभावी ढंग से निपटने और जांच करने के लिए आवश्यक बुनियादी ढांचे,जैसे– कार्यात्मक पुलिस स्टेशन, फोरेंसिस प्रयोगशालाएं और आपातकालीन सेवाओं का अभाव है। जिससे अपराध जांच प्रभावित होती हैं।
2. **शिक्षा और जागरूकता का अभावः** महिलाओं के अधिकारों और कानूनी सुरक्षा के बारे में सीमित शिक्षा के कारण महिलाएं असुरक्षित रह सकती हैं। पारंपरिक मान्यताओं और शिक्षा तक सीमित पहुंच महिलाओं को अपराधों की रिपोर्ट करने या न्याय मांगने से रोक सकती है। जैसे कि उन मामलों में देखा गया है कि जहां घरेलू हिंसा से पीड़ित अज्ञानता के कारण चुप रहती हैं।
3. **मीडिया एवं साइबर खतरे :** फिल्मों और अन्य टी.वी. कार्यक्रमों में महिलाओं को कई बार गलत तरीके से चित्रित किया जाता है। डिजिटल प्लेटफॉर्म के उदय के साथ हि महिलाओं को ऑनलाइन उत्पीड़न और दुर्व्यवहार के नए रूपों का सामना करना पड़ता है। साइबरबुलिंग,पीछा करना, और अंतरंग तस्वीरें को बिना सहमति से साझा करना तेजी से आम मुद्दे बन रहे हैं।
4. **सुरक्षित सार्वजनिक का स्थानो की कमीः** असुरक्षित सार्वजनिक स्थानो पर महिलाओं के अपराध की संभावना बढ़ जाती है। सुरक्षित व अच्छी तरह से रोशनी वाली सड़कों की कमी और अपर्याप्त सार्वजनिक परिवहन के कारण उत्पीड़न और हमले हो सकते हैं।
5. **संचार उपकरणों का अभाव :** आज भी कई ऐसे क्षेत्रों में संचार उपकरण का काफी अभाव पाया जाता है, और डिजिटल डिवाइस की समस्या बनी हुई है,तथा भारतीय समाज में परंपरागत सोच व अज्ञानता महिलाओं को स्मार्टफोन का उपयोग करने से वर्जित किया जाता है।

महिलाओं के संरक्षण से संबंधित सरकारी प्रयास :

- **निर्भया फंडः** सरकार ने महिलाओं की सुरक्षा और संरक्षण को बढ़ाने वाली परियोजनाओं का समर्थन करने के लिए निर्भया फंड की स्थापना की। महिला एवं बाल विकास मंत्रालय इस फंड के तहत वित्त पोषण के लिए प्रस्तावो और योजनाओं की समीक्षा और सिफारिश करने के लिए नोडल प्राधिकरण के रूप में कार्य करता है।
- **वन स्टॉप सेंटर और महिला हेल्पलाइन :** महिला एवं बाल विकास मंत्रालय ने हिंसा से प्रभावित महिलाओं को एकीकृत सहायता प्रदान करने के लिए वन स्टाप सेन्टर की शुरुआत की है। और 24 घंटे आपातकालीन और गैर आपातकालीन सहायता प्रदान करने के लिए महिला हेल्पलाइन के सर्वभौमिकरण की योजना का शुरुआत की है।
- **आपातकालीन प्रतिक्रिया सहायता प्रणाली (ई आर एस एस)** : यह एक एकल आपातकालीन नंबर (112) और संकटग्रस्त स्थानो पर क्षेत्रीय संसाधनों का कंप्यूटर सहायता संप्रेषण प्रदान करना।
- **बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ (बी बी बी पी) :** इस योजना का उद्देश्य लिंग पक्षपातपूर्ण लिंग चयन उन्मूलन को रोकना बालिकाओं के अस्तित्व और संरक्षण को सुनिश्चित करना तथा बालिकाओं की शिक्षा और भागीदारी सुनिश्चित करना।

- **महिला पुलिस स्वयं सेवक :** राज्यो /संघ राज्य क्षेत्रों में महिला पुलिस स्वयंसेवकों की तैनाती शामिल है, जो पुलिस और समुदाय के बीच मध्यस्थ के रूप में कार्य करती है तथा संकटग्रस्त महिलाओं को सहायता प्रदान करती है।

निष्कर्ष:

भारत में महिलाओं के विरुद्ध अपराध व महिला सुरक्षा एक गहरी सामाजिक समस्या है, जो इससे छुटकारा पाने के लिए व्यापक बहुआयामी दृष्टिकोण की आवश्यकता है। महिला, शांति और सुरक्षा सूचकांक 2023 के अनुसार भारत 177 देशो में से 128 वे स्थान पर है। भारत का सूचकांक स्कोर 0.58 है,जो इसे महिला सुरक्षा के लिए चौथे क्वीनटाइल में रखता है। महिला सुरक्षा में संचार प्रौद्योगिकी अहम भूमिका निभा रही है। महिला सुरक्षा उपकरणों के उपयोग से महिलाओं में आत्मविश्वास की भावना बढ़ी है। महिलाएं घर से बाहर जाते समय एवं कार्यस्थल पर अधिक सुरक्षित महसूस कर रही है। **"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तंत्र देवता"** इसका अर्थ है कि जहां महिलाओं की पूजा होती है, वहां भगवान निवास करते हैं। इस संकलपना को साकार करने लिए लैंगिक समानता और सामाजिक न्याय पर अधिक जोर दिया जा रहा है।

महिलाओं के लिए सुरक्षित और अधिक समतामूलक वातावरण का निर्माण करने की दिशा में सरकारी गैरसरकारी प्रयास लगातार किये जारहे है। मौजूदा कानूनो के प्रवर्तन को सुदृढ़ करना, लिंग संवेदीकरण कार्यक्रमों को बढ़ावा देना और उत्तरजीवियों के लिए व्यापक सहायता सेवाएं प्रदान करना अत्यंत महत्वपूर्ण कदम साबित हो रहे है।

सुझाव:

1–मौजूदा कानूनो एवं नीतियों को और अधिक प्रभावी ढंग से क्रियान्वित करने की आवश्यकता है। इसके लिए कानून प्रवर्तन कमियों के बेहतर प्रशिक्षण, न्यायिक प्रतिक्रियाओं को सुव्यवस्थित करने और सभी स्तरों पर जवाबदेही सुनिश्चित करने की आवश्यकता है।

2– न्यायमूर्ति वर्मा समिति की अनुशंसा के अनुरूप फास्ट – ट्रैक कोर्ट स्थापित
किये जाए और बलात्कार जैसे गंभीर मामलों में दंड को कठोर बनाया जाए। न्यायपालिका में महिलाओं का प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाए।

3– लिंग आधारित हिंसा के मामलों को अधिक संवेदनशील एवं प्रभावी ढंग से संभाल सकने के लिए पुलिस अधिकारियों के प्रशिक्षण में सुधार किया जाए। इससे बेहतर साक्ष्य संग्रहण हो सके जिससे पीड़िता की सहायता और मामलों का दस्तावेजीकरण शामिल होगा।

4– महिलाओं के विरुद्ध अपराधों की बेहतर रिपोर्टिंग एवं ट्रैकिंग के लिए प्रौद्योगिकी को अधिक से अधिक लाभ उठाया जाए इसमें अपराधो की रिपोर्टिंग के लिए उपयोगकर्ता के अनुकूल मोबाइल ऐप और डेटा विश्लेषण के लिए AI संचालित सिस्टम शामिल हो सकते हैं।

5– मौजूदा योजनाओ और नीतियों की प्रभावशीलता का आकलन करने तथा आवश्यक समायोजन करने के लिए उनका आवधिक मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

6– अपराधी व्यक्ति की पहचान बताने वाले को इनाम की राशि एवं सुरक्षा प्रदान की जाए।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः

1. वशिष्ठ, प्रोफेसर सरिता, महिला सशक्तिकरण, कल्पना प्रकाशन, दिल्ली
2. श्रीवास्तव, सुधारानी, भारत में महिलाओं की वैधानिक स्थिति,कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स,नई दिल्ली
3. शर्मा, योगेंद्र, महिला सशक्तिकरण दशा और दिशाः 2018, 2020
4. महिला कानूनी अधिकार, धीरज पॉकेट बुक्स , दिल्ली
5. हिंदुस्तान अनोखी वाराणसी संस्करण 16 मार्च 2024 पृष्ठ संख्या 5
6. हिंदुस्तान अनोखी वाराणसी संस्करण शनिवार 9 मार्च 2024 पृष्ठ संख्या10
7- हिंदुस्तान अनोखी वाराणसी संस्करण 13 अप्रैल 2024 पृष्ठ संख्या 5
8- https://www.drishtiias.com/hindi/ daily- updates/ daily news - editorials /addressing- women - safety- in - India.
9- https://www.news-network. in/2025/08/women-safety-guotes.
10- https://www. fourmias. Com/blog/women-safety-in-india.
11- https:// www testbook. com/hi/ias-preparation /womem-safety
12- https://www. research gate. net/publication /376956440.
13- https://www. Science dirct. com/science /articles.

गाँधी की पत्रकारिता

अनुराग
शोध छात्र–इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा,
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 संतोषा कुमार
इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा,
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सारांश

महात्मा गाँधी की पत्रकारिता आदर्श एवं नैतिकता का जीवंत उदाहरण है। गाँधी जी के लिए पत्रकारिता कोई व्यवसाय नहीं बल्कि जनसेवा और सामाजिक सुधार का एक सशक्त माध्यम है। उनके द्वारा प्रकाशित सभी समाचार पत्रों के मूल में सत्य और अहिंसा के बीज दिखाई पड़ते हैं। गाँधी ने अपने समाचार पत्रों के द्वारा आम जनमानस तक अपने विचार तथा समाज में जागरूकता लाने का प्रयास किया। इंडियन ओपिनियन के द्वारा दक्षिण अफ्रीका में भारतियों के अधिकारों की रक्षा की। भारत में यंग इंडिया और नवजीवन ने आजादी की लड़ाई में महती भूमिका निभाई और हरिजन के माध्यम से अस्पृस्यता जैसी सामाजिक कुरीति के खिलाफ आवाज उठाई। उनकी पत्रकारिता की प्रमुख विशेषताएँ–सरल और सुस्पष्ट भाषा, तथ्यों की सत्यता, विज्ञापनों से स्वतंत्रता तथा निष्पक्षता। गाँधी जी पत्रकारिता के माध्यम से आम जनमानस को शिक्षित और उनके स्वतंत्र चिंतन को प्रोत्साहित करना चाहते थे। न कि भ्रामक और उत्तेजक खबरों के माध्यम से पाठक को आकर्षित करना।

आज की आधुनिक पत्रकारिता जहाँ नकली खबरें (फेक न्यूज), पूर्वाग्रह ग्रस्त और विज्ञापन लोभी पत्रकारिता से ग्रसित है वहाँ गाँधी के सिद्धांत सत्यनिष्ठा, नैतिकता और सामाजिक दायित्वबोध अत्यन्त प्रासंगिक हो जाते हैं।

प्रस्तावना

गाँधी जी का व्यक्तित्व बहुआयामी था उनका विचार क्षेत्र बहुत विस्तृत था। हमारे जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जो जिसके सम्बन्ध में गाँधी जी ने अपना विचार व्यक्त न किया हो। आज जो भी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक रूढ़िगत समस्यायें हैं, उन सभी के बारे में गाँधी जी ने हमें अवगत कराया था। जो उनकी दूरदर्शिता को व्यक्त करता है। यही वजह है कि गाँधी जी आज भी बौद्धिक दुनिया में चर्चा का विषय बने हुए हैं और अपनी समस्याओं का समाधान गाँधी की लेखनी में ढूँढने का प्रयास करते हैं। गाँधी जी ने अपने जीवनकाल में जितना लेखन कार्य किया, उतना शायद ही किसी ने किया है। अपने लेखन कार्य को आम जनमानस तक पहुँचाने के लिए समाचार पत्रों को माध्यम बनाया। इसलिए गाँधी जी के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा, एक सशक्त पत्रकार के रूप में बीता, लेकिन गाँधी जी का यह जीवन प्रायः उपेक्षित रहा। गाँधी जी ने पत्रकारिता को सामाजिक परिवर्तन के एक सशक्त माध्यम के रूप में प्रयोग किया। गाँधी की पत्रकारिता सत्य, अहिंसा और नैतिकता के सिव्द्धांतों पर आधारित थी। यह शोध पत्र गाँधी के पत्रकारीय योगदान तथा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उनके पत्रकारिता दर्शन की प्रासंगिकता का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

प्रारम्भिक अनुभव एवं दक्षिण अफ्रीका की पत्रकारिता

गाँधी जी के पत्रकारिता जीवन की शुरूआत दक्षिण अफ्रीका में हुई जहाँ उन्हें रंगभेद की नीतियों का सामना करना पड़ा। अंग्रेजों की इस नीति के खिलाफ आवाज उठाने के लिए पत्रकारिता को एक हथियार के रूप में प्रयोग किया। लेकिन जब हम गाँधी जी के प्रारम्भिक जीवन को देखते हैं तो बैरिस्टरी की पढ़ाई के लिए लंदन जाने से पहले उनका समाचार पत्रों से सामना नहीं हुआ था। जबकि उनके इंग्लैण्ड जाने की खबर 'काठियावाड़ टाइम्स' में 12 जुलाई 1888 में छपा था। इंग्लैण्ड आने के बाद यहाँ दलपतराम शुक्ल के सुझाव पर वे प्रतिदिन लगभग एक घंटे तक डेली टेलीग्राफ, डेली न्यूज आदि समाचार पत्रों को पढ़ना शुरू किया। सन् 1888 में ही लंदन वेजीटेरियन सोसायटी के सदस्य बने और 'द वेजीटेरियन' पत्र में लगभग 12 लेखों का प्रकाशन किया। 1888–91 का समय गाँधी के लिए प्रशिक्षण का था। इसी समाचार पत्र ने गाँधी जी में पत्रकारिता के बीज को पल्लवित–पुष्पित किया। ''गाँधी जी का पहला लेख 'द बेजीटेरियन' में 7 फरवरी 1891 को 'भारतीय अन्नाहारी शीर्षक' से छपा, तथा दूसरा लेख 28 मार्च 1891 को कुछ भारतीय त्योहार' शीर्षक से छपा, जो तीन किस्तों में छपा। द वेजेटेरियन में प्रकाशित गाँधी जी के सभी लेख सम्पूर्ण गाँधी बाड़मय के प्रथम खंड से संकलित है।''[1]

वकालत की पढ़ाई पूरी करने के बाद गाँधी जी 1891 में भारत लौटे। 1893 में वकालत का काम मिलने पर वे दक्षिण अफ्रीका गए। वहाँ उन्हें रंगभेद के खिलाफ अनेक संघर्ष करने पड़े। इन घटनाओं ने उन्हें जातीय पूर्वाग्रहों के खिलाफ संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों के अधिकारों की रक्षा के लिए 4 जून 1903 को इंडियन ओपिनियन साप्ताहिक समाचार पत्र प्रकाशित करने का निर्णय लिया। जो चार भाषाओं में प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ। दक्षिण अफ्रीका से प्रकाशित 'नेटाल एडवरटाइजर', 'प्रिटोरिया न्यूज' तथा नेटाल मरकरी में भी गाँधी जी ने मानव हित से सम्बन्धित लेख प्रकाशित किया।

भारत में पत्रकारिता का विस्तार

गाँधी जी जब दक्षिण अफ्रीका से वापस आये तो भारत ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ आजादी के लिए संघर्षरत था। भारत में आम जनमानस को जाग्रत करने के लिए भारत में भी समाचार पत्रों का प्रकाशन और सम्पादन प्रारम्भ किया। नवजीवन (1919), 'यंग इंडिया' (1919) और हरिजन (1933) में प्रकाशन शुरू किये। इन समाचार पत्रों के माध्यम से गाँधी जी ने ब्रिटिश सरकार की नीतियों की आलोचना की। सामाजिक सुधारों को बढ़ावा दिया और जनजागरण का कार्य किया।

प्रमुख प्रकाशित समाचार पत्र

1. **इंडियन ओपिनियन–** यह गाँधी जी का पहला प्रमुख प्रकाशन था जिसकी शुरूआत दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश सरकार की नीतियों के खिलाफ 4 जून 1903 को हुआ। इस समाचार पत्र का उद्देश्य दक्षिण अफ्रीका में रह रहे भारतीयों के अधिकारों की रक्षा करने और रंगभेद की नीतियों की खिलाफ हुआ था। गाँधी जी ने अपनी पुस्तक 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' में लिखा है कि ''दक्षिण अफ्रीका में सर्वप्रथम हिन्दुस्तानी प्रेस खोलने का श्रेय श्री मदनजीत व्यवहारिक नामक गुजराती सज्जन को है।''[2] इस समाचार पत्र के पहले समाचार पत्र का शीर्षक 'हम स्वय' (आवरसेक्वज) था। जो गाँधी जी द्वारा लिखा गया था। हालांकि यह अहस्ताक्षरित है।

सत्य के प्रयोग अथवा आत्मरथा में भी गाँधी जी ने इंडियन ओपिनियन के शुरूआती संघर्षों के बारे में लिखा है, कि ''श्री मदनजीत ने इंडियन ओपिनियन अखबार निकालने के लिए मेरी सहायता की और जरूरी सलाह भी ली। जिससे अखबार निकालने के विचार से सहमत हुआ। 1904 ई0 में इस अखबार का जन्म हुआ। मनसुखलाल नाजर इसके सम्पादक बने। लेकिन सम्पादक का सारा बोझ मुझ पर ही पड़ा। मेरे

भाग्य में हमेशा दूर से ही अखबार की व्यवस्था संभालने का योग रहा।''[3] इसके प्रथम अंक में गाँधी जी ने 'दक्षिण अफ्रीका ब्रिटिश भारतयों' शीर्षक से रंगभेद के प्रश्न को उठाते हुए लिखा था ''दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानी, सामाजिक और अन्य तमाम दृष्टियों से अछूत से बने हुए हैं, कहीं कम, कही ज्यादा, वहाँ उन्हें तिरस्कारपूर्वक कुली कहा जाता है। वास्तव में वहाँ के लोग साधारणतया भारतीयों को गंदे जीव मानते हैं जिनमें किसी सद्गुण का लेसमात्र भी नही हो सकता।''[4]

इसी समाचार पत्र को 'सत्याग्रह' शब्द का संज्ञान में लाने का श्रेय दिया जाता है। इंडियन ओपिनियन के 11 जनवरी 1908 के अंक में जोहान्सबर्ग लेटर नामक स्तम्भ में 'पैसिव रेजिस्टेंस' के स्थान पर समानार्थी शब्द का सुझाव पाठकों से माँगा था। चार व्यक्तियों ने समानार्थी शब्द भेजा था जिनका नाम 7 मार्च 1908 के अंक में प्रकाशित हुआ था। इन नामों से सत्याग्रह (पहले सदाग्रह नाम भेजा गया था) शब्द का चयन किया किया था। इसी नाम का सुझाव मगनलाल गाँधी ने दिया था। इंडियन ओपिनियन में ही हिन्द स्वराज जो 20 अध्याय में लिखी गयी है इसे दो अलग–अलग अंकों में इसी समाचार पत्र में प्रकाशित किया गया। पहले 12 अध्यायों को 11 दिसम्बर 1909 के अंक में तथा शेष 8 अध्याय को 18 दिसम्बर 1909 के अंक में प्रकाशित किया गया।

इंडियन ओपिनियन का प्रकाशन प्रारम्भ में अंग्रेजी, गुजराती, तमिल और हिन्दी इन चार भाषाओं में होता था। लेकिन बाद में पाठक न होने के कारण तमिल और हिन्दी संस्करण बन्द करने पड़े। गाँधी जी ने लिखा है कि सत्याग्रह की लड़ाई जब शुरू हुई तब गुजराती और अंग्रेजी भाषा में इंडियन ओपिनियन निकलता था। श्रीमनसुखलाल नाजर की असामयिक मृत्यु के बाद मेरे एक अंग्रेज मित्र हर्बर्ट किचन इसके सम्पादक बने। इसके बाद हेनरी पोलाक सम्पादक के रूप में कार्य किया। मेरे और श्री पोलाक के जेल जाने के बाद पादरी जोसेफ डोक इस अखबार के सम्पादक रहे।

भारत लौटने के बाद गाँधी जी ने भारतीयों को सत्याग्रह की शिक्षा देने के उद्देश्य से यंग इंडिया (अंग्रेजी) और नवजीवन (गुजराती) का प्रकाशन शुरू किया।

2. यंग इंडिया– यंग इंडिया की शुरूआत 7 अक्टूबर 1919 को हुई। इन समाचार पत्रों के माध्यम से गाँधी जी ने ब्रिटिश सरकार की अमानवीय नीतियों की आलोचना की अपने आन्दोलनों को बढ़ावा दिया और सामाजिक सुधारों के लिए जनमत तैयार किया। यंग इंडिया के प्रकाशक महादेव देसाई तथा मुद्रक शंकरलाल बैंकर थे। यह पत्र असहयोग आन्दोलन के दौरान गाँधी जी के विचारों को आम जनमानस तक फैलाने का प्रमुख माध्यम था। 18 दिसम्बर 1920 के अंक में गाँधी जी ने घोषणा किया कि ''यंग इंडिया के कालम असहयोग आन्दोलन का विरोध करने वालों के लिए हरदम खुले हुए हैं।''[5] इस समाचार पत्र के प्रथम अंक के प्रथम पृष्ठ पर तीन लेख प्रकाशित हुए थे– (1) नो सिक्योरिटी (2) वी आर एप्ट टू मिस्टेक्स (3) सिक्स सप्रेस्ड क्लास स्कूल्स इन अहमदाबाद। इस पत्र के एक अंक में गाँधी जी ने लिखा कि ''पत्रकारिता का उद्देश्य सेवा होना चाहिए.... आधुनिक पत्रकारिता में एकतरफापन, सतहीपन, अशुद्धियों और बेईमानी के घुस जाने से ईमानदार व्यक्ति भी पथभ्रष्ट हो रहे हैं।''[6] इस पत्र में गाँधी जी आधुनिक यंत्र तथा तकनीक के बेवजह प्रयोग, राजनीति एवं धर्म से संतुलन स्थापित करने, नैतिक पवित्रता, अश्लील विज्ञापन के प्रति विरोध आदि राजनीतिक एवं सामाजिक मुद्दों के प्रति अपने विचार समय–समय पर लिखते रहते थे।

यंग इंडिया में गाँधी के सम्पादकीय अत्यन्त प्रभावशाली होते थे, वे उन्हें 'थॉट फार द डे' के रूप में इस्तेमाल करते थे। गाँधी इन पत्रों के माध्यम से देश की जनता से सीधे संवाद करते थे। 1922 से 1932 के दौरान गाँधी जी जब भी जेल गये। यंग इंडिया तथा नवजीवन का सम्पादन सी0 राजगोपालाचारी, जयरामदास, दौलतराम, जार्ज जोसेफ आदि ने किया।

23 फरवरी 1922 के यंग इंडिया के अंक में गाँधी लिखते हैं कि मैं अपने धर्म को अपने देश से ज्यादा प्यार करता हूँ। इसलिए मैं हिन्दू पहले और राष्ट्रभक्त बाद में। इससे मेरी राष्ट्रभक्ति किसी की तुलना में कम नही हो जाती है। इसका आशय केवल यह है कि मेरे देश के हित और मेरे धर्म के हित एक ही है। समाज में व्यक्ति विशेष की महत्ता को सिद्ध करते हुए गाँधी जी कहते हैं व्यैक्तिक स्वतंत्रता को अस्वीकार करके कोई सभ्य समाज नहीं बनाया जा सकता है। धर्म–परिवर्तन का विरोध करते हुए यंग इंडिया के 29 मई 1924 के अंक में गाँधी लिखते हैं कि थोड़े या बहुत अंशो में सभी धर्म सच्चे है। सबकी उत्पत्ति एक ही ईश्वर से हुई है परन्तु सब धर्म अपूर्ण है क्योंकि वे अपूर्ण मानव माध्यम के द्वारा हम तक पहुँचे हैं। सच्चा शुद्धि आन्दोलन तब हो सकता है जब हम सब अपने–अपने धर्म में रहकपूर्ण पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। गाँधी जी हरदम नैतिक पवित्रता की बात करते थे इस सम्बन्ध में गाँधी जी कहते हैं कि यदि हम अपना सारा ज्ञान और पवित्रता को रखे तो दूसरा पलड़ा, पहले पलड़े से कही अधिक भारी पड़ेगा। यदि हम ज्ञान और पांडित्य को अपने दैनिक जीवन में उतार पाये तो हमारा जीवन बेकार है।

3. नवजीवन– नवजीवन का प्रकाशन सितम्बर 1919 से शुरू हुआ। गाँधी जी भारत की जनता को सत्याग्रह की शिक्षा जनता की भाषा में देने के उद्देश्य से नवजीवन पत्र का गुजराती भाषा में प्रकाशन शुरू किया इसे मासिक से साप्ताहिक पत्र बनाया। इसके प्रथम अंक में हमारा उद्देश्य शीर्षक से अपने उद्देश्य की चर्चा की–''सत्याग्रह का प्रचार और लड़ाई को निरंतर बनाए रखना, स्त्री जागरण राजा–प्रजा में बैर–भाव मिटाना और मित्रता बढ़ाना हिन्दू–मुस्लिम एकता आदि।''[7] गाँधी ने लिखा है नवजीवन का उद्देश्य है स्वराज्य। नवजीवन का अस्तित्व उसी के लिए हुआ है। नवजीवन समाचार पत्र खरीदने का मतलब आप सत्य और अंहिसा का पथ चुन लिया है और चरखा को स्वीकार कर लिया है।

8 अगस्त 1920 के नवजीवन ने तिलक के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए लिखा, ऐसा महान जीवन, देह नष्ट होने से क्षीण नही हो जाता। वस्तुतः देह नष्ट होने के बाद उसकी शुरूआत होती है। तिलक मर कर भी हमें जीवन का रहस्य सिखा गये। 19 अगस्त 1921 से यह पत्र हिन्दी में भी निकलने लगा। 1932 तक गाँधी जी ने इसका सम्पादन किया। 1932 में गोलमेज सम्मेलन से लौटने के यह पत्र प्रतिबंधित हो गया। नवजीवन में ही गाँधी जी की दो पुस्तके 'सत्य के प्रयोग' तथा 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' का धारावाहिक के रूप में प्रकाशन हुआ। यंग इंडिया तथा नवजीवन निकालने से पहले गाँधी जी ने कुछ समय के लिए 'क्रानिकल' अखबार का भी सम्पादन किया था। भारतीय प्रेस अधिनियम के विरोध में एवं अपंजीकृत समाचार पत्र 'सत्याग्रही' 7 अप्रैल 1919 निकाला। इसके दो ही अंक निकले थे दूसरा अंक 14 अप्रैल 1919 को निकाला। बी0जी0 हार्निमैन के देश निकाला के बाद कुछ समय के लिए 'बाम्बे क्रानिकल' का भी सम्पादन किया था। अपनी आत्मकथा सत्य के प्रयोग में गाँधी ने बाम्बे क्रानिकल के सम्पादकत्व तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा क्रानिकल के प्रतिबंध लगाने के प्रयासों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

गाँधी जी ने नवजीवन तथा यंग इंडिया में अपने जीवन लक्ष्य, सत्याग्रह, ब्रह्मचर्य श्रम औद्योगिकीकरण, समाजवाद, सर्वोदय, उपवास, सत्य, अहिंसा, स्वतंत्रता, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, भारत का ध्येय सहित अनेक विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये।

4. हरिजन– गाँधी जी ने आजादी की लड़ाई के दौरान राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ–साथ सामाजिक सुधारों के लिए प्रयासरत थे। इसी कड़ी के में दलितों के प्रति छुआ–छूत और सामाजिक भेदभाव दूर करने के लिए आम जनमानस के बीच सामाजिक सौहार्द और दूषित विचारों को दूर करने के लिए 11 फरवरी 1933 को 'हरिजन' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्रिका के प्रथम अंक में ही गाँधी जी से सात पंडितों के हस्ताक्षरयुक्त एक पत्र प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था कि चारों वर्णों के जो समान अधिकार हैं वे

सभी अधिकार हरिजन को भी मिलना चाहिए। ''में अधिकार है (1) मंदिर में प्रवेश (2) पाठशालाओं में शिक्षा (3) सार्वजनिक कुओं, घाटों, तालाबों और नदियों में विस्तार की सुविधा।''[8]

हरिजन पत्रिका अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती और मराठी चार भाषाओं में छपती थी। हरिजन (अंग्रेजी) ने सभी प्रांतों के हरिजन उत्थान के लिए किए गए कार्यों की प्रगति का विवरण छपता था। हरिजन के आरम्भिक अंकों से जानकारी मिलती है कि प्रथम हरिजन दिवस 18 दिसम्बर 1932 को मनाया गया। द्वितीय हरिजन दिवस अप्रैल 1933 के अंतिम रविवार को मनाया गया। इसके लिए 6 कार्यक्रम घोषित किए। गाँधी की प्रेरणा से श्री वियोगी हरि ने दिल्ली से हरिजन सेवक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त गुजराती में हरिजन बन्धु फरवरी 1933 के अंत में शुरू हुआ। भारत छोड़ों आन्दोलन के दौरान हरिजन प्रेस को बन्द कर दिया गया। इसे 6 फरवरी 1946 को पुनर्जीवित किया गया।

गाँधीवादी पत्रकारिता तथा आधुनिक पत्रकारिता

आज हम गाँधीवादी पत्रकारिता और आधुनिक पत्रकारिता के कई बिन्दुओं पर अन्तर पाते हैं–

1. गाँधीवादी पत्रकारिता का उद्देश्य जहाँ जनसेवा तथा लोगों को शिक्षित करना था वही आज की पत्रकारिता सिर्फ व्यवसायिक लाभ तथा पाठकों को लुभाने के लिए फर्जी तथा उत्तेजक खबरे प्रकाशित करता है।
2. गाँधी के समाचार पत्र का प्रकाशन सार्वजनिक सहयोग पर आधारित था न कि विज्ञापन पर जबकि आज कि पत्रकारिता अश्लीलता और भ्रामक विज्ञापनों के आधार पर खड़ी है।
3. गाँधी के समाचार पत्रों की भी भाषा सरल, सुस्पष्ट तथा सम्मानजनक थी जबकि आज के पत्रों की भाषा सनसनीखेज और विवादस्पद है।
4. नैतिकता के स्तर पर गाँधी की पत्रिकारिता सत्यनिष्ठा, निष्पक्षता तथा संयम पर आधारित थी। जबकि आज की पत्रकारिता सच बोलने से डरती है। साथ ही किसी भी समाचार के निष्पक्ष मूल्यांकन से भी कतराती है।
5. इसके अतिरिक्त गाँधी की पत्रकारिता सामाजिक सुधार तथा जन जागरण पर आधारित थी। जबकि आधुनिक पत्रकारिता मनोरंजन तथा सूचनाओं के अधिकाधिक प्रसार पर आधारित है।

गाँधी की पत्रकारिता के सिद्धांत आज के डिजिटल युग में भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उनके समय में थे। आज की तटस्थता संकट से जूझ रही पत्रकारिता के लिए गाँधी के नैतिक मानक एक मार्गदर्शन हो सकते हैं आज समाचार को उत्पाद और पाठक को ग्राहक माना जाता है।

गाँधी जी के लेखकों और टिप्पणियों को पढ़ने के बाद मीडिया के कुछ भूमिकाएं दृष्टिगत होती है जो वर्तमान संदर्भ में बहुत जरूरी है पहली भूमिका विचारों के मंथन और घटनाओं का सही मूल्यांकन आवश्यक है। अपनी स्थापित मान्यताओं और विचारों के कारण पत्रकारिता अपने सामाजिक दायित्व से विमुख हो रही है। दूसरी महत्त्वपूर्ण भूमिका विज्ञापनों के मोहजाल और अन्य दबाव समूह से दूर रहकर कलम को आजाद रखने की है। तीसरी भूमिका सत्यान्वेषण की है, आज फटाफट न्यूज के चक्कर में हम सत्यता से दूर होते जा रहे हैं। चौथी भूमिका गुण सम्पादन कौशल और आत्मवलोकन की है।

गाँधी की पत्रकारिता विज्ञापन आश्रित नहीं थी। ''गाँधी का मानना था कि अखबार विज्ञापन के बल पर नही अपितु पाठक के बल पर चलाया जाना चाहिए। अखबार कौम की सेवा के लिए चलाया जाना चाहिए। साथ ही कौम के लोगों का भी दायित्व है कि अखबार का साप्ताहिक पाठक बनकर उसका खर्च उठाना चाहिए।''[9]

यंग इंडिया में गाँधी जी लिखते हैं कि मैंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश पत्रकारिता की खातिर नहीं किया है बल्कि यह मेरे जीवन के ध्येय की पूर्ति में सहायक है, ऐसा मानकर किया है। मेरा ध्येय अत्यन्त संयम के साथ, उदाहरण और उपदेश देते हुए सत्याग्रह के बेजोड़ अस्त्र की शिक्षा देना है–सत्याग्रह जो अहिंसा तथा सत्य के प्रत्यक्ष परिणाम है। गाँधी जी के लिए पत्रकारिता एक प्रशिक्षण है। जिसके द्वारा वे अपने अन्दर झाँककर अपनी कमियों का पता लगाने का प्रयास करते थे।

निष्कर्ष

महात्मा गाँधी की पत्रकारिता, सत्य, अहिंसा और सेवा के सिद्धांतों पर आधारित थी, जिसका उद्देश्य मानव कल्याण और सामाजिक परिवर्तन था। उन्होंने पत्रकारिता को सामाजिक दायित्व का माध्यम माना और इसे व्यावसायिक हितों से ऊपर रखा। गाँधी के लिए पत्रकारिता कोई पेशा नहीं, बल्कि सेवा का एक रूप थी और उन्होंने अपने जीवन में इस सिद्धांत का पालन किया।

गाँधी की पत्रकारिता की सबसे बड़ी शक्ति उनकी सरल और स्पष्ट भाषा थी, जिसे आम आदमी आसानी से समझ सकता था। उनकी भाषा स्वच्छ, ग्राह्य, प्रभावशाली और पारदर्शी थी। यही कारण था कि उनकी पत्रकारिता ने न केवल भारत, बल्कि पूरी दुनिया को प्रभावित किया।

आज के डिजिटल युग में जब पत्रकारिता व्यावसायिक दबावों और नैतिक संकट से जूझ रही है, गाँधी के पत्रकारिता सिद्धांत और भी अधिक प्रासंगिक हो सकते हैं। गाँधी का मानना था कि पत्रकारिता का उद्देश्य जनमानस को शिक्षित करना है, न कि जनमानस को आवश्यक–अनावश्यक विचार भंडार बनाना। यह दृष्टिकोण आज की सूचना अधिभार वाली दुनिया में भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

गाँधी की पत्रकारिता के सिद्धांत और आदर्श आज के पत्रकारों के लिए एक मार्गदर्शक हो सकते हैं। उनके सत्यनिष्ठा, निष्पक्षता और सामाजिक उत्तरदायित्व के सिद्धांतों को अपनाकर आज की पत्रकारिता अपनी विश्वसनीय और गरिमा को पुनः प्राप्त कर सकती है। गाँधी जी 156वीं वर्षगांठ पर गाँधी की पत्रकारिता पर विचार आज की भारतीय पत्रकारिता के लिए अधिक उपयोगी होगी।

अंत में हम कह सकते हैं कि पत्रकारिता कालजयी और सार्वभौमिक है, जो हर युग में प्रासंगिक रहेगी। उनकी पत्रकारिता ने न केवल एक राष्ट्र का निर्माण किया, बल्कि मानवीय मूल्यों की एक अमर विरासत छोड़ी, जो भी हमारा मार्गदर्शन कर रही है।

संदर्भ सूची–

1. गाँधीजी (1968), दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, अहमदाबाद, नवजीवन मुद्रणालय, पृष्ठ–164
2. गाँधी (1957), सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, अहमदाबाद, नवजीवन मुद्रालय, पृष्ठ–284
3. इंडियन ओपिनियन 4 जून 1903, सम्पूर्ण गाँधी जी वाड्मय, खंड तीन पृष्ठ–409
4. गाँधी जी (1968), पूर्वाद्धत
5. यंग इंडिया 18 दिसम्बर, 1920
6. यंग इंडिया 12 मई, 1920
7. नवजीवन, 7 सितम्बर 1919
8. चौबे, कृपाशंकर (2022), राष्ट्र निर्माताओं की पत्रकारिता मुम्बई, प्रलेम प्रकाशन, पृष्ठ–72
9. वही, पृष्ठ–52

हिन्दू विवाह : निरन्तरता एवं परिवर्तन

शोभा प्रजापति
शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
प्रो0 ब्रजेश कुमार सिंह
समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सारांश :
आधुनिक युग तीव्र परिवर्तन का युग है। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में तीव्र परिवर्तन हो रहे हैं। सामाजिक संरचना में सामाजिक संस्थाओं की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इन संस्थाओं में विवाह सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। आधुनिक समय में हमें विवाह संस्था में अत्यधिक परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं। प्रस्तुत शोध अध्ययन में वर्तमान समय में विवाह संस्था में हो रहे परिवर्तनों एवं इसके परम्परागत प्रतिमानों की निरन्तरता का विश्लेषण किया गया है। हिन्दू समाज में विवाह को एक संस्कार माना जाता रहा है जो अनेक कर्मकाण्डों व रीति–रिवाजों के माध्यम से सम्पन्न होता है। हिन्दू विवाह केवल दो व्यक्तियों का सम्बन्ध न होकर दो परिवारों का पारस्परिक सामाजिक, सांस्कृतिक व आत्मीय सम्बन्ध माना जाता है जो परस्पर दायित्व व कर्त्तव्यबोध से जुड़े होते हैं। वर्तमान में हिन्दू विवाह के उद्देश्य, क्रिया विधि, इसके संगठन एवं प्रकार्यों में हमें अनेकों परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं। हिन्दू विवाह का धार्मिक स्वरूप धीरे–धीरे कमजोर पड़ता जा रहा है।

मुख्य शब्द : हिन्दू विवाह, धार्मिक, सामाजिक, संस्था, आधुनिक, परिवर्तन।

प्रस्तावना :
विवाह प्रत्येक समाज की एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। विवाह को परिवार का प्रवेश द्वार कहा जाता है। विवाह यौन सम्बन्धों को संस्थागत स्वरूप प्रदान करने का समाज द्वारा स्वीकृत तरीका है। विवाह समाज व कानून सम्मत वह तरीका है जिसके द्वारा स्त्री–पुरुष यौन सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, सन्तानोत्पत्ति, बच्चों का पालन–पोषण और समाजीकरण करते हैं एवं विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक व अन्य दायित्वों को पूरा करते हैं।
बोगार्ड्स के अनुसार, विवाह स्त्री–पुरुष को पारिवारिक जीवन में प्रवेश कराने की संस्था है।[1]
वेस्टरमार्क के अनुसार, विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला सम्बन्ध कहकर परिभाषित किया जा सकता है जो प्रथा व कानून द्वारा स्वीकृत हो और जिसमें विवाह से सम्बन्धित दोनों पक्षों और उनसे उत्पन्न होने वाले बच्चों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का समावेश होता है।[2]
गिलिन और गिलिन के अनुसार, ''विवाह एक प्रजननमूलक परिवार की स्थापना का समाज द्वारा स्वीकृत तरीका है।''[3]

विवाह की ऐतिहासिक व सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि :
विवाह एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। विवाह की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं।

श्री मार्गन के अनुसार मानव समाज व संस्कृति के प्रारम्भिक काल में विवाह नामक संस्था का कोई अस्तित्व न था, यह सामाजिक विकास के कुछ स्तरों के बाद उत्पन्न हुई है। मार्गन के अनुसार प्रारम्भ में समाज में कामाचार की स्थिति पाई जाती थी, यौन सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी, परन्तु प्राप्त आधुनिक प्रमाणों से यौनाचार की स्थिति प्रमाणित नहीं होती। ब्राजील, साइबेरिया, आस्ट्रेलिया की जनजातियों एवं भारत की अति प्राचीन कादर, चेचू, बिरहोर जनजाति में भी यौनिक स्वतंत्रता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। मार्गन के अनुसार यौनाचार के पश्चात् समूह विवाह का विकास हुआ। इस प्रकार के विवाह में स्त्रियों के समूह का पुरुषों के दूसरे समूह से विवाह होता है। जिसमें सभी स्त्री–पुरुष एक दूसरे के पति–पत्नी होते थे। तीसरी अवस्था में एक पुरुष का एक ही स्त्री से विवाह होता था किन्तु परिवार की सभी विवाहित स्त्रियों से यौन सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतंत्रता प्रत्येक पुरुष को रहती थी। चौथी अवस्था में बहुपति विवाह की स्थिति उत्पन्न हुई, जिसमें पुरुष एकाधिक स्त्रियों से यौन सम्बन्ध रख सकता था। एक विवाह की स्थिति इसके बाद आई।

बैकोफन के अनुसर भी आदिम समाज में विवाह नामक कोई संस्था स्पष्ट नहीं थी। यौन सम्बन्ध अनियमित थे। दूसरी अवस्था में बहुपति विवाह प्रथा का जन्म हुआ। समय बीतने के साथ कृषि का विकास होने पर उसमें सहयोग करने एवं विलासिता हेतु बहुपत्नी विवाह का जन्म हुआ। अन्ततः नैतिकता के विकास होने पर एक विवाह की प्रथा विकसित हुई।

वेस्टरमार्क ने उपरोक्त सिद्धान्तों की कटु आलोचना करते हुए एक विवाह के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। आपके अनुसार यौन सम्बन्धों की स्वतंत्रता, बहुपति या बहुपत्नी विवाह केवल सामाजिक नियमों के क्षणिक उल्लंघन मात्र हैं, स्थायी रूप तो एक विवाह ही है। मैलिनोवस्की ने भी श्री वेस्टरमार्क का समर्थन करते हुए लिखा है, ''एक विवाह ही विवाह का एकमात्र सत्य रूप है, रहा है और रहेगा।''

इस प्रकार विवाह के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न देशकालों में अनेक विचार प्रचलित हैं, किन्तु किसी भी सार्वभौमिक स्वरूप का अभाव है, किन्तु इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि यौन सम्बन्धों को नियमित करने, परिवार को स्थायी रूप देने, आर्थिक सहयोग करने एवं बच्चों के लालन–पालन की समुचित व्यवस्था करने के लिए विवाह संस्था का जन्म हुआ, इस तथ्य का प्रमाण सभी समाजों में उपलब्ध है।

भारतीय हिन्दू समाज में विवाह एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। इसे संस्कार माना जाता है जिसके द्वारा व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। हिन्दू विवाह जन्मजन्मान्तर का एक अटूट बंधन है, जो अनेक धार्मिक विधि विधानों व कर्मकाण्डों के माध्यम से सम्पन्न होता है जिसे कभी तोड़ा नहीं जा सकता।

कापड़िया के अनुसार, ''हिन्दू विवाह एक संस्कार है। एक हिन्दू अपने जीवन में विभिन्न संस्कारों को सम्पन्न करता हुआ आगे बढ़ता है और अपने व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करता है। प्रत्येक हिन्दू से प्रतिदिन पंच महायज्ञ करते रहने की अपेक्षा की जाती है और इन यज्ञों को पति–पत्नी के सहयोग से पूरा करने की बात कही गयी है। अतः हिन्दुओं के लिए विवाह एक आवश्यक संस्कार एवं कर्त्तव्य माना गया है।''[4]

हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्य हैं। धर्म (धार्मिक कर्त्तव्यों की पूर्ति), प्रजा (पुत्र प्राप्ति), रति (आनन्द)। कापड़िया के अनुसार ''हिन्दू विवाह के उद्देश्य धर्म, प्रजा तथा रति हैं।''

हिन्दू विवाह में धर्म एवं धार्मिक कर्त्तव्यों की पूर्ति को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। धार्मिक कार्यों की पूर्ति के लिए पत्नी का होना अनिवार्य है, अन्यथा ये अपूर्ण ही माने जायेंगे। प्रत्येक गृहस्थ से पंचमहायज्ञों ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ की पूर्ति की आशा की जाती है। यज्ञ में पति–पत्नी दोनों का होना अनिवार्य है अन्यथा धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं हो पाते।

कापड़िया के अनुसार ''हिन्दू विचारकों ने धर्म को विवाह का प्रथम उद्देश्य माना अर्थात् विवाह की इच्छा धार्मिक कृत्यों को करने हेतु एक साथी प्राप्त करने के लिए की जाती थी। पत्नी की मृत्यु हो जाने पर इन कार्यों में व्यवधान पड़ जाता था इसलिए गृहस्वामी के लिए तुरन्त ही दूसरी पत्नी लेने अर्थात् पुनः विवाह करने का प्रावधान था।''

हिन्दू विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना गया है। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार पुत्र पिता के लिए तर्पण और पिण्डदान करता है, उसे मोक्ष दिलाता है। परिवार में पुत्र की स्थिति इतनी ऊँची रखी गयी कि सन्तान उत्पादन परिवार तथा समुदाय के लिए एक कर्त्तव्य माना गया। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार पितृ ऋण से मुक्ति पाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति विवाह करके सन्तानों को जन्म दे क्योंकि संतान ही लोक व परलोक में सुख प्रदान करने वाली होती है। सन्तानोत्पत्ति से वंश व समाज की निरन्तरता बनी रहती है।

हिन्दू विवाह का तीसरा उद्देश्य यौन सन्तुष्टि है। उपनिषदों में यौन सुख को सबसे बड़ा सुख कहा गया है। हिन्दू धर्म में यौन इच्छाओं की पूर्ति को आवश्यक माना गया है, किन्तु वह मनमाने ढंग से नहीं वरन् समाज द्वारा स्वीकृत तरीकों से होनी चाहिए। विवाह के द्वारा ही व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है जिसमें रहते हुए व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ को करते हुए अंततः मोक्ष की प्राप्ति करता है।

इस प्रकार हिन्दू विवाह के उद्देश्यों में धर्म को प्रथम, सन्तानोत्पत्ति या प्रजा को द्वितीय एवं रति या यौन सन्तुष्टि को तृतीय या अन्तिम उद्देश्य माना गया है। डॉ0 कापड़िया के अनुसार, ''विवाह या यौन सन्तुष्टि विवाह का एक कार्य है किन्तु इसे तीसरा स्थान दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह विवाह का अत्यन्त ही कम वांछनीय उद्देश्य है।''

विवाह के उद्देश्य जहाँ इसकी धार्मिकता को प्रमाणित करते हैं वहीं हिन्दू विवाह अनेक धार्मिक विधि विधानों के माध्यम से सम्पन्न होता है। डॉ0 कापड़िया के अनुसार, ''हिन्दू विवाह एक संस्कार हे। यह पवित्र समझा जाता है क्योंकि यह तभी पूर्ण होता है जबकि ये पवित्र कृत्य पवित्र मंत्रों के साथ किये जायें।'' पी0वी0 काणे के अनुसार हिन्दू विवाह के दौरान 39 अनुष्ठानों व विधि विधानों का उल्लेख किया है। बिना धार्मिक विधि विधानों के हिन्दू विवाह को पूर्ण नहीं माना जाता। विवाह के दौरान सम्पन्न किये जाने वाले प्रमुख संस्कार निम्नवत् हैं।

वाग्दान – यह वह संस्कार है जिसमें वर पक्ष द्वारा कन्या पक्ष के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है और कन्या पक्ष द्वारा इसे स्वीकार किया जाता है, किन्तु वर्तमान भारतीय समाज में विवाह का प्रस्ताव कन्या पक्ष द्वारा वर पक्ष के सामने रखा जाता है।

कन्यादान – कन्यादान को भारतीय संस्कृति में सबसे बड़ा दान कहा गया है। कन्या का पिता पवित्र मंत्रों के साथ अपनी कन्या को वर के हाथों में सौंपता है एवं यह आवश्वासन लेता है कि वह कोई भी धार्मिक कार्य बिना पत्नी के नहीं करेगा।

विवाह होम – विवाह के समय अग्नि प्रज्जवलित की जाती है एवं उसे साक्षी मानकर विवाह को सम्पन्न किया जाता है। वर–वधू अग्नि में आहूतियाँ देते हुए सुखी दाम्पत्य जीवन की कामना करते हैं।

पाणिग्रहण – पाणिग्रहण का अर्थ है वर–वधू द्वारा एक दूसरे के हाथ को ग्रहण करना। इसमें पति पत्नी परस्पर प्रतिज्ञाएँ करते हुए एक दूसरे के हाथ को ग्रहण करते हैं एवं परस्पर साथ रहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

अग्नि परायण – वर एवं वधू अग्नि प्रदक्षिणा करते हुए विवाह बंधन को स्वीकार करते हैं।

अश्मारोहण – इसमें कन्या का भाई कन्या का पैर उठाकर शिला पर रखता है। कन्या धार्मिक कार्यों में दृढ़ता का वचन देती है।

लाजा होम – इसमें वर वधू पूर्व की ओर मुँह करके खड़े होते हैं। कन्या का भाई अग्नि कुण्ड में धान के भुने दानों को डालता है। पति–पत्नी सुखी दाम्मपत्य जीवन की कामना करते हैं।

सप्तपदी – इसमें पति–पत्नी ग्रंथि बंधन किये हुए उत्तर की ओर मुख करके साथ–साथ चलते हैं।

इस प्रकार विवाह के समय सम्पन्न किये गये जाने वाले ये संस्कार विवाह की धार्मिक प्रकृति को प्रकट करते हैं। इसके साथ ब्राह्मणों की उपस्थिति, वेदमंत्रों का उच्चारण, अग्निकुण्ड में दी जाने वाली आहूतियाँ विवाह की धार्मिक प्रकृति को प्रकट करते हैं। डॉ0 पी0एच0 प्रभु ने लिखा है, ''हिन्दू के लिए विवाह एक संस्कार है तथा इस कारण विवाह सम्बन्ध में जुड़ने वाले पक्षों का सम्बन्ध संस्कार रूपी है न कि प्रसंविदा की प्रकृति का।''[5]

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू विवाह एक संस्कार है, किन्तु वर्तमान समय में विवाह में संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक रूप से अत्यधिक परिवर्तन हुए हैं।

हिन्दू विवाह के परम्परागत स्वरूप :

परम्परागत रूप से हिन्दू विवाह के निम्नांकित आठ स्वरूप माने गये हैं। हिन्दू विवाह का प्रथम स्वरूप ब्रह्म विवाह है। विवाह के इस स्वरूप को श्रेष्ठ माना गया है। मनु ने ब्रह्म विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा है, ''वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को बुलाकर, वस्त्र एवं आभूषण आदि से अलंकृत कर पूजा एवं धार्मिक विधि से कन्यादान कराना ही ब्रह्म विवाह है।''

गौतम ने धर्मसूत्र में लिखा है, वेदों का विद्वान, अच्छे आचरण वाला, बंधु–बांधवों से सम्पन्न, शीलवान वर को वस्त्र के जोड़े एवं अलंकारों से सुसज्जित कन्या दान देना ही ब्रह्म विवाह है।

हिन्दू विवाह का दूसरा स्वरूप दैव विवाह है। मनु के अनुसार, ''सदकर्म में लगे पुरोहित को जब वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित कन्या दी जाती है तो इसे दैव विवाह कहते हैं।'' प्राचीन समय में यज्ञ और धार्मिक अनुष्ठानों का अधिक महत्व था, जो ऋषि या पुरोहित इन पवित्र धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराता है यजमान उससे अपनी कन्या का विवाह कर देता था। यज्ञों के समाप्त होने के साथ–साथ ऐसे विवाह भी समाप्त हो गये।

हिन्दू विवाह का तीसरा स्वरूप आर्ष विवाह है। विवाह का इच्छुक वर कन्या के पिता को एक गाय और एक बैल अथवा उसके दो जोड़े प्रदान करके विवाह करता है। आर्ष का सम्बन्ध ऋषि शब्द से है। जब कोई ऋषि किसी कन्या के पिता को गाय और बैल भेंट स्वरूप देता है तो ऐसा मान लिया जाता है कि उसने विवाह करने का निश्चय कर लिया है।

विवाह का चौथा स्वरूप प्रजापत्य विवाह भी ब्रह्म विवाह के समान होता है। इसमें लड़की का पिता आदेश देते हुए कहता है, ''तुम दोनों एक साथ रहकर आजीवन धर्म का आचरण करो।'' यज्ञवल्क्य के अनुसार इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान बारह पीढ़ियों को पवित्र करने वाली होती है।

हिन्दू विवाह का पाँचवां स्वरूप असुर विवाह है। मनु के अनुसार कन्या के परिवार वालों एवं कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार धन देकर अपनी इच्छा से कन्या को ग्रहण करना असुर विवाह कहा जाता है।

हिन्दू विवाह का छठाँ स्वरूप गान्धर्व विवाह है। गान्धर्व विवाह को वर्तमान में प्रेम विवाह कहा जाता है। प्राचीन समय में गान्धर्व नामक जाति द्वारा इस प्रकार के विवाह किये जाने के कारण ही ऐसे विवाहों का नाम गान्धर्व विवाह रखा गया है। वर्तमान में हम इसे प्रेम विवाह के नाम से जानते हैं। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में इसे एक आदर्श विवाह माना है।

हिन्दू विवाह का सातवाँ स्वरूप राक्षस विवाह है। मनु के अनुसार, अंग भेदन करके, घर तोड़कर, हल्ला करती हुई, रोती हुई कन्या का बलात् अपहरण करके लाना राक्षस विवाह कहा जाता है। इस प्रकार के विवाह उस

समय अधिक होते थे जब युद्ध का महत्व था और स्त्री को युद्ध का पुरस्कार माना जाता था। क्षत्रियों द्वारा इस प्रकार के विवाह अधिक होने के कारण इसे क्षात्र विवाह भी कहा जाता है।

हिन्दू विवाह का आठवाँ एवं निम्नतम स्वरूप पैशाच विवाह है। सोई हुई, उन्मत, घबराई हुई, मदिरापान की हुई अथवा राह में जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करके उससे विवाह करना पैशाच विवाह है। इस प्रकार का विवाह सबसे निम्न कोटि का माना गया है।

उपर्युक्त प्रकार के विवाह में ब्रह्म विवाह को सर्वश्रेष्ठ, प्रजापत्य को मध्यम एवं आर्ष, असुर तथा गान्धर्व को निम्न कोटि का माना गया है। वर्तमान समय में हिन्दू समाज में केवल ब्रह्म विवाह ही प्रचलित है। पढ़े–लिखे लोगों व युवाओं में प्रेम विवाह की संख्या बढ़ती जा रही है।

विवाह के नियम :

हिन्दू विवाह में जहाँ अनेक विधि विधानों व कर्मकाण्डों का समावेश होता है वहीं हिन्दू विवाह से सम्बन्धित कुछ नियम हैं जिन्हें चार भागों में बाँट सकते हैं।

अन्तर्विवाह (Endogamy) – अन्तर्विवाह का तात्पर्य है कि एक व्यक्ति अपने जीवनसाथी का चुनाव अपने समूह में से करे। रिवर्स के अनुसार, ''अन्तःविवाह से अभिप्राय उस विनिमय से है, जिसमें अपने समूह में से जीवनसाथी का चुनाव अनिवार्य होता है।''

वैदिक व उत्तरवैदिक काल में द्विजों का एक वर्ण था जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण का समावेश था। ये वर्ण आपस में विवाह कर सकते थे किन्तु शूद्र एक पृथक वर्ण थां आगे चलकर एक वर्ण कई जातियों व उपजातियों में विभाजित हो गयी जिससे विवाह का दायरा अत्यन्त सीमित होता गया और लोग अपनी ही जाति एवं उपजाति में विवाह करने लगे।

बहिर्विवाह (Exogamy) – बहिर्विवाह से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। रिवर्स के अनुसार, ''बहिर्विवाह से बोध होता है उस विनिमय का जिसमें एक सामाजिक समूह के सदस्य के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह दूसरे सामाजिक समूह से अपना जीवनसाथी ढूँढ़े।'' हिन्दुओं में बहिर्विवाह के नियमों के अनुसार एक व्यक्ति को अपने परिवार, गोत्र प्रवर, पिण्ड से बाहर विवाह करना चाहिए।

गोत्र बहिर्विवाह – हिन्दुओं में सगोत्र विवाह निषेध है। गोत्र का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पत्ति एक समान ऋषि पूर्वज से हुई हो। 'सत्याषाढ हिरण्यकेशी श्रोतसूत्र' के अनुसार विश्वामित्र, जमदाग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य नामक आठ ऋषियों की संतानों को गोत्र के नाम से पुकारा गया। एक गोत्र के सदस्यों द्वारा अपने गोत्र से बाहर विवाह करना ही गोत्र बहिर्विवाह कहलाता है। डॉ0 अल्टेकर के अनुसार ईसा से 600 वर्ष पूर्व सगोत्र विवाह निषेध नहीं था। मनु ने भी सगोत्र विवाह को पाप नहीं माना, किन्तु स्मृतिकाल में सगोत्र विवाह निषेध हो गया। इस समय सगोत्र विवाह करने वालों के लिए अनेक दण्ड, प्रायश्चित एवं जाति से बहिष्कृत करने की व्यवस्था की गयी है। ऐसे व्यक्ति को चाण्डाल की संज्ञा दी गयी।

सप्रवर बहिर्विवाह – हिन्दू समाज में सप्रवर विवाह भी निषेध था। समान ऋषि व पूर्वजों के नाम के उच्चारण के साथ अग्नि में आहूति देने वाले परिवारों के समूह एक ही प्रवर के माने जाते हैं। वे परस्पर विवाह नहीं करते या अपने प्रवर से बाहर विवाह करते हैं। पी0वी0 काणे के अनुसार सप्रवर विवाह निषेध तीसरी शताब्दी से प्रारम्भ हुई और नौवीं शताब्दी तक चलते–चलते इनका रूप कठोर हो गया।

सपिण्ड बहिर्विवाह – सप्रवर और सगोत्र के समान सपिण्ड विवाह भी निषेध होते हैं। समान पूर्वज को पिण्डदान करने वाले सपिण्डी माने जाते हैं जो सामान्यतः रक्त सम्बन्धी होते हैं जिसके कारण वे परस्पर विवाह नहीं कर सकते। कितनी पीढ़ी तक के लोगों को सपिण्डी कहें इस विषय पर मतभेद है। वशिष्ठ ने पिता की

ओर सात एवं माता की ओर पाँच पीढ़ियों तक के लोगों से विवाह करने पर प्रतिबंध लगाया है। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 ने सपिण्ड बहिर्विवाह को मान्यता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त भारतीय समाज में गाँवों में ग्राम बहिर्विवाह की प्रथा भी प्रचलित है।

विवाह से सम्बन्धित हुए पूर्व अध्ययन :

हिन्दू विवाह, इसके संगठन, विशेषताओं, कार्यों एवं इसमें होने वाले परिवर्तनों से सम्बन्धित अनेक अध्ययन हुए हैं।

के0एम0 कपाड़िया ने गुजरात के नवसारी में परिवार व विवाह का अध्ययन किया। अपने अध्ययन में जहाँ एक ओर उन्होंने परिवार में हुए परिवर्तन को रेखांकित किया है वहीं दूसरी ओर उन्होंने यह बताया कि धीरे–धीरे विवाह की जन्म–जन्मान्तर का अटूट व अनिवार्य बंधन मानने की धारणा कमजोर पड़ती जा रही है।[6]

के0टी0 मर्चेन्ट ने अपने अध्ययन में यह बताया कि अधिकांश युवाओं ने विवाह को अनावश्यक माना। विवाह को अपनी स्वतंत्रता में बाधक मानते हैं। विलम्ब विवाह की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।[7]

नीरा देसाई ने अपने अध्ययन में यह पाया कि अधिकांश महिलाएँ अपने आत्मसम्मान व व्यक्तित्व के विकास को अपना लक्ष्य मानने लगी हैं। वर्तमान में हिन्दू विवाह का सांस्कारिक व धार्मिक स्वरूप शिथिल पड़ता जा रहा है।[8]

बी0वी0 शाह ने अपने अध्ययन में यह बताया कि अधिकांश युवा अपने माता–पिता की इच्छा के विरूद्ध जाकर विवाह करना उचित समझते हैं। युवाओं का यह तर्क था कि विवाह के अच्छे–बुरे परिणामों को उन्हें स्वयं सहना पड़ता है इसलिए बहुत कम युवा माता–पिता की इच्छा पर निर्भर रहना चाहते हैं।[9]

प्रमिला कपूर ने अपनी पुस्तक 'मैरिज एण्ड वर्किंग वुमन इन इण्डिया' में यह बताने का प्रयास किया कि हिन्दू समाज में विवाह को अनिवार्य धार्मिक कर्त्तव्य मानने की धारणा में धीरे–धीरे परिवर्तन हो रहा है योग्य जीवनसाथी न मिलने की स्थिति में युवा अविवाहित रहना पसन्द करते हैं साथ ही विलम्ब विवाह की संख्या भी बढ़ती जा रही है।[10]

एम0 रजनीकांत ने अपने अध्ययन 'कन्ज्यूमर प्रिफ्रेंसेस टूवार्ड्स ए ऑनलाइन मैट्रीमोनियम पोर्टल्स – ए स्टडी ऑफ मैट्रीमोनी पोर्टल्स इन हैदराबाद' में बताया कि भारत में विभिन्न संस्कृतियों व समुदायों का संयोजन है। विवाह की एक लम्बी परम्परा है जिसमें दो आत्माओं के मिलन की बात की जाती है। वर्तमान समय में वैवाहिक गतिविधियों में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। पूर्व में जहाँ परिवार, जाति, समाज, उपजाति, पण्डितों द्वारा वैवाहिक रिश्ते तय किये जाते थे वहीं वर्तमान में विभिन्न वैवाहिक साइटों के माध्यम से विवाह तय किये जा रहे हैं।[11]

योगेन्द्र सिंह ने अपने अध्ययन में यह बताया कि समाज में धीरे–धीरे विवाह हेतु युवक–युवती की अनुमति को आवश्यक समझा जाने लगा है। प्रेम विवाह में भी वृद्धि हो रही है।[12]

फरहाद जमा ने अपनी पुस्तक 'द मैरिज ब्यूरो फॉर रिच पिपुल' में धनी लोगों का विशेष रूप से सेवानिवृत्त व्यक्ति एवं जिनका जीवन नीरस हो जाता है वे मैरिज ब्यूरो का उपयोग किस प्रकार करते हैं इसका विश्लेषण किया है।[13]

हिन्दू विवाह में परिवर्तन :

वर्तमान में विवाह संस्था में हमें अत्यधिक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। धार्मिकता का ह्रास हिन्दू विवाह में वर्तमान में होने वाला एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। हिन्दू विवाह का उद्देश्य धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन हेतु साथी प्राप्त करना था। पुत्र प्राप्ति भी धार्मिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण माना जाता था, किन्तु वर्तमान में धार्मिक

उद्देश्य गौण एवं रति (आनन्द) महत्वपूर्ण उद्देश्य बन गया है। धर्मपत्नी के स्थान पर सहचरी, समकक्ष जीवनसाथी प्राप्त करना महत्वपूर्ण उद्देश्य बन गया है। पुत्र प्राप्ति का महत्व अब पहले की अपेक्षा काफी कम हो गया है। परम्परागत रूप से हिन्दू समाज में विवाह एक अनिवार्य संस्कार माना जाता था। विवाह के पश्चात् व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था जिसमें पत्नी के साथ अनेक धार्मिक संस्कारों को सम्पन्न करता हुआ व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करता था। विवाह न करने वाले व्यक्ति को समाज में कोई सम्मान प्राप्त नहीं था। वर्तमान में युवाओं में विवाह न करने की प्रवृत्ति देखी जा रही है। अब विवाह एक अनिवार्य संस्कार न होकर व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर होती जा रही है।

परम्परागत भारतीय समाज में रजस्वला होने से पूर्व लड़की का विवाह करना सर्वोत्तम माना जाता था। कानून द्वारा बाल–विवाह पर प्रतिबंध लगने के पश्चात् लड़के–लड़कियों की विवाह के उम्र में वृद्धि हुई किन्तु वर्तमान में आधुनिक शिक्षा व आत्मनिर्भर बनने की चाह में विलम्ब विवाह को प्रोत्साहन मिला है विशेष रूप से शिक्षित व नगरीय परिवारों में विवाह की उम्र 25 से 30 वर्ष या इससे भी अधिक हो चुकी है। अनेक अध्ययनों से यह तथ्य सामने आये हैं कि वर्तमान में युवा कम उम्र में विवाह करना नहीं चाहते।

परम्परागत रूप से विवाह हेतु वर एवं वधू का चुनाव माता–पिता, सगे–सम्बन्धियों व नातेदारों के माध्यम से किये जाते थे। वर–वधू के चुनाव में लड़के–लड़की की इच्छा या पसन्द का कोई ध्यान नहीं रखा जाता था, किन्तु वर्तमान में विवाह हेतु सगे–सम्बन्धियों के साथ वैवाहिक विज्ञापनों, वैवाहिक साइट्स व अन्य सोशल साइट्स के माध्यम से भी विवाह तय किये जा रहे हैं।

विधवा पुनर्विवाह में वृद्धि एवं इसकी स्वीकार्यता हिन्दू विवाह में महत्वपूर्ण बदलाव है। विवाह को जन्म–जन्मान्तर का अटूट बंधन माना जाता था। समाज में पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा स्त्री को पुनर्विवाह की स्वीकृति न मिलती थी। जबकि पति को पुनर्विवाह की अनुमति थी। स्वामी दयानन्द, राजाराममोहन राय, विष्णुशास्त्री पंडित, घोंडो केशव कर्वे और महादेव गोविन्द रानाडे जैसे समाजसुधारकों व ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के अथक प्रयासों से 1856 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित हुआ, विष्णुशास्त्री पंडित ने विधवा पुनर्विवाह संघ की स्थापना की। वहीं घोंडो केशव कर्वे ने महिला शिक्षा और विधवाओं को आत्म निर्भर बनाने पर जोर दिया। उपरोक्त प्रयासों व विधवा पुनर्विवाह अधिनियम के पश्चात् भी समाज में विधवा पुनर्विवाह को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था एवं इसकी स्वीकार्यता समाज के गिने–चुने लोगों तक ही सीमित थी। विधवा होना एक कलंक जैसा था। विधवा स्त्री को अशुभ समझा जाता था उसे मांगलिक व शुभ कार्यों में सम्मिलित होने की अनुमति नहीं थी। उन्हें रंगीन कपड़े पहनने व श्रृंगार करने के भी अधिकार प्राप्त नहीं थे किन्तु वर्तमान समय में जहाँ एक ओर विधवा पुनर्विवाह की स्वीकार्यता बढ़ी है वहीं दूसरी ओर विधवा स्त्री को परिवार व समाज में हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता। विधवाओं की सामाजिक, धार्मिक निर्योग्यताएँ अब समाप्त हो रही हैं।

पूर्व वैवाहिक व उत्तर वैवाहिक यौन सम्बन्धों में वृद्धि विवाह में होने वाला एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। हिन्दू विवाह में यौन सम्बन्धी पवित्रता का स्थान विशेष महत्वपूर्ण रहा। जहाँ एक ओर अविवाहित स्त्री विवाह के पश्चात् ही यौन सम्बन्ध स्थापित करती है, वहीं दूसरी ओर विवाहिता के लिए विवाह जन्म–जन्मान्तर का अटूट बंधन माना जाता था। विवाहिता स्वप्न में भी पर पुरुष का ध्यान नहीं कर सकती, किन्तु वर्तमान में यौन सम्बन्धी नैतिकता में हमें निरन्तर ह्रास देखने को मिल रहा है। जहाँ एक ओर युवक व युवतियाँ विवाह से पूर्व ही लिव–इन–रिलेशनशिप के माध्यम से यौन सम्बन्धी नैतिकता को तोड़ रहे हैं वहीं दूसरी ओर विवाहित युवाओं में विवाहेत्तर यौन सम्बन्ध के मामले बढ़ रहे हैं।

वर्तमान भौतिकवादी युग में धन व्यक्ति के मान–सम्मान व प्रतिष्ठा का एक प्रमुख आधार बन गया है। अधिकांश माता–पिता अपने पुत्र की शादी में अधिक से अधिक धन–सम्पत्ति व अन्य भौतिक उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त करना अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं, जिससे दहेज की माँग में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

वर्तमान में विवाह सम्बन्धी निषेधों में अत्यधिक बदलाव आया है। सगोत्र व सप्रवर विवाह लगभग समाप्त हो चुके हैं। वर्तमान में सप्रवर जैसी कोई संस्था भी नहीं है। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के द्वारा सगोत्र विवाह को मान्यता प्रदान की गयी है। सपिण्ड विवाह निषेध है, किन्तु यदि स्थानीय प्रथा इसे अनुमति देते हैं तो ऐसा विवाह किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विशेष विवाह अधिनियम 1954 के द्वारा अन्तर्जातीय विवाह को भी वैधानिक मान्यता प्रदान की गयी है। इसके अतिरिक्त अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन भी दिया जा रहा है। इससे न केवल अन्तर्जातीय विवाह की संख्या बढ़ी है बल्कि इसकी स्वीकार्यता भी बढ़ी है। यद्यपि ऐसे विवाहों की संख्या सीमित है।

स्त्रियों की स्थिति में बदलाव हिन्दू विवाह में होने वाला वर्तमान में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। जीवनसाथी का चुनाव, विवाह की सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं विवाह विच्छेद में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हुए हैं। विवाह तय करने में लड़के के साथ वर्तमान में लड़की की अनुमति भी ली जाती है। विवाह विच्छेद के सम्बन्ध में लड़का एवं लड़की दोनों को समान अधिकार प्राप्त हुए हैं। साथ ही पुनर्विवाह के सम्बन्ध में भी स्त्री को पुरुषों के समान विवाह की अनुमति प्राप्त हो रही है साथ ही इसकी सामाजिक स्वीकार्यता भी बढ़ी है।

प्रेम विवाह में वृद्धि हिन्दू विवाह में वर्तमान समय में होने वाला एक महत्वपूर्ण बदलाव है। वर्तमान में युवाओं में विभिन्न कारणों से सम्पर्क व नजदीकी बढ़ी है, जिससे कि प्रेम विवाह की संख्या में बढ़ोतरी हुई है।

वर्तमान समय में विवाह से सम्बन्धित रीति–रिवाजों एवं नियमों में अत्यधिक बदलाव हुए हैं। इन रीति–रिवाजों पर भौतिकता व आधुनिकीकरण का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। परम्परागत हिन्दू विवाह में कुण्डली मिलान, निर्धारित तिथि व समयानुसार विवाह सम्पन्न करने पर विशेष ध्यान रखा जाता था किन्तु वर्तमान में इसके पालन के प्रति शिथिलता आई है। विवाह को अधिक से अधिक भव्य व आकर्षक बनाने पर विशेष जोर दिया जाता है न कि विशेष तिथि व समय का।

वैयक्तिकता व स्वतंत्रता सम्बन्धी मूल्यों में वृद्धि हिन्दू विवाह में होने वाला एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। परम्परागत रूप से विवाह एक संस्कार था जिसमें परिवार, नातेदार व रिश्तेदारों की विशेष भूमिका थी किन्तु वर्तमान में विवाह दो व्यक्तियों के बीच होने वाला वैयक्तिक सम्बन्ध बनता जा रहा है। विवाह करने हेतु जहाँ लड़का व लड़की की इच्छा महत्वपूर्ण है वहीं विवाह के पश्चात् विवाहित पति–पत्नी भी एक–दूसरे से स्वतंत्र रहना चाहते हैं, जिससे पति–पत्नी के बीच आपसी विवाद लगातार बढ़ रहे हैं। इस सम्बन्ध में 21 अगस्त, 2025 को सुप्रीम कोर्ट की टिप्पणी महत्वपूर्ण है। एक मामले की सुनवाई के दौरान सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि यदि कोई व्यक्ति पूरी तरह स्वतंत्र रहना चाहता है तो उसे शादी नहीं करनी चाहिए। जस्टिस बी0वी0 नागरत्ना और जस्टिस आर0 महादेवन की पीठ ने एक अलग हो रहे दम्पत्ति के सम्बन्ध में यह टिप्पणी की और कहा कि शादी में पूर्ण स्वतंत्रता असम्भव है और इसमें आपसी सहयोग, सामंजस्य व भावनात्मक निर्भरता स्वाभाविक है। वर्तमान में लिव–इन–रिलेशनशिप एवं समलैंगिक विवाह के बढ़ते मामले वैयक्तिकता व स्वतंत्रता का ही परिणाम है। भारत में विशेषकर शहरी क्षेत्रों में युवक–युवतियों में लिव–इन–रिलेशनशिप में वृद्धि देखने को मिल रही है। युवा इसे अपनी स्वतंत्रता के रूप में देख रहे हैं एवं ऐसा मान रहे हैं कि विवाह पूर्व एक दूसरे को समझने का यह एक अच्छा तरीका है किन्तु आज भी भारतीय समाज में ऐसे विवाहों को सामाजिक व कानूनी स्वीकार्यता का पूर्ण अभाव है। समलैंगिक विवाह के मामले भी भारतीय समाज में हमें देखने को मिल रहे हैं किन्तु ऐसे विवाह को भी सामाजिक व कानूनी मान्यता का अभाव है। किन्तु समलैंगिक विवाह की

संख्या में वृद्धि व इसके लिए समान वैधानिक व सामाजिक अधिकारों की बढ़ती माँग परम्परागत हिन्दू विवाह में होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तन को रेखांकित करते हैं।

वर्तमान में विवाह को जन्म–जन्मांतर का अटूट बंधन नहीं माना जाता। विवाह एक समझौता बनता जा रहा है, जिसे कभी–भी तोड़ा जा सकता है। पूर्णिमा कुमारी ने अपने शोध हिन्दू दम्पत्तियों में विवाह विच्छेद एक समाजशास्त्रीय अध्ययन में यह पाया कि वर्तमान में हिन्दू विवाह जन्म–जन्मान्तर का एक अटूट बंधन न होकर एक समझौता बन गया है, कलहपूर्ण वैवाहिक जीवन को बनाये रखने की अपेक्षा इसे समाप्त कर लेना अधिक उचित समझा जाता है। औद्योगीकरण, नगरीकरण, व्यक्तिवादिता, स्त्रियों की आत्मनिर्भरता, शिक्षा, वैवाहिक जीवन में सामंजस्य की कमी, दाम्पत्य जीवन में परिवारजनों का हस्तक्षेप, विवाह विच्छेद से सम्बन्धित कानून विवाह विच्छेद के प्रमुख कारण हैं।[14] वर्तमान में विवाह विच्छेद की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है।

हिन्दू विवाह में परिवर्तन के कारक :

विवाह संस्था में परिवर्तन के अनेक कारक उत्तरदायी हैं। औद्योगीकरण व नगरीकरण ने समाज में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन को उत्पन्न किया। औद्योगीकरण के कारण समाज में भौतिकवादिता, श्रम विभाजन विशेषीकरण, व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बढ़ावा मिला। एकाकी परिवारों में महिलाओं में स्वतंत्रता बढ़ी। इन सभी परिवर्तनों ने विवाह को प्रभावित किया।

पश्चिमी भौतिकवादी संस्कृति के कारण भारतीय समाज में अनेकों बदलाव आये। धार्मिकता का ह्रास, पतिव्रत के आदर्श को न मानने की प्रवृत्ति, तार्किकता, व्यक्तिवादिता भौतिकवादी मूल्यों का प्रभाव आदि पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव को ही स्पष्ट करते हैं। इन सभी प्रभावों ने भारतीय हिन्दू विवाह को प्रभावित किया।

वैश्वीकरण ने सम्पूर्ण भारतीय समाज को प्रभावित किया जिससे विवाह संस्था भी अछूती नहीं रही। वैश्वीकरण ने विवाह को संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक दोनों ही प्रकार से प्रभावित किया।

आधुनिक शिक्षा भी विवाह संस्था में परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारक है। आधुनिक शिक्षा ने लोगों में तार्किक, भौतिकवादी, स्वतंत्र व स्त्री–पुरुष के प्रति समानतावादी मूल्यों को बढ़ावा दिया, जिससे विवाह संस्था प्रभावित हुई।

स्त्रियों की स्थिति में होने वाले परिवर्तन ने सम्पूर्ण समाज व उसकी संस्थाओं को प्रभावित किया। स्वतंत्रता, समानता व आत्म निर्भरता के कारण स्त्रियों की विवाह करने तथा विवाह सम्बन्धी निर्णय लेने में उनकी भागीदारी बढ़ी।

विभिन्न सामाजिक विधानों ने भी हिन्दू विवाह संस्था में अनेकों परिवर्तन उत्पन्न किया। हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856, बाल–विवाह अधिनियम 1929, हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, विशेष विवाह अधिनियम 1954, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956, हिन्दू गोद लेना व भरण–पोषण अधिनियम 1956 ने विवाह की आयु, विवाह के नियमों, विवाह की प्रणाली, विवाह की धार्मिक प्रवृत्ति व विवाह के स्थायित्व को अत्यधिक प्रभावित किया है।

नवीन प्रौद्योगिकी ने भी विवाह को प्रभावित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परम्परागत रूप से भारतीय समाज में विवाह हेतु जीवनसाथी का चुनाव नातेदारों व सगे–सम्बन्धियों के माध्यम से किया जाता था किन्तु वर्तमान में इण्टरनेट व मैरिज ब्यूरो साइट्स के माध्यम से जीवनसाथी के चुनाव का चलन बढ़ा है। अखबारों में भी विवाह हेतु आकर्षक विज्ञापन निकाले जाते हैं। साथ ही विवाह की प्रक्रिया को पूरा करने, निमंत्रण भेजने व विवाह को भौतिक व आकर्षक बनाने में भी डिजिटल प्रौद्योगिकी का महत्वपूर्ण योगदान है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार विभिन्न अध्ययनों से प्राप्त तथ्यों व दिन–प्रतिदिन के सामाजिक जीवन के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज एवं व्यक्तियों के सम्बन्धों को नियंत्रित करने वाली संस्था विवाह में वर्तमान में अत्यधिक परिवर्तन हुए हैं। हिन्दू विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार न रहकर समझौता बनता जा रहा है। विवाह को जन्म–जन्मान्तर का अटूट बंधन मानने की प्रवृत्ति भी अब धीरे–धीरे समाप्त हो रही है, जिससे विवाह विच्छेद की घटनाओं में वृद्धि हो रही है। विवाह में सामूहिकता की जगह व्यक्तिवादी मूल्यों को बढ़ावा मिला है। परिवार व नातेदारों की जगह विवाह में लड़का व लड़की की इच्छा व सहमति महत्वपूर्ण बनती जा रही है। विवाह से सम्बन्धी अन्तर्विवाह व बहिर्विवाह के नियमों के पालन के प्रति भी शिथिलता बढ़ती जा रही है। प्रेम विवाह व अन्तर्जातीय विवाह में वृद्धि एवं समाज में इसकी स्वीकार्यता बढ़ी है। विलम्ब विवाह का प्रचलन भी तेजी से बढ़ा है साथ ही युवाओं में विवाह न करने की प्रवृत्ति भी देखी जा रही है। वर्तमान में लिव–इन– रिलेशनशिप विवाह के विकल्प के रूप में सामने आ रहा है जिसमें युवा बिना विवाह बंधन में बँधे साथ रहते हैं एवं एक–दूसरे को समझने का प्रयास करते हैं युवाओं में लिव–इन–रिलेशनशिप की स्वीकार्यता बढ़ी है। स्वतंत्रता के प्रति आग्रह के कारण युवा लिव–इन–रिलेशनशिप को अपना रहे हैं। विवाह वह संस्था है जिससे परिवार की स्थापना व बच्चों के जन्म को सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है, किन्तु आधुनिक समय में सेरोगेसी के माध्यम से सन्तानोत्पत्ति को मान्यता मिली है। वर्तमान में विवाह का एक नया स्वरूप समलैंगिक विवाह के रूप में देखने को मिल रहा है। परम्परागत रूप से विवाह दो विषम लिंग के व्यक्तियों के साथ होते हैं, किन्तु समलैंगिक विवाह विवाह की एक नवीन प्रवृत्ति के रूप में प्रचलित हो रही है। भारत में ऐसे विवाह को कानूनी व सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है, किन्तु ऐसे कई देश हैं जैसे अमेरिका, कनाडा, नीदरलैण्ड एवं नेपाल जहाँ समलैंगिक विवाह वैध हैं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने समलैंगिक जोड़ों के साथ भेदभाव न करने का निर्देश दिया है। आधुनिक समय में पूर्व वैवाहिक व उत्तर वैवाहिक यौन सम्बन्धों की प्रवृत्ति सामान्य होती जा रही है, किन्तु ऐसे सम्बन्ध समाज में स्वीकार्य नहीं हैं।

यद्यपि उपर्युक्त परिवर्तन के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि क्या हिन्दू विवाह का परम्परागत स्वरूप पूर्णतः समाप्त हो जायेगा? परन्तु ऐसा नहीं है। यह अवश्य है कि विवाह का धार्मिक पक्ष पहले की अपेक्षा कम प्रभावशाली है किन्तु आज भी हिन्दू समाज विवाह को एक धार्मिक संस्कार मानता है, साथ ही विभिन्न नवीन प्रौद्योगिकी व भव्यता के साथ शादी लॉन व पण्डालों में गणेश प्रतिमा की भव्य पूजा व द्वारपूजा का भव्य आयोजन हिन्दू विवाह के धार्मिक पक्ष को बनाये हुए हैं। कन्यादान, विवाह होम, अग्निपरायण, लाजा होम, पाणिग्रहण, सप्तपदी आदि महत्वपूर्ण विवाह से सम्बन्धित कर्मकाण्ड आज भी कराये जाते हैं। विवाह–विच्छेद की घटनाओं में वृद्धि के पश्चात् भी आज भारतीय जनमानस विवाह को एक स्थायी बंधन मानता है। यद्यपि वर्तमान में विवाह को अनिवार्य संस्कार मानने की प्रवृत्ति में ह्रास हुआ है एवं कई युवा विवाह करने की अपेक्षा अविवाहित रहना पसंद करने लगे हैं किन्तु इनकी संख्या अत्यन्त सीमित है। आज भी हिन्दू समाज अपने पुत्र–पुत्री का विवाह करना अपना अनिवार्य उत्तरदायित्व मानते हैं। विवाह सम्बन्धी निर्णय यद्यपि अंतिम रूप से लड़के एवं लड़की द्वारा लिये जाते हैं किन्तु कुछ अपवादों को छोड़कर वैवाहिक कार्यक्रमों में परिवार के सदस्यों व नातेदारों की उपस्थिति महत्वपूर्ण व आवश्यक होती है। वर्तमान में प्रेम विवाह व अन्तर्जातीय विवाह की संख्या व स्वीकार्यता में यद्यपि वृद्धि हुई है किन्तु इनकी संख्या अत्यन्त सीमित है। आज भी भारतीय अभिभावक अपने बच्चों का विवाह अपनी जाति में एवं सुव्यवस्थित तरीके से करना पसन्द करते हैं। साथ ही उच्च वर्गीय एवं शहरी युवाओं में बढ़ती लिव–इन–रिलेशनशिप की प्रवृत्ति को हम विवाह का विकल्प नहीं मान सकते, इनकी संख्या अत्यन्त सीमित है एवं समाज में इसकी स्वीकार्यता न के बराबर है। विवाह हेतु

डिजिटल साइट्स का उपयोग बढ़ने के बाद भी अधिकांश माता–पिता अपने बच्चों का विवाह नातेदारों व सगे–सम्बन्धियों से प्राप्त सूचना के आधार पर करना अधिक उपयुक्त व विश्वसनीय मानते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विवाह में होने वाला परिवर्तन समाज एवं संस्कृति की परिवर्तनशील प्रकृति का परिणाम है। विभिन्न परिवर्तनों के बाद भी वर्तमान हिन्दू विवाह यौन सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति, परिवार स्थापना, बच्चों के लालन–पालन, भावनात्मक सुरक्षा एवं समाज की निरन्तरता बनाये रखने का एक महत्वपूर्ण आधार है। इस आधार को पल्लवित, पुष्पित और संस्कारित करने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

1. बोगार्ड्स, 1949, इन्ट्रोडक्शन टू सोशियोलॉजी, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, पृ.सं. 235.
2. वेस्टरमार्क, ई. 1921, द हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरिज, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, पृ.सं. 24.
3. गिलिन एण्ड गिलिन, 1950, कल्चरल सोशियोलॉजी, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, पृ.सं. 87.
4. कापड़िया, के0एम0, 1958, मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड प्रेस, बाम्बे, पृ.सं. 177.
5. प्रभु, पी0एच0, 1963, हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, बाम्बे पापुलर प्रकाशन, पृ.सं. 226.
6. कापड़िया, के0एम0, 1958, मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड प्रेस, बाम्बे, पृ.सं. 177.
7. मर्चेन्ट, के0टी0, 1935, चेन्जिंग व्यूज ऑन मैरिज एण्ड फेमिली, बी0जी0 पाल एण्ड कम्पनी, मद्रास।
8. देसाई, नीरा, 1957, वुमन इन मॉडर्न इण्डिया, बोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स, बाम्बे।
9. शाह, बी0वी0, 1967, सोशल चेन्ज एण्ड कॉलेज स्टुडेन्ट्स ऑफ गुजरात, एम0एस0 यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा।
10. कपूर, प्रमिला, 1970, मैरिज एण्ड वर्किंग वूमन इन इण्डिया, विकास पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
11. रजनीकांत, एम0, 2020, कन्ज्यूमर प्रिफ्रेंसेस टूवार्ड्स ए ऑनलाइन मैट्रीमोनियल पोर्टल्स – ए स्टडी ऑफ मैट्रीमोनी पोर्टल्स इन हैदराबाद।
12- Singh, Yogendra, 1973, Modernization of Indian Tradition, Faridabad, Thomson Press, 1973, P. 184.
13. जमा, फरहाद, 2009, द मैरिज ब्यूरो फॉर रिच पिपुल, एबकश प्रकाशन, लन्दन।
14- https://www.nationalheraldindia.com
15. पाल, पूर्णिमा कुमारी, 2009, हिन्दू दम्पत्तियों में विवाह–विच्छेद एक समाजशास्त्रीय अध्ययन।

JSECR, Vol. 11, No. 22, Jan.-June, 2025 ISSN : 2394-2878
Peer Reviewed Journal, Impact Factor: 9.0 (IIFS)

डिजिटल गाँव : भविष्य का आत्मनिर्भर भारत

श्याम बहादुर
अतिथि प्रवक्ता (समाजशास्त्र)
डॉ० राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय अयोध्या
ईमेल - shyampgdm@gmail.com

सारांश

भारत एक कृषि प्रधान देश है, जहाँ लगभग 65 से 70 प्रतिशत जनसंख्या आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है और इन क्षेत्रों का विकास ही वास्तव में राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की कुंजी है। 21वीं सदी की तीव्र प्रौद्योगिकीय प्रगति ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का प्रभाव अब केवल शहरी क्षेत्रों तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि यह गाँवों की सामाजिक–आर्थिक संरचना को भी गहराई से प्रभावित कर रहा है। डिजिटल गाँव की अवधारणा इसी परिवर्तन का परिणाम है, जहाँ डिजिटल अवसंरचना, इंटरनेट कनेक्टिविटी, ई–गवर्नेंस, ऑनलाइन शिक्षा, ई–हेल्थ, और डिजिटल वित्तीय सेवाओं को एकीकृत रूप से लागू कर ग्रामीण समुदायों को आत्मनिर्भर, सक्षम और जागरूक बनाया जा सकता है। आत्मनिर्भर भारत मिशन, जिसे भारत सरकार ने वर्ष 2020 में औपचारिक रूप से प्रारंभ किया, का एक महत्वपूर्ण स्तंभ यही है कि गाँव न केवल कृषि उत्पादन में बल्कि डिजिटल नवाचार, कौशल विकास और उद्यमिता में भी अग्रणी बनें। प्रस्तुत शोध पत्र में डिजिटल गाँव की संकल्पना, इसकी आवश्यकता, ग्रामीण भारत में इसकी प्रासंगिकता, संभावित लाभ, चुनौतियाँ तथा नीति संबंधी सुझावों पर विस्तृत चर्चा की गई है।

मुख्य शब्द – डिजिटल गाँव, डिजिटल अवसंरचना, ICT, ग्रामीण विकास, आत्मनिर्भर भारत, डिजिटल साक्षरता, ई–गवर्नेंस

प्रस्तावना

भारतीय ग्राम्य जीवन अपनी सांस्कृतिक परंपराओं, सामुदायिक सहयोग और आत्मनिर्भरता की दीर्घकालीन परंपरा के कारण सदैव विशिष्ट पहचान रखता आया है। ग्रामीण भारत सामाजिक सद्भाव, स्थानीय संसाधनों के सदुपयोग और पारंपरिक कृषि–आधारित अर्थव्यवस्था का केंद्र रहा है। किंतु 21वीं सदी में तीव्र होती वैश्विक प्रतिस्पर्धा, बाजारों का एकीकरण, तकनीकी उन्नति और आर्थिक उदारीकरण ने ग्रामीण विकास के पारंपरिक स्वरूप को चुनौती दी है। कृषि, पशुपालन, ग्रामीण शिल्प और लघु उद्योग जो दशकों से ग्रामीण आर्थिक संरचना का आधार रहे अब वैश्विक आपूर्ति श्रृंखला और आधुनिक बाजार की मांगों के अनुरूप स्वयं को परिवर्तित करने के कठोर दबाव का सामना कर रहे हैं। विशेषकर उत्पादन तकनीकों, विपणन तंत्र और मूल्य–वृद्धि प्रक्रियाओं में डिजिटल साधनों का प्रयोग अनिवार्य होता जा रहा है। ऐसे में तकनीकी प्रगति के बिना ग्रामीण क्षेत्रों का समग्र विकास न केवल धीमा पड़ जाता है, बल्कि वैश्विक अर्थव्यवस्था में उनकी प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता भी कमजोर पड़ती है। इसी परिवर्तित परिदृश्य में "डिजिटल गाँव" की अवधारणा उभरती है, जो ग्रामीण भारत के लिए विकास का एक नया मॉडल प्रस्तुत करती है। डिजिटल गाँव केवल तकनीकी रूपांतरण का विचार नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक सामाजिक–आर्थिक ढाँचा है, जिसमें इंटरनेट, ब्रॉडबैंड, वाई–फाई हॉटस्पॉट, मोबाइल–आधारित सेवाएँ, ई–गवर्नेंस, ई–हेल्थ, डिजिटल भुगतान प्रणाली, ऑनलाइन शिक्षा और कृषि–तकनीकी प्लेटफॉर्म जैसी सेवाओं को ग्राम्य जीवन के ताने–बाने में समाहित किया जाता है। इस प्रकार की डिजिटल एकीकरण प्रक्रिया ग्रामीण समुदायों को आधुनिक सेवाओं तक समान पहुँच प्रदान करती है, जिससे पारदर्शिता, दक्षता और सेवा–उपलब्धता में गुणात्मक सुधार होता है। यह मात्र सूचना–प्रवाह

की सुविधा प्रदान करने वाला माध्यम नहीं है, बल्कि ग्रामीणों के लिए आय–वृद्धि, कौशल विकास, उद्यमिता, प्रशासनिक सहभागिता और शिक्षण के नए अवसर खोलने वाला परिवर्तनकारी तंत्र है।

भारत सरकार द्वारा संचालित विभिन्न डिजिटल और अवसंरचनात्मक योजनाओं ने डिजिटल गाँव की अवधारणा को व्यावहारिक आधार प्रदान किया है। डिजिटल इंडिया कार्यक्रम (2014) ने ग्रामीण क्षेत्रों तक ई–गवर्नेंस, डिजिटल भुगतान, डिजिटलीकृत दस्तावेज़ सेवाएँ और ऑनलाइन नागरिक सुविधाओं के विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया। भारतनेट परियोजना ने 2.5 लाख ग्राम पंचायतों को ऑप्टिकल फाइबर नेटवर्क से जोड़कर ग्रामीण कनेक्टिविटी की संरचनात्मक चुनौतियों को दूर करने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कॉमन सर्विस सेंटर (CSC) जैसे संस्थागत ढाँचे ग्रामीण स्तर पर बैंकिंग–संबंधी डिजिटल सेवाएँ, बिल भुगतान, बीमा, ई–शिक्षा और सरकारी योजनाओं की जानकारी उपलब्ध कराते हुए डिजिटल समावेशिता को मजबूत कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना जैसी अवसंरचनात्मक पहलों ने भौतिक संपर्कता को बेहतर बनाकर डिजिटल सेवाओं के विस्तार के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया है।

आत्मनिर्भर भारत मिशन के दृष्टिकोण में डिजिटल गाँव को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, क्योंकि यह ग्रामीण समुदाय को ज्ञान, कौशल, संसाधन और प्रशासनिक संपर्क के माध्यम से सशक्त बनाकर आत्मनिर्भरता की अवधारणा को नए रूप में प्रस्तुत करता है। डिजिटल साधनों के उपयोग से ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के नए अवसर उत्पन्न होते हैं, कृषि मूल्य–श्रृंखला में सुधार होता है, डिजिटल बाजारों तक पहुँच सुगम बनती है और स्वास्थ्य व शिक्षा जैसी बुनियादी सेवाएँ अधिक सुलभ हो जाती हैं। परिणाम स्वरूप ग्रामीण समाज आर्थिक, सामाजिक और तकनीकी रूप से अधिक सशक्त एवं सहभागी बनता है। इस प्रकार, डिजिटल गाँव न केवल ग्रामीण विकास का आधुनिक मॉडल है, बल्कि यह भारत के समग्र विकास तथा आत्मनिर्भरता की दिशा में एक निर्णायक कदम है।

शोध उद्देश्य

- डिजिटल गाँव की अवधारणा एवं उसके घटकों का विश्लेषण करना।
- ग्रामीण भारत में डिजिटल अवसंरचना की वर्तमान स्थिति का अध्ययन करना।
- डिजिटल गाँव के माध्यम से आत्मनिर्भर भारत के लक्ष्य को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह स्पष्ट करना।
- ग्रामीण जनता में डिजिटल साक्षरता, सहभागिता और स्वीकार्यता के स्तर को मापना।
- डिजिटल गाँव के कार्यान्वयन में आने वाली प्रमुख चुनौतियों और उनके समाधान सुझाना।

साहित्य समीक्षा और शोध पद्धति

1 - साहित्य समीक्षा

डिजिटल गाँव की अवधारणा पर साहित्य का अवलोकन यह दर्शाता है कि विकसित देशों में डिजिटल ग्रामीण विकास की दिशा में पहले से ही कई सफल प्रयोग हो चुके हैं, जिनमें डिजिटल अवसंरचना, ई–गवर्नेंस, और ग्रामीण उद्यमिता का विशेष योगदान रहा है। भारत में इस विषय पर शोध कार्य अपेक्षाकृत हाल ही में गति पकड़ रहा है, विशेषकर 2014 के बाद जब "डिजिटल इंडिया" कार्यक्रम को राष्ट्रीय स्तर पर लागू किया गया।

(क) डिजिटल गाँव की परिभाषा एवं विकास

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर डिजिटल विपेज (Digital Village) शब्द का उपयोग उन ग्रामीण क्षेत्रों के लिए किया जाता है, जो सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) का व्यापक प्रयोग कर स्थानीय प्रशासन, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, और व्यावसायिक गतिविधियों में दक्षता एवं पारदर्शिता लाते हैं। यूरोपीय संघ और अमेरिका में 2000 के

दशक की शुरुआत में स्मार्ट विलेज परियोजनाएँ शुरू हुईं, जिन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों को डिजिटल नेटवर्क से जोड़ा। भारत में, विश्व बैंक (2018) की रिपोर्ट "Digital Technologies in Rural Development" ने स्पष्ट किया कि ICT आधारित ग्रामीण विकास मॉडल शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि उत्पादकता और रोजगार सृजन में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। नीति आयोग (2020) ने "Aspirational Districts Programme" के अंतर्गत डिजिटल उपकरणों को विकास मापन और सेवा वितरण का प्रमुख साधन बताया।

(ख) भारतीय संदर्भ में डिजिटल पहलें

- भारतनेट परियोजना : 2-5 लाख ग्राम पंचायतों को ऑप्टिकल फाइबर नेटवर्क से जोड़ने की योजना।
- कॉमन सर्विस सेंटर (CSC): ई–गवर्नेंस सेवाओं, डिजिटल भुगतान, और ऑनलाइन शिक्षा का ग्रामीण स्तर पर संचालन।
- ई–नाम (E–NAM) कृषि उत्पादों के लिए राष्ट्रीय इलेक्ट्रॉनिक विपणन मंच।
- आधार आधारित सेवाए: बैंकिंग, राशन, और सरकारी योजनाओं में पारदर्शिता एवं सुविधा।

(ग) चुनौतियाँ

साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि डिजिटल गाँव का निर्माण केवल तकनीकी ढाँचा स्थापित करने से संभव नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल साक्षरता की कमी, अवसंरचना की असमानता, बिजली की अनियमित आपूर्ति, इंटरनेट की धीमी गति, और सांस्कृतिक बाधाएँ कार्यान्वयन में अवरोध पैदा करती हैं।

2- शोध पद्धति

(क) शोध का स्वरूप

यह अध्ययन वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक प्रकृति का है, जिसमें प्राथमिक और द्वितीयक दोनों प्रकार के आंकड़ों का प्रयोग किया गया है।

(ख) अध्ययन का क्षेत्र

अध्ययन उत्तर प्रदेश के अम्बेडकर नगर जिले के भीटी विकासखंड के दो गाँवों उधरना और दिलावलपुर पर आधारित है। वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक शोध पद्धति, प्राथमिक (साक्षात्कार, अवलोकन, समूह–चर्चा) तथा द्वितीयक स्रोतों के माध्यम से 120 उत्तरदाताओं से प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष सामने आया कि जहाँ डिजिटल अवसंरचना और साक्षरता मजबूत है, वहाँ डिजिटल सेवाओं का उपयोग, शासन सहभागिता, कृषि नवाचार और आर्थिक सक्रियता अधिक पाई गई। अध्ययन डिजिटल विभाजन, नेटवर्क अस्थिरता, साक्षरता की कमी और साइबर सुरक्षा चुनौतियों को प्रमुख बाधाओं के रूप में चिह्नित करता है तथा नीति–स्तर पर डिजिटल प्रशिक्षण केंद्र, स्थानीय भाषा सामग्री, मजबूत इंटरनेट कनेक्टिविटी और साइबर जागरूकता अभियानों जैसे सुझाव प्रस्तुत करता है।

(ग) आंकड़ों का स्रोत

प्राथमिक स्रोत: साक्षात्कार अनुसूची, प्रत्यक्ष अवलोकन, और समूह चर्चा।

द्वितीयक स्रोत: सरकारी रिपोर्ट, नीति आयोग के दस्तावेज, विश्व बैंक और UNDP की रिपोर्टें, शोध पत्र, समाचार लेख और इंटरनेट आधारित सामग्री।

(घ) नमूना चयन

दोनों गाँवों से कुल 120 उत्तरदाताओं का चयन किया गया (प्रत्येक गाँव से 60 उत्तरदाता)। चयन में विभिन्न आयु वर्ग, लिंग, शिक्षा स्तर, और पेशे के लोगों को सम्मिलित किया गया।

(3) आंकड़ों का विश्लेषण

संग्रहित आंकड़ों का विश्लेषण सांख्यिकीय विधियों (प्रतिशत, औसत) तथा वर्णनात्मक व्याख्या के माध्यम से किया गया। तालिकाओं और आरेखों का उपयोग समझ को सरल और प्रभावी बनाने के लिए किया गया।

परिणाम एवं विश्लेषण

1- ग्रामीण डिजिटल अवसंरचना की वर्तमान स्थिति

अध्ययन में पाया गया कि चयनित दोनों गाँवों उधरना एवं दिलावलपुर में डिजिटल अवसंरचना की स्थिति अलग–अलग है। उधरना गाँव में भारतनेट परियोजना के अंतर्गत ऑप्टिकल फाइबर कनेक्शन स्थापित है, जिससे पंचायत भवन में हाई–स्पीड इंटरनेट उपलब्ध है, जबकि दिलावलपुर में ऑप्टिकल फाइबर कनेक्शन कार्य प्रगति पर है और वर्तमान में वहाँ मोबाइल नेटवर्क के माध्यम से इंटरनेट सेवाएँ प्राप्त हो रही हैं।

अवसंरचना घटक	उधरना (प्रतिशत)	दिलावलपुर (प्रतिशत)
भारतनेट कनेक्शन	90	45
कॉमन सर्विस सेंटर (CSC)	1	1
स्मार्टफोन उपयोगकर्ता	78	64
इंटरनेट उपलब्धता	82	68
डिजिटल भुगतान उपयोग	54	39

यह आँकड़े दर्शाते हैं कि उधरना में डिजिटल कनेक्टिविटी अपेक्षाकृत बेहतर है, जिससे ग्रामीण डिजिटल सेवाओं तक अधिक पहुँच प्राप्त कर पा रहे हैं।

2- डिजिटल साक्षरता स्तर

डिजिटल गाँव की अवधारणा के सफल कार्यान्वयन के लिए ग्रामीणों में डिजिटल साक्षरता अत्यंत आवश्यक है। सर्वेक्षण के अनुसार, उधरना में 10वीं या उससे अधिक शिक्षा प्राप्त करने वालों में से 88% लोग स्मार्टफोन और इंटरनेट का सही उपयोग करना जानते हैं, जबकि दिलावलपुर में यह प्रतिशत केवल 71% है।

शिक्षा स्तर	उधरना (प्रतिशत)	दिलावलपुर (प्रतिशत)
प्राथमिक शिक्षा	60	47
माध्यमिक शिक्षा	85	72
उच्च शिक्षा	94	88
डिजिटल प्रशिक्षण प्राप्त	42	29

इससे स्पष्ट है कि औपचारिक शिक्षा और डिजिटल साक्षरता के बीच सीधा संबंध है, और डिजिटल प्रशिक्षण कार्यक्रमों की संख्या व प्रभाव को बढ़ाना आवश्यक है।

3- डिजिटल सेवाओं का उपयोग– डिजिटल सेवाओं का उपयोग मुख्यतः सरकारी योजनाओं की जानकारी, ऑनलाइन भुगतान, शिक्षा और मनोरंजन के लिए किया जाता है।

सेवा श्रेणी	उधरना (प्रतिशत)	दिलावलपुर (प्रतिशत)
ई–गवर्नेंस सेवाएँ	76	63
ऑनलाइन शिक्षा	41	28
डिजिटल भुगतान	54	39
सोशल मीडिया उपयोग	65	52
कृषि संबंधी जानकारी	48	36

यहाँ पर भी उधरना के लोग डिजिटल साधनों का अधिक सक्रिय रूप से उपयोग कर रहे हैं, खासकर ई–गवर्नेंस और कृषि संबंधी जानकारी में।

4- ग्रामीणों की धारणा जब उत्तरदाताओं से डिजिटल गाँव की अवधारणा के बारे में राय पूछी गई, तो अधिकांश ने इसे विकास के लिए सकारात्मक माना, लेकिन कुछ ने तकनीकी कठिनाइयों, बिजली कटौती और नेटवर्क समस्याओं को प्रमुख चुनौतियों के रूप में बताया।

मुख्य सकारात्मक पहलू

- सरकारी योजनाओं तक आसान पहुँच
- समय और धन की बचत
- युवाओं के लिए रोजगार और शिक्षा के नए अवसर
- मुख्य नकारात्मक पहलू
- इंटरनेट की धीमी गति
- तकनीकी ज्ञान की कमी
- साइबर सुरक्षा का अभाव

चर्चा एवं निष्कर्ष–इस अध्ययन के परिणामों का गहन विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि डिजिटल गाँव की अवधारणा ग्रामीण भारत के लिए केवल तकनीकी परिवर्तन का प्रतीक नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूपांतरण का आधार बन सकती है। चयनित दोनों गाँवों, उधरना और दिलावलपुर, के तुलनात्मक अध्ययन से यह सामने आया कि जहाँ डिजिटल अवसंरचना और साक्षरता अपेक्षाकृत बेहतर है, वहाँ डिजिटल सेवाओं का उपयोग अधिक है और ग्रामीण जनता की विकासात्मक भागीदारी भी सक्रिय रूप

से दिखाई देती है, जबकि जहाँ नेटवर्क अवसंरचना कमजोर और डिजिटल शिक्षा का स्तर कम है, वहाँ डिजिटल सेवाओं का प्रसार और प्रभाव भी सीमित है।

1- अवसंरचना और उपयोग के बीच संबंध –अध्ययन में पाया गया कि भारतनेट जैसी परियोजनाओं के समय पर कार्यान्वयन, कॉमन सर्विस सेंटर (CSC) की सक्रियता और स्मार्टफोन की उपलब्धता सीधे तौर पर डिजिटल सेवाओं के उपयोग से जुड़ी हुई है। उदाहरण के लिए, उधरना में भारतनेट कनेक्टिविटी का पूर्ण संचालन और पंचायत भवन में इंटरनेट उपलब्ध होने से ई–गवर्नेंस सेवाओं, डिजिटल भुगतान और ऑनलाइन शिक्षा का अनुपात दिलावलपुर की तुलना में अधिक है। यह इस तथ्य को पुष्ट करता है कि डिजिटल अवसंरचना विकास का मूल आधार है।

2- डिजिटल साक्षरता का महत्व–डिजिटल अवसंरचना के साथ–साथ डिजिटल साक्षरता भी समान रूप से महत्वपूर्ण है। उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों में डिजिटल साधनों का उपयोग अधिक देखा गया, जबकि प्राथमिक शिक्षा स्तर पर यह सीमित था। इसका अर्थ है कि केवल तकनीकी साधन उपलब्ध कराना पर्याप्त नहीं है; ग्रामीणों को डिजिटल कौशल सिखाने के लिए नियमित प्रशिक्षण और जागरूकता कार्यक्रम अनिवार्य हैं।

3- सेवाओं के उपयोग में प्राथमिकताएँ – दोनों गाँवों में ई–गवर्नेंस सेवाएँ (जैसे ऑनलाइन आवेदन, दस्तावेज़ सत्यापन) और डिजिटल भुगतान का उपयोग अपेक्षाकृत अधिक पाया गया। कृषि संबंधी जानकारी और ऑनलाइन शिक्षा का उपयोग भी बढ़ रहा है, विशेषकर युवाओं में। यह प्रवृत्ति ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विविधीकरण और शिक्षा के अवसरों को इंगित करती है।

4- चुनौतियाँ –मुख्य चुनौतियों में नेटवर्क की अस्थिरता, बिजली कटौती, साइबर सुरक्षा जागरूकता का अभाव और तकनीकी सहायता केंद्रों की कमी शामिल हैं। इसके अतिरिक्त, बुजुर्ग और कम शिक्षित वर्ग डिजिटल साधनों को अपनाने में संकोच करता है, जिससे डिजिटल विभाजन (Digital Divide) की समस्या बनी रहती है।

5- नीति संबंधी सुझाव

- भारतनेट और अन्य डिजिटल अवसंरचना परियोजनाओं का शीघ्र और पूर्ण कार्यान्वयन।
- प्रत्येक गाँव में डिजिटल प्रशिक्षण केंद्र स्थापित करना।
- ग्रामीण क्षेत्रों में साइबर सुरक्षा जागरूकता अभियान चलाना।
- इंटरनेट सेवाओं की गति और स्थिरता में सुधार।
- स्थानीय भाषा में डिजिटल सामग्री और ऐप्लिकेशन का विकास।

निष्कर्ष

अध्ययन यह सिद्ध करता है कि डिजिटल गाँव की अवधारणा ग्रामीण भारत को आत्मनिर्भर और सशक्त बनाने की दिशा में एक प्रभावी कदम है। सही अवसंरचना, पर्याप्त डिजिटल साक्षरता और तकनीकी सहायता से ग्रामीण समाज न केवल सरकारी सेवाओं तक आसानी से पहुँच सकता है, बल्कि शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि और उद्यमिता के क्षेत्र में भी नए अवसरों का लाभ उठा सकता है। हालांकि, यह तभी संभव है जब तकनीकी हस्तक्षेप के साथ–साथ सामाजिक जागरूकता, प्रशिक्षण और स्थानीय जरूरतों के अनुरूप योजनाओं का कार्यान्वयन किया जाए।

संदर्भ सूची (References)

1. Government of India. (2023). *BharatNet Project: Connecting Rural India with Broadband*. Ministry of Communications, Department of Telecommunications. Retrieved from https://dot.gov.in
2. Ministry of Electronics & Information Technology. (2022). *Common Services Centers Scheme: Empowering Citizens Digitally*. Government of India. Retrieved from https://csc.gov.in
3. Mishra, R., & Singh, A. (2021). Digital literacy in rural India: Challenges and opportunities. *Journal of Rural Development Studies*, 37(2), 145–160.
4. National Sample Survey Office. (2021). *Key Indicators of Household Social Consumption on Education and ICT in India*. Ministry of Statistics and Programme Implementation, Government of India.
5. Sharma, V., & Kumar, S. (2020). E-governance and rural development: A sociological perspective. *Indian Journal of Public Administration*, 66(3), 456–472. https://doi.org/10.1177/0019556120934769
6. World Bank. (2022). *Digital technologies in agriculture and rural areas*. Retrieved from https://www.worldbank.org
7. Yadav, P., & Verma, R. (2019). Bridging the digital divide: ICT in rural India. *International Journal of Information Technology and Social Sciences*, 14(1), 23–34.
8. United Nations. (2021). *E-Government Survey 2021: Digital Government in the Decade of Action for Sustainable Development*. New York: United Nations Department of Economic and Social Affairs.
9. Chandrasekhar, C. P., & Ghosh, J. (2018). Information and communication technology and the rural economy in India. *Economic and Political Weekly*, 53(12), 43–50.
10. Singh, S. (2017). Rural empowerment through ICT: A study of India's initiatives. *Journal of Community Informatics*, 13(1), 101–115.
11. योजना मासिक पत्रिका के विभिन्न अंक
12. कुरुक्षेत्र मासिक पत्रिका के विभिन्न अंक

Digital Transformation and Social Change: The Role of ICT in Rural Development

Ankita Yadav
Research Scholar, Dept. of Sociology
BHU,Varanasi U.P.

Abstract
Information and Communication Technology (ICT) has emerged as a transformative force in shaping rural development, bridging socio-economic gaps, and fostering social change. In India, digital initiatives such as Digital India, e-Choupal, and Pradhan Mantri Gramin Digital Saksharta Abhiyan (PMGDISHA) have enabled rural communities to access markets, improve agricultural productivity, enhance education and healthcare delivery, and strengthen governance transparency. This paper adopts a sociological perspective to examine the role of ICT in rural transformation. Drawing upon modernization theory, the digital divide framework, and Bourdieu's concept of social capital, the study utilizes secondary data and case analyses to understand how digital interventions affect rural livelihoods, social structures, and community participation. Findings indicate that ICT-driven programs have facilitated financial inclusion, women's empowerment, and information dissemination, leading to enhanced social mobility and collective decision-making in rural areas. However, infrastructural disparities, digital illiteracy, and socio-cultural barriers continue to hinder equitable access to technology. The paper concludes that sustainable rural development through ICT requires policies focused on bridging digital divides, fostering digital literacy, and promoting community-driven adoption to ensure inclusive and holistic rural transformation.

Keywords: ICT, Digital Transformation, Rural Development, Social Change, Digital Divide, India

Introduction

Rural development has long been a central theme in sociology and development studies, particularly in emerging economies like India where a significant portion of the population resides in rural areas. Historically, rural transformation was primarily driven by agrarian reforms, infrastructure development, and social welfare programs. However, in the past two decades, Information and Communication Technology (ICT) has emerged as a key driver of social and economic change, reshaping traditional patterns of rural life. Digital tools and platforms are not only enhancing agricultural productivity and service delivery but are also redefining social relations, mobility, and community participation, making ICT a vital instrument in rural development policies.

The Government of India has recognized this transformative potential through flagship initiatives such as Digital India, e-Choupal, and Pradhan Mantri Gramin Digital Saksharta Abhiyan (PMGDISHA). These programs aim to bridge the digital divide by promoting internet

connectivity, digital literacy, and technology-enabled governance. For example, e-Choupal has provided farmers with real-time market information, improving their bargaining power and reducing dependency on intermediaries. Similarly, PMGDISHA has trained millions of rural households in basic digital skills, facilitating financial inclusion and e-governance participation. Such interventions highlight how digital transformation is intertwined with social empowerment and economic resilience in rural India.

From a sociological perspective, the digital revolution in rural areas can be understood through several theoretical lenses. Modernization theory posits that technological innovation is a catalyst for societal progress, promoting rationalization, efficiency, and integration into the global economy. The concept of the digital divide emphasizes structural inequalities in technology access, which can reinforce existing socio-economic hierarchies if not addressed. Furthermore, Bourdieu's notion of social and cultural capital provides insights into how digital literacy and access to information can enhance individuals' social positions, enabling greater participation in collective decision-making and community development. Empirical evidence supports the positive role of ICT in rural transformation. Studies have documented improvements in agricultural supply chains, e-health services, and educational outreach due to digital initiatives (Sinha & Singh, 2021). ICT has also facilitated rural entrepreneurship, with women and youth using online platforms to market handicrafts, access microcredit, and engage in skill development programs (Mehta, 2020). These advancements contribute to social mobility and reduce rural-urban disparities, aligning with national development goals. Despite these achievements, challenges persist. Many rural areas still lack adequate internet infrastructure, affordable devices, and digital literacy, creating pockets of exclusion. Gender disparities in technology use, language barriers, and resistance to adopting digital tools due to socio-cultural factors further complicate the process (Kumar, 2019). Moreover, the benefits of ICT are unevenly distributed, with better-off regions and higher-income households gaining more advantages than marginalized communities. Given this context, it becomes essential to analyze ICT's role in rural development from a sociological perspective that considers both opportunities and constraints. This paper seeks to contribute to the academic discourse by examining how digital transformation is reshaping rural livelihoods, community structures, and patterns of social change in India. It explores ICT's potential to foster inclusive development while critically evaluating the socio-economic barriers that limit its reach. The subsequent sections of this paper review existing literature on ICT and rural transformation, outline research objectives and methodology, and provide a detailed sociological analysis of case studies from Indian villages. Finally, it discusses challenges, policy implications, and recommendations to ensure that digital transformation leads to equitable and sustainable rural development.

Literature Review

The relationship between Information and Communication Technology (ICT) and rural development has been widely discussed across sociology, development studies, and information sciences. Scholars have examined ICT's potential to reduce rural-urban disparities, promote social inclusion, and transform economic structures. This section reviews theoretical frameworks and empirical research related to digital transformation and rural change.

1. ICT and Theoretical Perspectives on Social Change

Modernization theory provides an early framework for understanding technology's role in societal development. Rostow (1960) and Inglehart & Welzel (2005) argue that technological innovations, including communication tools, drive economic growth and modernization of social institutions. In rural contexts, ICT adoption is seen as a mechanism to move from traditional, subsistence-based economies to diversified, knowledge-driven systems.

Dependency theorists, however, caution that technology may deepen inequalities if controlled by elite groups or multinational corporations (Frank, 1979). From a sociological lens, this aligns with the digital divide concept, which highlights disparities in access to technology, skills, and usage between urban and rural communities (Norris, 2001). These theories underscore that while ICT can be transformative, structural barriers must be addressed to achieve equitable development.

Bourdieu's concept of social capital (1986) is particularly relevant for analyzing ICT-driven rural change. Digital literacy and access to online networks enhance individuals' social and cultural capital, improving their ability to engage in economic activities, political processes, and community initiatives. ICT thus functions not only as a technological tool but as a social resource that can reshape power relations and community dynamics.

2. ICT in Agricultural Transformation

Agriculture remains the backbone of rural economies, and ICT has significantly impacted this sector. Studies on e-Choupal, an initiative by ITC Limited, demonstrate how digital platforms provide farmers with market prices, weather forecasts, and expert advice (Annamalai & Rao, 2003). By reducing information asymmetry, farmers gain bargaining power, access to better-quality inputs, and improved market linkages, leading to higher incomes and rural prosperity.

Similarly, mobile-based agricultural advisory services such as Kisan Call Centers and AgriNet have been instrumental in disseminating knowledge to remote villages (Mittal & Tripathi, 2009). Empirical research shows that such ICT interventions enhance productivity, reduce transaction costs, and promote sustainable farming practices. From a sociological perspective, these changes alter traditional hierarchies in agricultural marketing and strengthen collective action among farmers.

3. ICT and Rural Education, Health, and Governance

Beyond agriculture, ICT has improved education, healthcare, and governance in rural areas. Digital classrooms and online learning initiatives have expanded educational opportunities for rural youth, bridging gaps in teacher availability and curriculum delivery (Gulati, 2014). Health programs such as telemedicine networks enable remote diagnosis and consultations, reducing rural health disparities (Patil, 2017). E-governance platforms under the Digital India mission have enhanced transparency and service delivery in rural panchayats. Research indicates that digitization of welfare schemes, land records, and grievance redressal mechanisms has reduced corruption and bureaucratic delays (Choudhury, 2016). Sociologically, these reforms increase citizens' trust in institutions and foster participatory governance.

4. ICT, Women's Empowerment, and Social Inclusion

Several studies highlight ICT's transformative role in promoting gender equality and social inclusion. Women-led self-help groups (SHGs) have utilized digital tools for microfinance management, entrepreneurship, and market access (Sarkar, 2015). Digital literacy programs under PMGDISHA have empowered rural women to access online banking, e-health services, and digital marketplaces, enhancing their economic independence and social status (Kabeer, 2016). ICT also facilitates social inclusion of marginalized communities by enabling access to government schemes, legal aid, and awareness campaigns. Sociological research suggests that digital platforms help break traditional caste and class barriers by creating virtual spaces for collective mobilization and advocacy (Prasad, 2018).

5. Digital Divide and Challenges in ICT Adoption

Despite these advancements, the digital divide remains a persistent issue. Studies reveal significant disparities in internet penetration, device ownership, and digital skills between rural and urban areas (Kumar, 2019). Socio-cultural factors such as gender norms, language barriers, and generational resistance also hinder ICT adoption (Rani & Dhingra, 2020). Infrastructure limitations, including unreliable electricity and limited broadband connectivity, further restrict ICT usage in remote villages. Researchers warn that without addressing these systemic gaps, digital initiatives may inadvertently widen social inequalities instead of bridging them (Heeks, 2002).

6. Gaps in Sociological Research-

While there is growing literature on ICT's technical and economic impacts, fewer studies provide a comprehensive sociological analysis of how digital transformation reshapes rural social structures, community relations, and power dynamics. Most existing research focuses on specific sectors like agriculture or education without fully exploring ICT's broader implications for social change, identity formation, and collective agency in rural settings.

The literature suggests that ICT can significantly advance rural development by enhancing agricultural efficiency, expanding education and healthcare services, improving governance, and empowering marginalized groups. However, sociological challenges such as unequal access, digital illiteracy, and infrastructural barriers limit these benefits. The present study addresses these gaps by adopting a sociological perspective to analyze ICT's multifaceted role in rural transformation, emphasizing both opportunities and structural constraints.

Objectives of the Study-

The primary aim of this study is to analyze the sociological implications of digital transformation in fostering rural development in India. The specific objectives are:

1. To examine the role of ICT in enhancing rural livelihoods through agricultural productivity, market linkages, and financial inclusion.
2. To assess the impact of ICT on social structures such as education, healthcare, governance, and women's empowerment in rural communities.
3. To analyze challenges and barriers to equitable ICT adoption, including digital divide, infrastructural gaps, and socio-cultural factors.
4. To propose policy recommendations for sustainable and inclusive ICT-driven rural transformation from a sociological perspective.

Methodology-

Research Design-

This paper adopts a qualitative research design with exploratory and analytical approaches. It synthesizes theoretical perspectives and empirical evidence to understand ICT's sociological impact on rural development. The study relies on secondary data from scholarly journals, government reports, policy documents, and case studies of ICT interventions in rural India.

Data Sources-

1. Academic Literature: Peer-reviewed articles from sociology and development studies journals.
2. Policy Reports: Government of India initiatives like Digital India, PMGDISHA, and e-Choupal.
3. International Organizations: Reports from UNESCO, World Bank, and UNDP on ICT and rural development.
4. Case Studies: Documented examples of successful and challenging ICT implementations in agriculture, education, and governance across different states of India.

Analytical Framework-

The study employs multiple sociological frameworks:

1. Modernization Theory: To understand ICT as a catalyst for socio-economic transformation.
2. Digital Divide Concept: To analyze inequalities in technology access and use.
3. Bourdieu's Social Capital: To explore how digital skills and networks enhance social mobility and empowerment.

Method of Analysis-

The collected data undergoes content analysis and thematic interpretation, focusing on:

1. ICT's role in transforming livelihoods and community participation.
2. Social inclusion and empowerment of marginalized groups through digital platforms.
3. Structural and cultural barriers hindering ICT adoption.

Comparative analysis of case studies provides insights into best practices and challenges, forming the basis for policy recommendations.

ICT and Rural Development: A Sociological Perspective-

Digital transformation has significantly reshaped the rural development landscape in India. Beyond economic progress, it has altered social interactions, community dynamics, and power relations. This section analyzes the role of ICT in rural development through sociological lenses, supported by real-world initiatives and case studies.

ICT and Agricultural Transformation-

Agriculture remains the cornerstone of rural economies. ICT interventions have revolutionized farming practices by improving access to information, enhancing productivity, and reducing exploitation by intermediaries.

- e-choupal: Launched by ITC Limited, this initiative established internet kiosks in villages, providing real-time information on market prices, weather conditions, and farming techniques. Studies have shown that farmers connected to e-Choupal increased their incomes by 20–30% due to better market access and reduced transaction costs (Annamalai & Rao, 2003). From a sociological perspective, this intervention enhanced farmers' social capital, allowing them to form cooperatives, negotiate collectively, and challenge traditional exploitative hierarchies.
- Mobile Agricultural Services: Platforms like Kisan Call Centers and mobile apps (e-NAM, mKisan) have democratized access to agricultural knowledge. Marginalized farmers, including women and smallholders, can now directly access expert advice, contributing to social inclusion and empowerment.
- These initiatives highlight how ICT reduces information asymmetry and fosters a more equitable rural economy, challenging long-standing patterns of dependency and exclusion.

ICT in Education and Skill Development-

Education is pivotal for social mobility, and ICT has bridged many gaps in rural educational systems.

- Digital Classrooms: Programs such as SWAYAM and DIKSHA have expanded access to quality educational resources for rural students. Through online lectures, e-books, and interactive platforms, children in remote villages can now access the same content as their urban counterparts.
- Skill Development: Initiatives like PMGDISHA and Skill India have provided digital literacy training to millions of rural youth, preparing them for jobs in both agricultural and non-agricultural sectors.

From a sociological standpoint, these efforts contribute to cultural capital development (Bourdieu, 1986), enabling rural students to participate in competitive educational and employment systems previously inaccessible to them. Digital education also reduces rural-urban migration by creating localized learning opportunities, thereby strengthening community cohesion.

ICT and Healthcare Access-

Healthcare disparities have historically marginalized rural populations. Telemedicine and digital health services are transforming this scenario:

- E-sanjeevani: A telemedicine platform that allows patients in rural clinics to consult doctors in urban hospitals via video conferencing.
- Mobile Health Units: Equipped with ICT tools, these units provide diagnostic services and real-time health monitoring.

Sociologically, these innovations address structural inequalities in healthcare access by bridging physical distances and offering timely medical intervention. Digital health records also empower communities to demand better healthcare policies and services.

ICT and Women's Empowerment-

Women in rural areas often face restricted mobility, limited educational opportunities, and socio-economic exclusion. ICT has emerged as a powerful tool for empowerment:

- Self-Help Groups (SHGs): Women-led SHGs are using digital platforms for microfinance management and online marketplaces to sell handicrafts.
- Digital Literacy Programs: Training under PMGDISHA and NGO-led initiatives have enabled women to access online banking, government schemes, and entrepreneurial resources.

Empirical evidence shows that digitally trained women gain economic independence, improved decision-making power within households, and enhanced social recognition (Kabeer, 2016). From a sociological lens, ICT challenges patriarchal structures, promoting gender equality and community leadership roles for women.

ICT in Governance and Civic Participation-

E-governance has transformed the relationship between rural citizens and the state:

- Digital Land Records: Online registration systems reduce bureaucratic corruption and empower villagers with legal ownership rights.
- Online Grievance Redressal: Platforms like MyGov allow rural residents to directly voice concerns to policymakers.
- Direct Benefit Transfers (DBT): ICT-enabled banking systems ensure welfare benefits reach beneficiaries without middlemen exploitation.

Sociologically, these reforms enhance political participation and social trust in institutions, fostering democratic governance and community agency in rural areas.

Social Inclusion and Community Development-

ICT has created new spaces for collective organization and community solidarity:

- Digital Cooperatives: Farmers' and artisans' cooperatives now use online platforms for bulk marketing and procurement.
- Community Networks: Rural forums and WhatsApp groups facilitate information-sharing, disaster management coordination, and cultural preservation.

These networks embody Putnam's social capital theory (1993), where digital connectivity strengthens bonds of trust, reciprocity, and cooperation, leading to collective problem-solving and resilience in rural settings.

Limitations and Emerging Challenges-

Despite these successes, significant barriers remain:

- Digital Divide: Rural internet penetration lags behind urban areas, with marginalized communities having limited access to devices and connectivity (Kumar, 2019).
- Digital Illiteracy: Many rural residents, especially older generations, struggle to navigate digital platforms effectively.
- Gender and Caste Disparities: Social norms and power hierarchies restrict technology adoption among women and lower-caste groups.
- Infrastructural Deficits: Unreliable electricity, poor network coverage, and lack of technical support hinder consistent ICT use.

These challenges indicate that digital transformation, if not inclusively designed, may exacerbate social inequalities rather than mitigate them.

ICT has emerged as a transformative force in rural development, influencing agriculture, education, healthcare, governance, and gender relations. From a sociological perspective, it enhances social capital, empowers marginalized groups, and fosters participatory development. However, structural barriers such as digital divide, infrastructural deficits, and socio-cultural constraints remain major challenges. Addressing these issues is essential for ensuring that digital transformation leads to equitable and sustainable rural change.

Challenges and Policy Recommendations-

While ICT has demonstrated transformative potential in advancing rural development and promoting social change, its equitable and sustainable adoption faces several challenges. This section outlines these barriers and provides sociologically informed policy recommendations to address them.

Challenges in ICT Adoption

1. Digital Divide

Despite nationwide digital initiatives, a significant gap persists between rural and urban areas in terms of internet penetration, device ownership, and digital skills. The rural internet penetration rate remains below 40%, limiting the reach of government and private digital services. This divide disproportionately affects marginalized groups, including women, lower-caste communities, and landless laborers, perpetuating social inequalities (Kumar, 2019).

2. Infrastructural Limitations

Poor electricity supply, weak broadband connectivity, and lack of technical infrastructure in remote villages hinder consistent ICT usage. Without reliable infrastructure, digital tools cannot fully replace traditional service delivery mechanisms, slowing the pace of rural transformation.

3. Socio-Cultural Barriers

Sociological studies highlight that social norms, patriarchal structures, and language barriers restrict digital adoption. Women often face resistance to using mobile phones or accessing online resources due to cultural perceptions of technology as male-dominated. Similarly, linguistic diversity in rural India limits the effectiveness of ICT platforms that primarily operate in English or Hindi.

4. Limited Digital Literacy

Although programs like PMGDISHA have improved basic skills, many rural residents still lack advanced digital competencies necessary for leveraging online platforms for entrepreneurship, education, or governance participation. Generational gaps further complicate adoption, as older adults may resist or mistrust digital tools.

5. Economic Constraints

Low income levels and high costs of smartphones, data plans, and ICT-enabled services discourage widespread technology adoption. This financial barrier is particularly acute for small-scale farmers and marginalized laborers who may prioritize essential needs over digital investments.

Policy Recommendations-

To overcome these challenges and ensure ICT-driven rural transformation is inclusive and sustainable, the following recommendations are proposed:

1. Bridging the Digital Divide

The government must intensify efforts under BharatNet and similar schemes to expand broadband access to all villages. Subsidies for smartphones and affordable data packages can empower economically disadvantaged households to adopt ICT. Special focus should be placed on connecting remote tribal and hilly regions to mainstream digital networks.

2. Strengthening Infrastructure

Investment in rural infrastructure—such as solar-powered digital kiosks, community Wi-Fi centers, and ICT-equipped schools and health centers—is crucial. Public-private partnerships (PPPs) can mobilize resources for building sustainable infrastructure while ensuring community participation in maintenance and management.

3. Promoting Digital Literacy and Capacity Building

Digital literacy campaigns should go beyond basic training to include skills for entrepreneurship, e-commerce, and civic engagement. Schools, local NGOs, and Panchayati Raj Institutions can organize continuous training programs targeting women, farmers, and youth. Using culturally relevant content in regional languages will enhance accessibility and effectiveness.

4. Inclusive ICT Policies for Women and Marginalized Communities

Policy frameworks must explicitly address social barriers by encouraging women's leadership in digital cooperatives and promoting technology ownership among marginalized groups. Successful models, such as women-run rural Common Service Centers (CSCs), demonstrate that gender-inclusive approaches enhance digital adoption and community development outcomes.

5. Sustainable Digital Entrepreneurship

ICT should be integrated with rural entrepreneurship programs to create jobs and promote local innovation. Initiatives like e-marketing platforms for agricultural products, digital microfinance systems, and skill development apps can diversify rural economies while preserving traditional livelihoods.

6. Strengthening Governance and Accountability

E-governance platforms should be simplified and localized to improve citizen participation. Mechanisms for monitoring and evaluating digital initiatives should include community feedback to ensure transparency and adapt policies to local needs. This participatory approach aligns with sociological principles of collective agency and grassroots democracy.

7. Encouraging Social Innovation and Research

Continuous sociological research on ICT's impacts is essential for understanding evolving rural dynamics. Academic collaborations with government agencies can develop evidence-based interventions that balance technological progress with social equity. Social innovation labs in rural universities could incubate locally designed digital solutions tailored to community needs.

The challenges of digital divide, infrastructural limitations, socio-cultural resistance, and economic constraints pose significant hurdles to ICT-driven rural transformation. Addressing these issues requires comprehensive policy interventions focusing on equitable access, robust

infrastructure, digital literacy, and participatory governance. By embedding sociological insights into digital strategies, policymakers can ensure that ICT serves as a tool for inclusive and sustainable rural development rather than reinforcing existing social inequalities.

Conclusion-

Digital transformation has emerged as a critical driver of rural development and social change in India. From improving agricultural productivity and enhancing educational access to empowering women and fostering participatory governance, ICT has redefined traditional rural structures. Sociologically, these advancements represent more than technological upgrades; they signify a shift in social capital, power dynamics, and community resilience. Despite these transformative impacts, persistent challenges such as the digital divide, infrastructural inadequacies, socio-cultural resistance, and economic constraints limit ICT's full potential. If unaddressed, these barriers risk reinforcing existing social inequalities rather than promoting equitable development. For ICT to truly enable sustainable rural transformation, policies must integrate sociological perspectives, ensuring that technology adoption is inclusive, community-driven, and culturally sensitive. Bridging the digital divide, fostering digital literacy, strengthening rural infrastructure, and promoting participatory governance are essential steps toward building digitally empowered, socially cohesive rural communities. Future research should continue to evaluate ICT's long-term sociological impacts, focusing on how digital tools reshape rural identity, collective agency, and intergenerational mobility. Only through such interdisciplinary and socially conscious approaches can digital transformation fulfill its promise of equitable and holistic rural development.

References-

1. Annamalai, K., & Rao, S. (2003). What works: ITC's e-Choupal and profitable rural transformation. World Resources Institute.
2. Bourdieu, P. (1986). The forms of capital. In J. Richardson (Ed.), Handbook of theory and research for the sociology of education (pp. 241–258). Greenwood.
3. Choudhury, S. (2016). E-governance and rural development in India: Challenges and prospects. Indian Journal of Public Administration, 62(1), 42–60.
4. Frank, A. G. (1979). Dependent accumulation and underdevelopment. Monthly Review Press.
5. Gulati, A. (2014). Digital learning and rural education: Bridging the knowledge gap. Education and Development Review, 28(3), 123–138.
6. Heeks, R. (2002). Information systems and developing countries: Failure, success, and local improvisations. Information Society, 18(2), 101–112.
7. Inglehart, R., & Welzel, C. (2005). Modernization, cultural change, and democracy: The human development sequence. Cambridge University Press.
8. Kabeer, N. (2016). Women's economic empowerment and inclusive growth: Labour markets and enterprise development. International Development Research Centre Report.
9. Kumar, R. (2019). Digital divide in India: Issues and challenges. Journal of Information Technology and Society, 12(4), 45–59.

10. Mehta, P. (2020). ICT-based rural entrepreneurship in India: Opportunities and challenges. Indian Journal of Rural Studies, 15(1), 78–95.
11. Mittal, S., & Tripathi, G. (2009). Role of mobile phones in improving agricultural productivity. Agricultural Economics Research Review, 22(3), 451–460.
12. Norris, P. (2001). Digital divide: Civic engagement, information poverty, and the Internet worldwide. Cambridge University Press.
13. Patil, A. (2017). Telemedicine and rural healthcare in India: An overview. Health Policy Perspectives, 9(2), 88–102.
14. Prasad, S. (2018). Digital platforms and social inclusion of marginalized communities in India. Sociological Bulletin, 67(1), 112–130.
15. Putnam, R. D. (1993). Making democracy work: Civic traditions in modern Italy. Princeton University Press.
16. Rani, M., & Dhingra, S. (2020). Barriers to digital inclusion in rural India: A sociological study. Rural Sociology Journal, 35(2), 33–57.
17. Rostow, W. W. (1960). The stages of economic growth: A non-communist manifesto. Cambridge University Press.
18. Sarkar, S. (2015). ICT and women's self-help groups: A pathway to empowerment. Journal of Gender and Development Studies, 18(3), 59–74.
19. Sinha, R., & Singh, M. (2021). Digital technology and rural livelihoods: A sociological perspective. Indian Sociological Review, 29(4), 102–120.
20. UNESCO. (2020). Leveraging ICT for sustainable rural development. UNESCO Report.
21. UNDP. (2019). Digital inclusion for rural transformation: Global report. United Nations Development Programme.
22. World Bank. (2021). World development report: Data for better lives. World Bank Publications.
23. Ministry of Electronics & IT. (2022). Pradhan Mantri Gramin Digital Saksharta Abhiyan (PMGDISHA): Progress and impact. Government of India.
24. Ministry of Agriculture. (2021). Digital agriculture mission. Government of India Publication.
25. ITU. (2020). Measuring digital development: Facts and figures. International Telecommunication Union.

JSECR, Vol. 11, No. 22, Jan.-June, 2025 ISSN : 2394-2878
Peer Reviewed Journal, Impact Factor: 9.0 (IIFS)

विंध्य क्षेत्र के स्वाधीनता आंदोलन में प्रजामण्डल की भूमिका

अनुराग श्रीवास्तव
शोधार्थी
शहीद ठाकुर रणमत सिंह (स्वशासी उत्कृष्टता)
महाविद्यालय,रीवा, मध्य प्रदेश

शोध निर्देशक
प्रोफ़ेसर सुशील कुमार दुबे
शहीद ठाकुर रणमत सिंह (स्वशासी उत्कृष्टता)
महाविद्यालय,रीवा,मध्य प्रदेश

सारांश

विंध्य क्षेत्र में प्रजामंडल की भूमिका पर चिंतन करते हुए, यह स्पष्ट होता है कि प्रजामंडल आंदोलन सिर्फ एक राजनीतिक संगठन भर नहीं था, बल्कि सामाजिक जागरूकता, शिक्षा,समानता, और ग्रामीण विकास का आधार स्तंभ भी था। यह आंदोलन राजशाही और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ एक सशक्त जन आंदोलन के रूप में उभरा, जिसने न केवल राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष किया, बल्कि सामाजिक कुरूतियों और असमानताओं के खिलाफ भी आवाज़ बुलंद की। यदि सूक्ष्मता के साथ अध्ययन किया जाय प्रजामण्डल का अर्थ है "जनता का समूह" जिसका उद्देश्य था देशी रियासतों में ब्रिटिश शासन के खिलाफ जनजागरण करना ताकि देश को गुलामी की बेड़ियों से आजाद कराया जा सके / ब्रिटिश हुकूमत एक व्यापारिक कम्पनी से प्रारम्भ होकर यहाँ की शासन सत्ता पर अधिकार जमाकर रियासतों को विभिन्न नीतियों के माध्यम से अपने अधीन किया / देश की 45 प्रतिशत क्षेत्र तथा यहाँ की 24 प्रतिशत जनता पर अधिकार कर, मनचाहा शासन करना प्रारम्भ कर दिया / परिणामस्वरूप प्रजामण्डल आंदोलन के माध्यम से देशी रियासतों की जनता ने विरोध किया और भारत को आजाद कराने में अपनी अहम भूमिका निभाई /

मुख्य शब्द – प्रजामण्डल, रियासत, बघेलखण्ड, बुंदेलखंड, टप्पा प्रजामण्डल, राज्य परिषद्, अभिजात वर्ग, औपनिवेशिक, सामंतवादी, सुरक्षा कवच ।

प्रजामंडल आंदोलन की पृष्ठभूमि

अंग्रेजों के विरुद्ध विंध्य क्षेत्र का पहला दौर सशस्त्र क्रांति का रहा । परन्तु महात्मा गांधी के अहिंसावादी सिद्धांत का प्रभाव जब 20वीं सदी के चौथे दशक में विंध्य क्षेत्र में पहुंची तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने देशी रियासतों को अपने कार्यक्षेत्र में शामिल करने का निर्णय लिया । प्रारम्भ में वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं ने अपने दौरे का कार्यक्रम केवल ब्रिटिश भारत तक की सीमित रखा तो इसका परिणाम यह हुआ कि इस क्षेत्र की रियासतें मूलतः अपने गरीबी एवं अशिक्षा के कारण मुख्य धारा से अलग-थलग रहीं ।।

विंध्य क्षेत्र, जो कि मध्यप्रदेश के बघेलखंड और बुंदेलखंड की रियासतों से बना था राजशाही शासन और सामंती शोषण से ग्रस्त था। यहां जनता को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित रखा गया था। प्रजामंडल आंदोलन की शुरुआत रियासतों में लोगों को संगठित करने, **की** व्यावस्था के विरुद्ध जागरूक करने और लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए रास्ता प्रशस्त करने के लिए हुई। इस क्षेत्र के प्रमुख स्थानों जैसे रीवा, सतना, नागौद,सोहावल और शहडोल में प्रजामंडल की इकाइयाँ बनीं और नेतृत्व ने व्यापक जनाधार तैयार किया।

1920 के दशक से ही प्रजामण्डल आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का एक भाग रहा। दरअसल देशी रियासतों में रहने वाले लोग अंग्रेजी हुकूमत के बजाय मुख्य रूप से अभिजात वर्ग के शासन-प्रशासन के अधीन थे । यह अभिजात वर्ग अपनी जनता में सुधारों के प्रयास के चलते अंग्रेजी प्रशासन के खिलाफ समय-समय पर संघर्ष किया करते थे ।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान देशी रियासतों की जनता के द्वारा स्थापित संगठन को प्रजा परिषद् या प्रजामण्डल कहा गया । इनके सदस्यों द्वारा कुटीर उद्योगों की स्थापना खादी का प्रयोग, अस्पृश्यता के खिलाफ गतिविधि, स्कूल स्थापित करना आदि को महत्त्व दिया ।[2] इन आंदोलनों की प्रकृति लोकतांत्रिक थी और अपने अधिकारों के लिए औपनिवेशिक एवं सामंतवादी प्रवृत्ति की विरुद्ध थी ।[3]

सन 1932 ईस्वी में श्री गोविंद लाल पित्ती के नेतृत्व में मध्य भारत ष्देशी राज्य लोक परिषद, का प्रथम सम्मेलन खंडवा में आयोजित किया गया जबकि दूसरा सम्मेलन 1939 ईस्वी में आचार्य नरेंद्र देव के नेतृत्व में हुआ । इसी समय 1939 ईस्वी में 'अखिल भारतीय देशी राज्य परिषद' का गठन किया गया था जो कि आगे चलकर एक मजबूत संगठन बना । 1940 के दशक में प्रजामण्डल आंदोलन के परिणाम सफलता पूर्वक सामने आने लगे । परिणामस्वरूप स्वतंत्रता आंदोलन के स्वरूप में भी परिवर्तन देखने को मिलता है । इसके बाद से सामन्य प्रजा भी "सुरक्षा कवच" के रूप में अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ प्रत्यक्ष विरोध में आ गई ।[4]

1942 ई के भारत छोड़ो आंदोलन के समय इन रियासतों के छात्रों ने बढ़-चढ़कर अपनी भूमिका निभाई जिसमें से अधिकांश छात्र उस समय मध्य प्रांत में अध्ययनरत थे जिसमें से कई छात्र आंदोलन में शहीद भी हुए । इनमें जंग बहादुर सिंह, गोपाल शरण सिंह ,सुरेंद्र जैन, नरेंद्र विद्यार्थी का नाम शामिल है । इस आंदोलन में लाल पद्मधर सिंह का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है जो प्रयागराज में ही शहीद हो गए थे । इसी आंदोलन में पंडित शंभू नाथ शुक्ल के भतीजे श्री चंद्रकांत शुक्ल को रीवा जेल में रखा गया था जो अल्प वयस्क थे । इसी समय अपनी वीरता के कारण बालक चंद्रकांत शुक्ल के साहस एवं राष्ट्रीय भावना की सब जगह सराहना हुई । इस प्रकार सैकड़ो कार्यकर्ताओं ने राज्य के बाहर एवं भीतर आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया था ।

उदयपुर राज्य के भारतीय देसी राज्य परिषद का चुनाव 31 दिसंबर 1945 और एक जनवरी 1946 को हुआ जिसमें श्री गोपी कृष्ण विजयवर्गीय को उज्जैन का अध्यक्ष बनाया गया तथा श्री सैय्यद हामिद अली को राजगढ़ का जनरल सेक्रेटरी एवं टी.एस. गोखले को शुजालपुर का सदस्य नामित किया गया था । इसी क्रम में श्री त्रयंबकम राव गोखले ग्वालियर से सतना 29 मई 1946 को पहुंचे और सतना में श्री जानकी नाथ रैना निवास स्थल पर रुके ।[5]

अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषदष्की जनरल काउंसिल की बैठक 6 जून को दिल्ली में हुई ।इस काउंसिल में विंध्य क्षेत्र का प्रतिनिधित्व शिवानन्द ने किया । इसके बाद 8 जून 1946 रीवा प्रजामण्डल की स्थापना हेतु टी.एस.गोखले और गोपीकृष्ण विजयवर्गीय से शिवानंद जी से सलाह मशविरा हुआ । फलस्वरूप विंध्य क्षेत्र के बघेलखण्ड में प्रजामण्डल की स्थापना के लिए गोपीकृष्ण विजयवर्गीय को अधिकृत किया गया । इसके पश्चात् उन्होंने इस क्षेत्र में प्रजामण्डल के महत्त्व एवं उद्देश्यों को रियासत की जनता को अवगत कराया । इसके उपरांत प्रजामण्डल के संचालन के लिए रीवा रियासत के बैजू धर्मशाला में 25 जून 1946 को कार्यकर्ताओं के एक बैठक का आयोजन किया गया । इस बैठक के संयोजक सत्यदेव को बनाया गया साथ ही तेरह सदस्यों की एक कार्य समिति भी बनाई गयी तथा निम्न सदस्यों को रखा गया - प्रकाश नारायण खरे (रीवा), गणपत प्रसाद मारवाड़ी (सतना),रामभद्र गौड़ (रीवा), शिवानंद (सतना), भगवान दास सफड़िया (सतना), भैरोंदीन मिश्र (त्योंथर), चिंतामणि शुक्ल (त्योंथर), बिसाहू लाल सर्राफ (शहडोल), बैजनाथ दुबे (देवसर),जगमोहन लाल निगम (रीवा) द्वारका प्रसाद गोपद (बनास), सीता प्रसाद (रीवा), तेज प्रताप सिंह (सिरमौर),जगमोहन लाल निगम (रीवा)सम्मिलित हुए ।

प्रजामंडल का जहां एक तरफ प्रचार-प्रसार किया जा रहा था तो वहीं दूसरी तरफ सरदार नर्मदा प्रसाद सिंह, कप्तान अवधेश प्रताप सिंह ,महाराजा गुलाब सिंह एवं कुछ अन्य प्रमुख कांग्रेसी नेताओं के द्वारा प्रजामंडल का विरोध भी किया गया । रीवा राज्य के पवाइदारों और इलाकेदारों की शक्ति को महाराजा गुलाब सिंह कम करना चाहते थे । भारत छोड़ो आंदोलन के समय बघेलखण्ड के क्षेत्र में दो संगठन क्रियाशील थे पहला पवाईदारों का संघ और दूसरा बघेलखण्ड जिला कांग्रेस कमेटी ।इस क्षेत्र के शक्तिशाली सरदार वर्ग अपने हितों की रक्षा के लिए पवाईदारों के संघ का समर्थन किया तो कुछ सरदार कांग्रेस के उत्तरदायी शासन की मांग का समर्थन करते थे ।[6]

फलस्वरूप आंदोलन के नेतृत्व के लिए गोविन्द नारायण सिंह,उदय वीर सिंह,तेजभान सिंह,ब्रजराज सिंह तिवारी,निर्भयनाथ,चंद्र प्रताप तिवारी ,दिनेश प्रसाद पांडेय,कमलेश्वर सिंह जैसे युवा वर्ग का नेतृत्व कर रहे नेताओं ने एक कार्यकारिणी बनाकर जेल में बंद नेताओं को मुक्त कराने का निर्णय लिया ।[7] इन आंदोलनों के क्रम में लोकप्रिय शासन की मांग को आधार मिलने लगा विरोध स्वरूप 11 नवम्बर 1946 विंध्य क्षेत्र में प्रजामंडल की स्थापना की ।

इस प्रकार बघेलखण्ड की राजनीति में तीन स्तम्भ दिखाई देते हैं जिनके इर्द गिर्द राजनीति का चक्र घूम रहा था । पहले स्तंभ के रूप में महाराजा गुलाब सिंह थे जिनके ही नेतृत्व में "आजाद प्रजामंडल" की स्थापना हुई थी, दूसरे स्तंभ के रूप में कप्तान अवधेश प्रताप सिंह थे जिनकी नेतृत्व में इस क्षेत्र में कांग्रेस का गठन हुआ था तथा तीसरे स्तंभ के रूप में शिवानंद जी थे जिनके प्रयासों के कारण प्रजामंडल का गठन हुआ था । शिवानंद जी को प्रजामण्डल का प्रथम अध्यक्ष बनाया गया ।[8]

रीवा में प्रजामण्डल की स्थापना के बाद से इस संगठन का तेजी से विस्तार हुआ तथा इसकी कई शाखाएं मैहर,कोठीएनागौद,सोहावल जैसी रियासतों में स्थापित होने लगीं । इस संगठन में युवा वर्ग,मध्यम वर्ग ,ग्रामीण अंचल के लोग जो कांग्रेसी विचारधारा से असंतुष्ट थी ब्रिटिश सरकार के खिलाफ मोर्चा सँभालने के लिए आगे आई । जब नागौद रियासत में इस संगठन की स्थापना हुई तत्पश्चात तुरंत ही यहाँ के कार्यकर्त्ता उत्तरदायी शासन की मांग करने लगे । इस रियासत में जब शिवानंद के प्रवेश पर सरकार द्वारा रोक लगाई तब नागौद प्रजामण्डल के कार्यकर्ताओं द्वारा इसका विरोध किया गया । फलस्वरूप इन्हें लाठी-डंडों से पिटवाया गया और जो कार्यकर्त्ता रियासत की सीमा से बाहर चले गए थे उन्हें रीवा, सतना तथा प्रयाग से पकड़कर जेल में बंद कर दिया गया । इन कार्यकर्ताओं के साथ अमानवीय अत्याचार किया जाता था । इस कारण से नागौद प्रजामण्डल के अध्यक्ष प.जगन्नाथ चतुर्वेदी,उपाध्यक्ष ददन सिंह परिहार,सचिव उर्मिला सिंह जो जेल में बंद थे अनशन प्रारम्भ कर दिया ।[9]

प्रजामण्डल का विस्तार जैसे -जैसे होता गया उसी दरम्यान कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन 1940 हरिपुरा में आयोजित हुआ और यह निर्णय लिया गया कि रियासतों में प्रजामण्डल के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए कार्य किया जाए । इसी समय श्री जगनारायण व्यास जो कि "आल इंडिया स्टेट पीपुल्स" के सचिव थे ने गोपीकृष्ण विजयवर्गीय को प्रजामण्डल बनाए जाने की अनुमति दी । तत्पश्चात "मध्य भारत प्रादेशिक देशी राज्य लोक परिषद" विंध्य क्षेत्र की रियासतों को कार्य सौंपा गया । गोपीकृष्ण विजयवर्गीय को अध्यक्ष बनाया गया । उसी समय गोपाल शरण सिंह इलाहबाद विश्वविद्यालय से लॉ की पढ़ाई कर अपने घर पतौरा पहुंचे जहाँ उनकी भेंट पंडित जगन्नाथ चतुर्वेदी, ददन सिंह परिहार,लाल लल्ला सिंह परिहार से मुलाकात हुई । इसके बाद से निरंतर सरकार विरोधी घटनाएं होती रहीं ।[10]

सोहावल क्षेत्र में पूस माह का प्रसिद्ध मेला लगता था जिसमें जुआं का ठेका राजा द्वारा दिया जाता था जिसका विरोध 28/12/1946 को बिहारीलाल विश्वकर्मा ने किया था । यही से सोहावल क्षेत्र में उत्तरदायी शासन की मांग जोर पकड़ने लगी । प्रजामंडल की आवाज को दबाने के लिए प्रजामंडल के अध्यक्ष श्री रामचरण जी के घर की तलाशी ली गई और उनका सारा सामान

पुलिस ने जब्त कर लिया । इस घटना के उपरांत आंदोलन तेज हो गया । इसी समय सोहावल के महराजा ने एक स्कूल की इमारत अपने निजी उपयोग के लिए ले लिया । इसके पश्चात् सोहावल की जनता कचहरी एकत्रित हुई और आंदोलन तेज कर दिया गया । फलस्वरूप हफ़्तों कचहरी बंद रही और स्टेट का शासन खत्म हो गया । इसके बाद प्रजामंडल ने अपना अधिकार स्थापित कर लि मैहर से पंडित श्री बद्री प्रसाद दुबे जो की प्रजामंडल के अध्यक्ष थे के नेतृत्व में 1947–48 ईस्वी में आंदोलन किया गया । इस आंदोलन में मैहर के अलावा नागौद , छतरपुर, टीकमगढ़ इत्यादि क्षेत्रों के सत्याग्रही भी भाग लिए थे । इन सत्याग्रहियों को जेल में बंद कर घोर यातनाएं दी गईं । इसके बावजूद भी सत्याग्रहियों के हौसले पस्त नहीं हुए । उनके द्वारा आंदोलन जारी रखा गया । परिणामस्वरूप मैहर राज्य में गुंडा शांति दल बनाया गया । इस दल के द्वारा सत्याग्रहियों को बुरी तरह से पीटा जाता था । इस आंदोलन में पंडित बाबू लाल चतुर्वेदी, श्रीमती विद्यावती चतुर्वेदी, जंग बहादुर सिंह , शिवनारायण खरे जैसे लोगों को गिरफ्तार कर महीनों जेल में रखा गया था ।

अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ चल रहे प्रजामण्डल आंदोलन के बारे में प्रत्यक्षदर्शी स्वतंत्रता संग्राम सेनानी पंडित जगन्नाथ चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक "नागौद परिचय" के द्वितीय खंड में एक कविता के माध्यम से निम्न पंक्तियों में जनता की व्यथा को प्रदर्शित किया है –

" उत्तरदायी की भी ऐसी, मांग सभी को समझाइ ।
नागौद प्रजामंडल को सोचो, क्यों ऐसी शक्ति आई ।।
साथी सभी भूख से आरत, थे आए पूर्व ठोर में जब।
संध्या समय अंधेरा होते ,ले टु कनी इक आया तब ।।
कहा कि पूड़ी साग है इसमें, मीठा और खटाई ।
खा पीकर तुम सब भाई, अपने घर को जाते हो ।।
नाम पूछ कर मेरा मुझको क्यों फांसी लगवाते हो ।
याद करो ना भूलो मुझको, आगे होंगे सामुदाई ।
गिनने पाठक के सुत जेठे, नाम चंद्रिका आए थे ।।
भोजन की सारी सामग्री, भर टुकनी में लाए थे ।
भोजन साथी ले करके, सानन्दित किया विदाई ।
उचेहरा के जो प्रेमी जन थे, यह दल भी खुलकर आया ।।
हर्षित होकर मिले परस्पर, काम उन्हें फिर समझाया ।
सभा करेंगे आगे ही तुम, सबको दो बतलाई ।।
उचेहरा से चलकर हम सब, गांव-गांव में जाते थे।
अपनी मांग सुना के सबको,नागौद प्रजा समझाते थे ।।
यहां पहुंचने पर सबने, जल्दी सभा बुलाई ।
अब तृतीय सप्ताह जून के, यह होती सभा हमारी ।।
हर्षित होकर जनता सुनती, पहली बात बिसारी ।
अन्न , वस्त्र था न्यून यहां, समय रहा दुखदाई ।।
फरीदकोट, कश्मीर तथा, नागौद निवासी भाई ।

सत्याग्रह तीन राज्य में यो, साथ किया था हर्षाई ।।
मांग सभी की एक यही थी, शासन उत्तरदाई ।
जून मास के अंत यहां अब, विजयवर्गीय आए।।
सबका है इंदौर प्रांत, यह भली-भांति समझाएं ।
मिले थे भूपति से जाकर फिर आए दरजी भाई ।।
नागौद से सादर विजयवर्गीय को हम विदा किया था ।
फिर साथी मिल कर अपने संगठन में चित्त दिया था ।।[11]

विंध्य प्रदेश में बुंदेलखंड की अधिकांश रियासतों का विलय किया गया था । ये रियासतें में उत्तर प्रदेश के हमीरपुर, झांसी, जालौन तथा बांदा से लगी हुई थी जैसा कि विदित है कि जन जागृति का श्री गणेश पहले ब्रिटिश भारत में हुआ जिस वजह से स्वतंत्रता का आंदोलन भी सर्वप्रथम ब्रिटिश भारत में ही हुआ जिसके फलस्वरूप इन सीमावर्ती राज्यों में भी इसका प्रभाव लाजमी था । राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन ने आम जनमानस के भीतर विद्रोह की भावनाओं को जागृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।यहाँ की जनता को अब यह महसूस होने लगा कि वे दोहरी गुलामी में जी रहे हैं । फलस्वरूप उत्तर प्रदेश के प्रभाव से बुंदेलखंड की रियासतों में अनेक कांग्रेस संगठन बनकर उठ खड़े हो गए । बुंदेलखंड एवं बघेलखंड की कांग्रेस में मूल अंतर यह था कि जहां बघेलखंड की कांग्रेस का निर्माण पवाइदारों और इलाकेदारों द्वारा किया गया वहीं बुंदेलखंड में कांग्रेस का निर्माण आम जनमानस के साथ सभी जातियों एवं वर्गों ने मिलकर किया ।

छतरपुर, समथर रियासत में श्री कन्हैया लाल वैद्य के विचारों से प्रभावित होकर प्रजामण्डल की स्थापना की गई । धीरे-धीरे बुन्देलखण्ड की अधिकांश रियासतों में भी प्रजामण्डल की स्थापना होने लगी । अलीपुर रियासत में 1944 ईस्वी में देशी राज्य लोक परिषद् की सम्बद्धता में प्रजामण्डल का गठन हुआ और जब खनियाधाना रियासत में श्री रतन चंद्र जैन द्वारा प्रजामण्डल की स्थापना की गई तो उन्हें ब्रिटिश सरकार के क्रोध का सामना करना पड़ा और उन्हें रियासत से बहार निकाल दिया गया । तत्पश्चात उन्होंने 1946 में "कानून भंग आंदोलन" चलाया । इसी क्रम में अजयगढ़ रियासत में भी स्वतंत्रता की चिंगारी बढ़ने लगी और जगन्नाथ मिश्र के नेतृत्त्व में प्रजमण्डल की स्थापना की गई और निरंतर "उत्तरदायी शासन" की मांग बढ़ने लगी । इसके पश्चात् छतरपुर रियासत में तिरंगा झंडा न लगाने को लेकर सरकार के खिलाफ निरतंर विरोध होता रहा ।[12]

ओरछा रियासत में 1939 में प्रजामण्डल का गठन किया गया जिसका उद्घाटन स्वयं ओरछा महाराजा ने 23 अक्टूबर 1939 को किया । ओरछा रियासत में भी अनगढ़ा शिविर के पश्चात् उत्तरदायी शासन के मांग को लेकर पृष्ठभूमि तैयार होने लगी और इसका परिणाम रहा कि 1947 की समाप्ति के पूर्व ही ओरछा महाराज ने पूर्ण उत्तरदायी शासन की घोषणा कर दी । जब ओरछा सेवा संघ का प्रथम एवं द्वितीय अधिवेशन हुआ तो द्वितीय अधिवेशन में "टप्पा प्रजामण्डल" और "ओरछा प्रजामण्डल" के अधिवेशनों में अपने प्रतिनिधि खड़े करने का दृढ़ संकल्प लिया ।[13]

इन सत्याग्रहियों को जेल में बंद कर घोर यातनाएं दी गईं । इसके बावजूद भी सत्याग्रहियों के हौसले पस्त नहीं हुए । उनके द्वारा आंदोलन जारी रखा गया । आजादी के बाद भी सरदार पटेल के इशारे पर राजशाही के खिलाफ उत्तरदायी शासन के लिए प्रजामंडलों द्वारा चलाया गया अंतिम आंदोलन था जिसका उद्देश्य राजशाही को समाप्त करना था । सीधे शब्दों में यह कहना कि पहले अंग्रेजों की तथा राज महाराजाओं की गुलामी को समाप्त करना था । कुछ राजाओं के द्वारा तो उत्तरदायी शासन की मांग को

स्वीकार कर लिया गया था । परंतु कुछ शासकों ने कठोरता से दमन चक्र चलाया और आम जनमानस को भीषण यातनाएं दीं । इस प्रकार हम विंध्य प्रदेश की कुछ महत्वपूर्ण रियासतों में हुए जन आंदोलन का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

राजनीतिक भूमिका

प्रजामंडल ने सबसे बड़ी उपलब्धि जनता को राजनीतिक अधिकारों के लिए संगठित करना और जागरूक करना था। जनता में सामूहिकता और भागीदारी की भावना का विकास किया गया। आंदोलन ने व्याप्त निरंकुशता और मनमानी कर व्यवस्था, जबरन श्रम, और अन्यायपूर्ण कानूनों का जमकर विरोध किया और लोगों को जनता की सरकार की अवधारणा से अवगत कराया। उत्तर प्रदेश और राजस्थान के प्रजामंडलों की तर्ज पर विंध्य क्षेत्र में भी लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना, विधान सभा की माँग, प्रेस व भाषण की स्वतंत्रता, और महिला सहभागिता की ओर ठोस कदम उठाए गए।

सामाजिक सुधार और शिक्षा जागरूकता

प्रजामंडल आंदोलन ने समाज सुधार को भी अपनी प्राथमिकताओं में रखा। बाल विवाह, जातिवाद, छुआछूत, पर्दा प्रथा, बहुविवाह, दहेज, और स्त्री अशिक्षा जैसी सामाजिक बुराइयों के खिलाफ़ सशक्त अभियान चलाया गया। महिलाओं को शिक्षित करने, विधवा पुनर्विवाह के लिए प्रोत्साहित करने, और दलित समाज के उत्थान के लिए कई योजनाएँ चलाई गईं। ग्राम स्तर पर पाठशालाओं, रात्रि विद्यालयों की स्थापना हुई तथा खादी, कताई, कुटीर उद्योगों को बढ़ावा दिया गया, जिससे आर्थिक आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त हुआ ।

जन सहयोग और महिला सहभागिता

प्रजामंडल की सफलता में सभी धर्मों, जातियों, और वर्गों की सहभागिता रही। आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी स्तुत्य थी । महिलाएँ न केवल सभाओं में शामिल हुईं बल्कि नेतृत्व की भूमिका भी निभाई। कई स्थानों पर महिलाओं ने धरना दिया, और गिरफ्तारियों का सामना किया, जिससे समाज की सोच बदली और महिला सशक्तीकरण की बुनियाद रखी गई।

प्रशासनिक और कानूनी सुधार

स्वतंत्रता के बाद प्रजामंडल ने प्रशासनिक और कानूनी सुधारों में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। संगठित नेतृत्व ने लोकतांत्रिक अवधारणा को जमीनी स्तर तक पहुँचाया और जवाबदेही, पारदर्शिता, एवं न्यायिक प्रक्रियाओं के संस्थानीकरण के लिए काम किया। इससे जनता में शासन के प्रति नवीन विश्वास का संचार हुआ।

प्रजामण्डल आंदोलन का महत्त्व

इस आंदोलन के माध्यम से जनता को मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया गया । इन आन्दोलनों के द्वारा ब्रिटिश शोषणवादी नीतियों और सामंती प्रवृत्तियों को जनता के समक्ष उजागर किया ताकि रियसतों के एकीकरण को आधार मिल सके । प्रजामण्डल आंदोलन का मुख्य लक्ष्य सामंती राजाओं के अधीन उत्तरदायी सरकार की मांग करना था, ताकि जनता को स्वतंत्रता और अधिकार मिल सके । इन आंदोलनों ने अपनी रियासतों में स्वतंत्रता संग्राम के रचनात्मक कार्यक्रमों को लागू करके,जैसे कि खादी को बढ़ावा,स्कूलों की स्थापना और अस्पृश्यता के विरुद्ध आंदोलन चलाना, रियासतों में शोषणकारी और निरंकुश शासन की समाप्ति । इन आंदोलनों ने लोगों में राष्ट्रीय भावना और चेतना जगाई । 1940 के दशक में, प्रजामंडल आंदोलनों ने स्वतंत्रता के बाद भारत के एकीकरण की प्रक्रिया को सरल बनाने के लिए राजनीतिक आधार बनाया ।[14]

निष्कर्ष

विंध्य क्षेत्र के स्वाधीनता आंदोलन में प्रजामंडलों ने राजनीतिक चेतना का संचार कर क्षेत्र के जनमानस को संगठित और जागरूक किया। उन्होंने राजशाही और ब्रिटिश दमन के विरुद्ध संघर्ष कर लोकतांत्रिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन की नींव रखी।

प्रजामंडलों के संगठित प्रयासों, महिला सहभागिता और आदिवासी उत्थान ने इस क्षेत्र को भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में विशिष्ट स्थान प्रदान किया। इनके योगदान के बिना न तो क्षेत्र में राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता संभव थी और न ही नागरिक अधिकारों, सामाजिक समानता तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना। इस प्रकार, प्रजामंडलों की भूमिका को षविंध्य क्षेत्र के स्वाधीनता आंदोलन का मेरुदंडष कहा जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. .स्वाधीनता आंदोलन विशेषांक, मध्य प्रदेश सन्देश,15 अगस्त 1987, पृ. 157.
2. https://selfstudyhistory.com/2025/10/30/praja-mandal-movements-in-princely-states/Accessed on 30/07/2025-
3. https://pwonlyias.com/upsc-notes/praja-mandal-movements/ Accessed on 30/07/2025.
4. निराला, अरुण कुमार, रिसर्च जनरल ऑफ ह्युमेंटीस एंड सोशल साइंस, वॉल्यूम 5.2014.
5. स्वाधीनता आंदोलन विशेषांक, मध्य प्रदेश सन्देश,15 अगस्त 1987, पृ.157.
6. बघेल,सिंह विक्रम, बघेलखण्ड का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास (प्रारम्भ से 1950 तक),शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003, पृ. 225.
7. वर्मा, राजेंद्र, गुरु, शम्भू दयाल, मध्य प्रदेश जिला गजेटियर, रीवा, गजेटियर, संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्य प्रदेश, भोपाल, 1992, पृ. 46.
8. वही पृ.47.
9. बघेल, सिंह विक्रम, बघेलखण्ड का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास (प्रारम्भ से 1950 तक), शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003, पृ. 226.
10. अग्रवाल, कन्हैया लाल, नागौद राज्य का इतिहास, शेखर प्रकाशन, प्रयागराज, 2023, पृ.106.
11. चतुर्वेदी, पंडित जगन्नाथ, स्वतंत्रता संग्राम सेनानी, नागौद परिचय, गीता प्रिंटिंग प्रेस, सत्तीबाजार, रायपुर, 1956, पृ.29. 31.
12. व्यास, हंसा, मध्य प्रदेश में स्वतंत्रता आंदोलन (1836 .1947 प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल,2004,पृ.171.173.
13. वैसा, हंसा, जंग-ए-आजादीमें बुंदेलखंड की देशी रियासतें, स्वराज संस्थान संचलनालय, संस्कृति विभाग, मध्य प्रदेश शासन, 2002, पृ.110.111.
14. https://pwonlyias.com/upsc-notes/praja-mandal-movements/ Accessed on 30/07/2025.

वैश्विक संस्कृति के माध्यम से विकसित भारत 2047 को आकार देना

अंकिता मिश्रा
शोधार्थिनी- समाजशास्त्र
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी

डॉ जयप्रकाश यादव,
एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी

सारांश :–
भारत का विज़न है कि 2047 में विकसित भारत अपनी स्वतंत्रता की शताब्दी तक एक पूर्ण विकसित और आत्मनिर्भर राष्ट्र बनेगा जिसके लिए बहुआयामी दृष्टिकोण की आवश्यकता है। जबकि आर्थिक विकास, तकनीकी उन्नति और बुनियादी ढाँचागत विकास मूलभूत स्तंभ हैं, एक प्रगतिशील और समावेशी भारत को आकार देने में वैश्विक संस्कृति की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। यह शोध पत्र 2047 तक भारत के "विकसित भारत" के दृष्टिकोण को आकार देने में वैश्विक संस्कृति की बहुमुखी भूमिका का पता लगाता है। यह जांचता है कि वैश्विक सांस्कृतिक रुझानों, कलात्मक अभिव्यक्तियों, तकनीकी प्रगति और बौद्धिक प्रवचन के साथ भारत का जुड़ाव इसके सामाजिक–आर्थिक विकास, तकनीकी कौशल और वैश्विक स्थिति में कैसे योगदान दे सकता है। यह शोध पत्र सांस्कृतिक आदान–प्रदान के संभावित लाभों और चुनौतियों का विश्लेषण करता है, अपने विकासात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वैश्विक प्रभावों को अपनाते हुए भारत की अनूठी सांस्कृतिक पहचान को संरक्षित करने के महत्व पर जोर देता है। विकसित भारत 2047 का एक अनिवार्य घटक है कि यह वैश्विक संस्कृति द्वारा भी आकार लेती है। अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार विमर्शों के संपर्क में आने से जाति, लिंग और सामाजिक–आर्थिक स्थिति के आधार पर असमानताओं को कम करते हुए अधिक समतापूर्ण समाज को बढ़ावा मिलता है। वैश्विक संस्कृति के माध्यम से विकसित भारत 2047 को आकार देने के लिए भारत की ऐतिहासिक शक्तियों के साथ अंतर्राष्ट्रीय सर्वोत्तम प्रथाओं का रणनीतिक संश्लेषण आवश्यक है। एक प्रगतिशील, ज्ञान–संचालित और सांस्कृतिक रूप से समावेशी भारत सांस्कृतिक आदान–प्रदान का लाभ उठाकर, नवाचार को बढ़ावा देकर और विविधता को अपनाकर वैश्विक नेता के रूप में उभरेगा। नीति निर्माताओं, शिक्षकों, व्यवसायीक मित्रों और नागरिक समाज को एक ऐसा वातावरण बनाने के लिए मिलकर काम करना चाहिए जहाँ वैश्विक प्रभाव स्वदेशी मूल्यों को प्रतिस्थापित करने के बजाय पूरक हों। यह सुनिश्चित करके कि वैश्वीकरण भारत की विशिष्ट पहचान को कम करने के बजाय मजबूत कर रहा है, भारत राष्ट्र समग्र और सतत विकास प्राप्त कर सकता है, 2047 तक एक विकसित और प्रभावशाली शक्ति बनने की अपनी आकांक्षा को पूरा कर सकता है।

मुख्य शब्दः :– विकसित भारत, सांस्कृतिक आदान–प्रदान, सांस्कृतिक समरूपता, डिजिटल,वैश्विक संस्कृति।

प्रस्तावना :– विकसित भारत 2047 भारत की अपनी स्वतंत्रता की शताब्दी तक एक विकसित राष्ट्र बनने की महत्वाकांक्षी दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। इस दृष्टि में आर्थिक विकास, सामाजिक प्रगति, तकनीकी उन्नति और सांस्कृतिक समृद्धि शामिल है। जबकि आर्थिक और तकनीकी कारक महत्वपूर्ण हैं, इस दृष्टि को आकार देने में संस्कृति की भूमिका को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है। वैश्विक संस्कृति, अपनी विविध

अभिव्यक्तियों और प्रभावों के साथ, भारत के विकास पथ के लिए अवसर और चुनौतियाँ दोनों प्रस्तुत करती है।

इक्कीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ वैश्वीकरण, तकनीकी नवप्रवर्तन, सांस्कृतिक आदान–प्रदान और ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था की तीव्र गति से चिह्नित हुआ है। आज विश्व के राष्ट्र भूगोल से अधिक विचारों, सूचनाओं, तकनीकों और मूल्यों के वैश्विक नेटवर्क के माध्यम से एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। ऐसे परिवर्तित अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य में भारत भी एक ऐसे युग में प्रवेश कर चुका है जहाँ उसकी सांस्कृतिक विरासत, आर्थिक क्षमता और जनसांख्यिकीय शक्ति उसे 2047 तक "विकसित राष्ट्र" के रूप में स्थापित करने की संभावनाओं से भरपूर है। भारत की यह आकांक्षा केवल आर्थिक प्रगति का लक्ष्य नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक वैचारिक परियोजना है। जिसमें शिक्षा, विज्ञान, तकनीक, नवाचार, सांस्कृतिक सशक्तिकरण, सामाजिक समानता और वैश्विक मूल्यों के साथ सामंजस्यपूर्ण विकास सम्मिलित है। इस विकास–यात्रा में वैश्विक संस्कृति एक शक्तिशाली प्रेरक तत्त्व के रूप में उभरती है, जो भारतीय समाज को नई सोच, नए अवसरों और नए जीवनदृमानदंडों के लिए तैयार कर रही है।

वैश्विक संस्कृति का आशय उन सार्वभौमिक सांस्कृतिक रूपों, मूल्यों, संचार प्रणालियों और जीवन–शैलियों से है जो राष्ट्र–सीमाओं से परे जाकर मानव समाज को एक साझा मंच प्रदान करती हैं। चाहे वह डिजिटल मीडिया हो, अंतरराष्ट्रीय व्यापार, वैश्विक शिक्षा, तकनीकी नवाचार, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, वैश्विक कला और फैशन, लोकतांत्रिक मूल्य, या मानवाधिकारों की सार्वभौमिक अवधारणा ये सभी तत्व मिलकर एक ऐसे 'वैश्विक सांस्कृतिक परिदृश्य' का निर्माण करते हैं जहाँ स्थानीय और वैश्विक निरंतर संवाद में संलग्न रहते हैं। भारत जैसे बहुभाषीय, बहुधार्मिक, बहुसांस्कृतिक समाज के लिए यह वैश्विक संस्कृति न केवल चुनौतियाँ प्रस्तुत करती है, बल्कि असंख्य अवसर भी प्रदान करती है। यह भारतीय युवाओं, उद्यमियों, नीतिदृनिर्माताओं और समाजशास्त्रीय संरचनाओं को एक नए वैश्विक दृष्टिकोण से सोचने और कार्य करने के लिए प्रेरित करती है।

भारत के लिए विशेष महत्व इसलिए भी है क्योंकि देश 2047 में अपनी स्वतंत्रता के 100 वर्ष पूर्ण होने पर 'विकसित भारत' का लक्ष्य लेकर आगे बढ़ रहा है। विकसित भारत केवल तकनीकी या आर्थिक प्रगति का पर्याय नहीं है यह वह राष्ट्र है जिसमें नागरिकों के जीवन स्तर, शिक्षा, स्वास्थ्य, नवाचार, सामाजिक न्याय, लैंगिक समानता, पर्यावरणीय स्थिरता, डिजिटल सशक्तिकरण और सांस्कृतिक आत्मविश्वास का संतुलित समन्वय शामिल है। यह लक्ष्य तभी साकार हो सकता है जब भारत पारंपरिक सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखते हुए वैश्विक सांस्कृतिक प्रवाह से सक्रिय रूप से संवाद करे और उसे अपने विकास मॉडल में विवेकपूर्ण रूप से समाहित करे।

वैश्विक संस्कृति के माध्यम से विकसित भारत की परिकल्पना कई स्तरों पर कार्य करती है। प्रथम, यह भारतीय अर्थव्यवस्था को वैश्विक बाजारों से जोड़ती है। वैश्विक व्यापार, अंतरराष्ट्रीय निवेश, स्टार्टअप संस्कृति, डिजिटल उद्यमिता और अनुसंधान नवाचार में वैश्विक सहभागिता भारत को उच्च उत्पादकता, प्रतिस्पर्धी क्षमता और आर्थिक गतिशीलता प्रदान करती है। आज भारत का युवा वर्ग वैश्विक कार्य संस्कृति, डिजिटल कौशल, रचनात्मक उद्योगों और उद्यमशीलता इकोसिस्टम के माध्यम से न केवल रोजगार ग्रहण कर रहा है, बल्कि वैश्विक मंचों पर अपनी प्रतिभा का विस्तार भी कर रहा है। यह प्रवृत्ति 2047 के लिए एक मजबूत आर्थिक आधार तैयार करती है।

द्वितीय, वैश्विक संस्कृति भारतीय शिक्षा प्रणाली को समकालीन ज्ञान प्रवाह से जोड़ती है। वैश्विक विश्वविद्यालयों के साथ सहयोग, ऑनलाइन शिक्षा, अंतरराष्ट्रीय शोध मानक, बहुविषयक अध्ययन, और नवाचार केंद्रित सोच उस नई पीढ़ी का निर्माण कर रही है जो वैश्विक प्रतिस्पर्धा में सक्षम है। नई शिक्षा नीति 2020

भी इसी सांस्कृतिक ज्ञानात्मक वैश्वीकरण का एक प्रतिफल मानी जा सकती है, जिसका उद्देश्य है, विचारों की वैश्विक पहुँच के साथ भारतीय सांस्कृतिक आत्म गौरव का संरक्षण।

तृतीय, वैश्विक संस्कृति सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना को विस्तारित करती है। भारतीय समाज में वैश्विक मानव अधिकार मूल्य, लैंगिक समानता, पर्यावरण संरक्षण, विविधता–सम्मान, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, वैश्विक नागरिकता जैसे विचार तेजी से स्वीकार किए जा रहे हैं। यह परिवर्तन भारत को सामाजिक न्याय और समावेशिता की दिशा में आगे बढ़ाता है, जो किसी भी विकसित राष्ट्र की आवश्यक विशेषताएँ हैं।

चतुर्थ, यह संस्कृति भारत की परंपरागत धरोहर को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित करने का अवसर प्रदान करती है। योग, आयुर्वेद, भारतीय भोजन, शास्त्रीय कला, भारतीय भाषाएँ, हस्तशिल्प, पारंपरिक ज्ञान–प्रणालियाँ सभी वैश्विक पहचान प्राप्त कर चुके हैं। इस सांस्कृतिक कूटनीति के माध्यम से भारत न केवल अपनी सॉफ्ट पावर को मजबूत करता है, बल्कि वैश्विक सांस्कृतिक नेतृत्व की ओर भी अग्रसर होता है। विकसित भारत 2047 का सांस्कृतिक मॉडल केवल 'वैश्वीकरण को ग्रहण' करने का नहीं, बल्कि 'वैश्वीकरण को दिशा देने' का लक्ष्य रखता है।

पंचम, डिजिटल संस्कृति का प्रसार विशेषकर सोशल मीडिया, आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, साइबर नेटवर्क, ई–गवर्नेंस, और डिजिटल सेवाओं का विस्तारकृएक ऐसी उभरती वैश्विक संस्कृति को जन्म दे रहा है जिसमें भारत की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारत विश्व की सबसे बड़ी डिजिटल जनसंख्या में से एक है, और 'डिजिटल पब्लिक इंफ्रास्ट्रक्चर' जैसे अभिनव मॉडल विश्वभर के लिए उदाहरण बन रहे हैं। यह डिजिटल वैश्वीकरण 2047 तक भारत को तकनीकी नेतृत्व की दिशा में सुदृढ़ आधार प्रदान करता है। हालाँकि, वैश्विक संस्कृति की स्वीकृति के साथ–साथ चुनौतियाँ भी उपस्थित हैं सांस्कृतिक एकरूपता का खतरा, स्थानीय भाषाओं और परंपराओं का क्षरण, उपभोक्तावादी सोच का प्रसार, सामाजिक असमानताओं में वृद्धि, डिजिटल विभाजन, और सांस्कृतिक पहचान संकट जैसी समस्याएँ भी उभरती हैं। इसलिए विकसित भारत 2047 की परिकल्पना में वैश्विक संस्कृति का उपयोग अत्यंत संतुलित और संवेदनशील रूप से करना आवश्यक है। "वसुधैव कुटुम्बकम" जैसी भारतीय अवधारणाएँ वैश्वीकरण को मानवीय और न्यायपूर्ण दिशा दे सकती हैं, जिससे न केवल भारत का विकास होगा बल्कि विश्व समाज भी अधिक नैतिक, शांतिपूर्ण और सहयोगात्मक बन सकेगा।

अतः जब भारत 2047 की विकसित राष्ट्र की यात्रा की ओर अग्रसर होता है, तब वैश्विक संस्कृति उसका महत्वपूर्ण आधार स्तम्भ बनती है, जो उसे आर्थिक शक्ति, सामाजिक जागरूकता, सांस्कृतिक आत्मविश्वास, तकनीकी नवाचार और वैश्विक नेतृत्व की ओर प्रेरित करती है। भारत का यह विकास मॉडल न तो पूर्णतः पश्चिमीकरण है और न ही यांत्रिक आधुनिकीकरण यह वह मार्ग है जो वैश्विक मूल्य प्रवाहों को भारतीय समाज की जड़ों, परंपराओं और सामूहिक आकांक्षाओं के साथ जोड़कर एक संतुलित, समावेशी और दूरदर्शी 'विकसित भारत 2047' का निर्माण करता है।

विकास के लिए उत्प्रेरक के रूप में वैश्विक संस्कृति

1 आर्थिक विकास के क्षेत्र में :–

रचनात्मक उद्योग– वैश्विक सांस्कृतिक आदान–प्रदान भारत के रचनात्मक उद्योगों, जिसमें फिल्म, संगीत, फैशन और डिजाइन शामिल हैं, के विकास को बढ़ावा दे सकता है। अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और कलात्मक प्रतिभा का लाभ उठाकर, भारत रचनात्मक निर्यात के लिए एक वैश्विक केंद्र बन सकता है, जिससे राजस्व और रोजगार पैदा होगा।

पर्यटन– सांस्कृतिक पर्यटन भारत की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अपने अद्वितीय सांस्कृतिक आकर्षण और अनुभवों को बढ़ावा देकर, भारत अंतर्राष्ट्रीय पर्यटकों को आकर्षित कर सकता है, आतिथ्य क्षेत्र को बढ़ावा दे सकता है और विदेशी मुद्रा उत्पन्न कर सकता है।

2 तकनीकी उन्नति के क्षेत्र में :–

नवाचार– वैश्विक सांस्कृतिक रुझानों और तकनीकी उन्नति के संपर्क में आने से भारत में नवाचार और रचनात्मकता को बढ़ावा मिल सकता है। नए विचारों और तकनीकों को अपनाकर, भारत अपने तकनीकी विकास को गति दे सकता है और विभिन्न क्षेत्रों में वैश्विक नेता बन सकता है।

डिजिटल अर्थव्यवस्था– डिजिटल क्रांति ने संस्कृति के निर्माण, प्रसार और उपभोग के तरीके को बदल दिया है। भारत अपनी सांस्कृतिक विरासत और कलात्मक अभिव्यक्तियों को वैश्विक दर्शकों के सामने प्रदर्शित करने के लिए डिजिटल प्लेटफॉर्म का लाभ उठा सकता है, जिससे सांस्कृतिक आदान–प्रदान और आर्थिक विकास को बढ़ावा मिलेगा।

3 सामाजिक प्रगति के क्षेत्र में :–

समावेशिता– वैश्विक संस्कृति विविध संस्कृतियों और दृष्टिकोणों के लिए समझ और सम्मान को बढ़ावा देकर समावेशिता और सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा दे सकती है। सांस्कृतिक विविधता को अपनाकर, भारत अपने सामाजिक ताने–बाने को मजबूत कर सकता है और अधिक समावेशी समाज का निर्माण कर सकता है।

सांस्कृतिक जागरूकता– वैश्विक संस्कृतियों के संपर्क में आने से लोगों के क्षितिज का विस्तार हो सकता है और सांस्कृतिक जागरूकता को बढ़ावा मिल सकता है। इससे विभिन्न संस्कृतियों के प्रति अधिक सहिष्णुता और प्रशंसा हो सकती है, जिससे अधिक महानगरीय और सामंजस्यपूर्ण समाज को बढ़ावा मिल सकता है।

4 चुनौतियाँ और अवसर :–

वैश्वीकरण और समरूपता– दुनिया की बढ़ती अंतर्संबंधता अद्वितीय सांस्कृतिक प्रथाओं और परंपराओं के क्षरण का कारण बन सकती है क्योंकि लोग अधिक वैश्वीकृत जीवन शैली और मूल्यों को अपनाते हैं। इसके परिणाम स्वरूप सांस्कृतिक विविधता का नुकसान हो सकता है और संस्कृतियों की समरूपता हो सकती है।

सांस्कृतिक समरूपता– वैश्विक संस्कृति का प्रवाह भारत की अनूठी सांस्कृतिक पहचान के लिए चुनौती बन सकता है। वैश्विक प्रभावों को अपनाने और भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने के बीच संतुलन बनाना आवश्यक है।

सांस्कृतिक विनियोग– सांस्कृतिक विनियोग एक संस्कृति के तत्वों को किसी अन्य संस्कृति के सदस्यों द्वारा अपनाना या उपयोग करना है, अक्सर मूल संदर्भ या अर्थ को समझे या सम्मान किए बिना। यह विशेष रूप से हानिकारक हो सकता है जब प्रमुख संस्कृति अल्पसंख्यक या हाशिए की संस्कृति से विनियोग करती है, क्योंकि यह रूढ़ियों को कायम रख सकती है, सांस्कृतिक प्रथाओं को वस्तु बना सकती है, और उन प्रथाओं के ऐतिहासिक और सामाजिक महत्व को मिटा सकती है। भारत को सांस्कृतिक विनियोग के खिलाफ सतर्क रहना चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि वैश्विक क्षेत्र में इसकी सांस्कृतिक विरासत का शोषण या गलत तरीके से प्रस्तुतीकरण न हो।

5 सांस्कृतिक आदान–प्रदान को बढ़ावा देना :–

सॉफ्ट पावर– संस्कृति भारत की सॉफ्ट पावर को बढ़ावा देने और इसकी वैश्विक छवि को बढ़ाने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण हो सकती है। अपनी सांस्कृतिक समृद्धि और विविधता को प्रदर्शित करके, भारत अपने राजनयिक संबंधों को मजबूत कर सकता है और अन्य देशों के साथ पुल बना सकता है।

सांस्कृतिक कूटनीति – भारत अन्य देशों के साथ आपसी समझ और सहयोग को बढ़ावा देने के लिए सांस्कृतिक कूटनीति का लाभ उठा सकता है। सांस्कृतिक कार्यक्रमों, प्रदर्शनियों और आदान–प्रदानों का आयोजन करके, भारत अपनी संस्कृति को बढ़ावा दे सकता है और वैश्विक समुदाय के साथ मजबूत संबंध बना सकता है।

शोध साहित्य समीक्षा :–

• **डॉ भूपिंदर सिंह और मंगल छरिंग, "विकसित भारत 2047 भारत के समावेशी और सतत विकास के लिए एक रणनीतिक दृष्टिकोण"** विकसित भारत 2047 प्रस्तुत शोध पत्र की पहल सशक्त नागरिकों, एक संपन्न और टिकाऊ अर्थव्यवस्था, विज्ञान और प्रौद्योगिकी में नवाचार, सुशासन और वैश्विक स्तर पर भारत की भूमिका पर ध्यान केंद्रित करते हुए एक रणनीतिक दृष्टिकोण की रूपरेखा तैयार करती है। समावेशी आर्थिक भागीदारी और मानव पूंजी विकास पर जोर देते हुए, रूपरेखा नवाचार और समग्र विकास को बढ़ावा देने के लिए विविध सांस्कृतिक दृष्टिकोणों को एकीकृत करने के महत्व पर प्रकाश डालती है।[1]

• **जसवंत राठौड़, "विकसित भारत/2047 में भारतीय अंग्रेजी साहित्य की भूमिका"** प्रस्तुत शोध पत्र में भारतीय अंग्रेजी साहित्य का सांस्कृतिक एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। विद्वान औपनिवेशिक और यूरोपीय लेखन मॉडल से अलग हटकर स्वदेशी कथा शैलियों को अपनाने और भारतीय दर्शन को शामिल करने पर जोर देते हैं। यह दृष्टिकोण न केवल साहित्यिक परिदृश्य को समृद्ध करता है बल्कि वैश्विक मंच पर भारतीय संस्कृति को बढ़ावा देता है, जिससे राष्ट्र के विकास में योगदान मिलता है।[2]

• **डॉ केशव चन्द्र मण्डल, "भारत 2047 तक महाशक्ति कैसे बन सकता है"** प्रस्तुत पुस्तक में लेखक दस्तावेज प्रस्तुत किया है जिसका उद्देश्य छात्रों और युवाओं को भारत के विकास में योगदान देने के लिए प्रेरित करना है। पुस्तक में भारत के समृद्ध इतिहास, संस्कृति, अर्थव्यवस्था और अन्य बातों पर प्रकाश डाला गया है, तथा यह जानकारी दी गई है कि देश 2047 तक उच्च मानव विकास सूचकांक कैसे प्राप्त कर सकता है।[3]

शोध उद्देश्य :–

• 'विकसित भारत 2047 के लिए भारत की विकास रणनीति में वैश्विक सांस्कृतिक प्रभावों का अध्ययन करना।

• भारत की सांस्कृतिक विरासत 2047 तक वैश्विक सांस्कृतिक विकास में किस प्रकार योगदान दे सकती है का अध्ययन करना।

शोध उपकल्पना :– वैश्विक संस्कृति विकसित भारत 2047 को आकार देने में सकारात्मक भूमिका निभा रही हैं।

शोध पद्धति :– प्रस्तुत शोध पत्र में द्वितीयक स्त्रोत के माध्यम से शोध पत्र का विश्लेषण किया गया है। जिसमें शोध पत्र–पत्रिका, पुस्तक, समाचार पत्र एवं सरकारी दस्तावेजों का प्रयोग किया गया है। शोध एक खोजपूर्ण दृष्टिकोण का अनुसरण करता है, जिसमें राष्ट्रीय विकास पर सांस्कृतिक आदान–प्रदान के प्रभाव का आकलन करने के लिए यूनेस्को के साथ भारत के सहयोग, अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस पहल और भारत–फ्रांस सांस्कृतिक सहयोग जैसे दस्तावेजों का अंर्तवस्तु विश्लेषण किया गया है।

शोध पत्र का विश्लेषण :– प्रस्तुत शोध पत्र के उद्देश्य का अध्ययन द्वितीयक स्त्रोतों के माध्यम से करने के बाद विश्लेषण कुछ इस प्रकार है –

विकसित भारत 2047 के लिए भारत की विकास रणनीति विभिन्न वैश्विक सांस्कृतिक प्रभावों द्वारा आकार लेती है। ये प्रभाव आर्थिक नीतियों, शासन मॉडल, प्रौद्योगिकी अपनाने और सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन में देखे जा सकते हैं।

1 आर्थिक और औद्योगिक प्रभाव :– पश्चिमी मुक्त–बाजार सिद्धांत 1991 से भारत का उदारीकरण पश्चिमी पूंजीवाद से प्रेरित मिश्रित अर्थव्यवस्था मॉडल का अनुसरण करता है, जो निजी क्षेत्र के विकास को सामाजिक कल्याण के साथ संतुलित करता है। पूर्वी एशियाई विकास मॉडल जापान, दक्षिण कोरिया और चीन जैसे देशों ने विनिर्माण (मेक इन इंडिया), बुनियादी ढाँचे के विकास और निर्यात–संचालित नीतियों पर भारत के जोर को प्रभावित किया है। नॉर्डिक कल्याण प्रणाली समावेशी विकास, सामाजिक सुरक्षा और सतत विकास के लिए भारत का प्रयास समानता के साथ समृद्धि को संतुलित करने के स्कैंडिनेवियाई दृष्टिकोण को प्रतिध्वनित करता है।

2 सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन :– स्टार्टअप और नवाचार पारिस्थितिकी तंत्र (सिलिकॉन वैली प्रभाव) स्टार्टअप इंडिया जैसी पहलों के नेतृत्व में भारत का तेजी से बढ़ता स्टार्टअप पारिस्थितिकी तंत्र, अमेरिका की उद्यमशीलता संस्कृति द्वारा आकार लेता है। ''सॉफ्ट पावर और वैश्विक ब्रांडिंग'' भारत की सांस्कृतिक कूटनीति, योग प्रचार और बॉलीवुड की वैश्विक अपील हॉलीवुड और दक्षिण कोरिया की के–वेव रणनीति के बाद तैयार की गई है। कार्यस्थल और श्रम संस्कृत भारत में हाइब्रिड कार्य मॉडल और गिग इकॉनमी संरचनाओं का उदय पश्चिम में देखे गए वैश्विक कार्यस्थल परिवर्तनों को दर्शाता है। कूटनीति, योग प्रचार और बॉलीवुड की वैश्विक अपील हॉलीवुड और दक्षिण कोरिया की के–वेव (कोरियन वेब सीरीज) रणनीति के बाद तैयार की गई है।

भारत की सांस्कृतिक विरासत और 2047 तक वैश्विक सांस्कृतिक विकास में इसका योगदान :–

1 भारतीय ज्ञान प्रणाली और आध्यात्मिक प्रभाव– योग, आयुर्वेद और समग्र स्वास्थ्य। दुनिया तेजी से मानसिक स्वास्थ्य, माइंडफुलनेस और वैकल्पिक चिकित्सा को अपना रही है। योग और आयुर्वेद, जो पहले से ही लोकप्रिय हैं, वैश्विक स्तर पर निवारक स्वास्थ्य सेवा प्रणाली की मुख्यधारा बन सकते हैं। भारत की ध्यान तकनीकें (विपश्यना, ट्रांसेंडेंटल मेडिटेशन, आदि) मानसिक स्वास्थ्य और तनाव कम करने'' पर वैश्विक जोर के साथ संरेखित हैं। दार्शनिक और नैतिक विचार नेतृत्व भारत के वेदांत, उपनिषद और बौद्ध शिक्षाएँ अहिंसा, करुणा और स्थिरता जैसे सार्वभौमिक मूल्यों पर जोर देती हैं, जो वैश्विक नैतिक ढाँचों और एआई नैतिकता को प्रभावित करती हैं। अहिंसा और आत्मनिर्भरता के गाँधीवादी सिद्धांत दुनिया भर में शांति–निर्माण और सतत विकास में प्रासंगिक बने हुए हैं।

2 यूनेस्को के साथ भारत की सांस्कृतिक कूटनीति– विरासत संरक्षण और सांस्कृतिक संवर्धन में यूनेस्को के साथ भारत की भागीदारी ने इसकी वैश्विक पहचान को मजबूत किया है।

3 अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस– सांस्कृतिक सॉफ्ट पावर का एक सफल उदाहरण, अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस ने भारत की वैश्विक छवि को बढ़ाया है और पर्यटन और कल्याण उद्योगों को बढ़ावा दिया है।

4 भारत–फ्रांस सांस्कृतिक सहयोग– कला, सिनेमा और शिक्षा में द्विपक्षीय समझौतों ने पारस्परिक आर्थिक और सांस्कृतिक समृद्धि में योगदान दिया है। सांस्कृतिक कूटनीति को मजबूत करना– दूतावासों और सांस्कृतिक केंद्रों के माध्यम से भारत की वैश्विक सांस्कृतिक पहुंच का विस्तार करना। सांस्कृतिक पर्यटन को बढ़ाना अंतर्राष्ट्रीय भागीदारी के माध्यम से भारत की विरासत को बढ़ावा देना। शैक्षणिक आदान–प्रदान को प्रोत्साहित करना अंतर्राष्ट्रीय छात्रों के लिए अधिक छात्रवृत्ति कार्यक्रम स्थापित करना। भारतीय कला और मीडिया को बढ़ावा देना फिल्म, संगीत और साहित्य में वैश्विक सहयोग को बढ़ावा देना।

निष्कर्ष :– सांस्कृतिक आदान–प्रदान राष्ट्रीय विकास, आर्थिक समृद्धि, अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना और सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देने का एक महत्वपूर्ण साधन है। वैश्विक संस्कृति का रणनीतिक लाभ उठाकर, भारत

2047 के अपने दृष्टिकोण को प्राप्त कर सकता है, तथा विश्व स्तर पर सम्मानित और सांस्कृतिक रूप से जीवंत विकसित राष्ट्र बन सकता है।

सिफारिशें :–

सांस्कृतिक शिक्षा और जागरूकता को बढ़ावा दें– भारत की सांस्कृतिक विरासत और वैश्विक संस्कृतियों के लिए प्रशंसा को बढ़ावा देने के लिए स्कूल और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में सांस्कृतिक शिक्षा को एकीकृत करें।

रचनात्मक उद्योगों का समर्थन करें– भारत के रचनात्मक उद्योगों के विकास का समर्थन करने के लिए धन और संसाधन प्रदान करें, जिससे वे वैश्विक बाजार में प्रतिस्पर्धा कर सकें।

डिजिटल प्लेटफॉर्म का लाभ उठाएँ – वैश्विक दर्शकों के लिए भारत की सांस्कृतिक विरासत और कलात्मक अभिव्यक्तियों को प्रदर्शित करने के लिए डिजिटल प्लेटफॉर्म का उपयोग करें।

सांस्कृतिक पर्यटन को बढ़ावा दें– भारत के अद्वितीय सांस्कृतिक आकर्षण और अनुभवों को प्रदर्शित करने वाली स्थायी सांस्कृतिक पर्यटन पहल विकसित करें।

बौद्धिक संपदा की रक्षा करें– भारत की सांस्कृतिक विरासत और कलात्मक कृतियों को शोषण और दुरुपयोग से बचाने के उपायों को लागू करें।

प्रस्तुत सिफारिशों को लागू करके, भारत विकसित भारत 2047 के अपने दृष्टिकोण को आकार देने और अपने विकासात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वैश्विक संस्कृति का प्रभावी ढंग से लाभ उठा सकता है।

संदर्भ सूची :–

1. डॉ भूपिंदर सिंह और मंगल छरिंग" विकसित भारत 2047 भारत के समावेशी और सतत विकास के लिए एक रणनीतिक दृष्टिकोण"
2. https://doi.org/10.38193/IJRCMS.2024.6408
3. https://www.academia.edu/115981940/Role_of_Indian_English_Literature_in_Viksit_Bharat_at_2047
4. चन्द्र मण्डल, डॉ केशव (2024), "भारत 2047 तक महाशक्ति कैसे बन सकता है, उकीयोटो पब्लिशिंग
5. https://books.google.com/books/about/How_Can_India_Become_a_Superpower_by_204.html?id=U9YOEQAAQBAJ
6. वालर्स्टीन, इमैन्युअल (1990), "कल्चर एसडी आइडियोलॉजिकल बैटल ग्राउंड ऑफ द मॉडर्न वर्ल्ड थियरी कल्चर एंड सोसाइटी
7. सेन, अर्मत्य (2006), "द आर्ग्युमेंटेटिव इंडियन। राइटिंग्स ऑन इंडियन हिस्टरी कल्चर एंड आइडेंटिटी",पैंगवीक यू.के.
8. थरूर, शशि (2019), "इनग्लोरियस अंपाययरूवॉट द ब्रिटिश डिड टू इंडिया?"हर्टस एण्ड को लिमिटेड
9. भार्गव, नरेश (2014), "वैश्वीकरण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य"रावत पब्लिकेशन।
10. https://www.eoiparis.gov.in/page/bilateral-brief/

शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया का प्रभाव: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. रीना जया कुमारी
असिस्टेंट प्रोफेसर,नीड बेस्ड समाजशास्त्र विभाग
डॉ श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय,रांची

सारांश

सोशल मीडिया का उद्भव और व्यापक प्रसार शिक्षित महिलाओं के जीवन और सामाजिक व्यवहार में महत्वपूर्ण परिवर्तन लेकर आया है। प्रस्तुत लेख में शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया के बहुआयामी प्रभाव का अध्ययन किया गया है, जिसमें उनके सामाजिक जागरूकता, आत्म-अभिव्यक्ति, पेशेवर नेटवर्किंग और सामुदायिक भागीदारी पर ध्यान केंद्रित किया गया है। वैश्विक स्तर पर 2025 तक लगभग 2.15 बिलियन महिलाएँ सक्रिय रूप से सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म जैसे व्हाट्सएप्प, फेसबुक, इन्स्टाग्राम, टिकटॉक और स्नेपचैट का उपयोग कर रही हैं, जो डिजिटल क्षेत्र में उनके प्रभाव और भागीदारी को दर्शाता है। भारत में लगभग 34.5% सोशल मीडिया उपयोगकर्ता महिलाएँ हैं, जो मुख्यतः इन्स्टाग्राम, व्हाट्सएप्प एवं यूट्यूब का उपयोग करती हैं। ये प्लेटफ़ॉर्म न केवल संवाद के साधन हैं, बल्कि ज्ञान साझा करने, कौशल विकास और सामाजिक सशक्तिकरण के अवसर भी प्रदान करते हैं। लेख यह दर्शाता है कि सोशल मीडिया महिलाओं को पारंपरिक सामाजिक सीमाओं को चुनौती देने, अपने सामाजिक नेटवर्क का विस्तार करने और शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक मुद्दों पर सक्रिय संवाद में भाग लेने का अवसर देता है। ऑनलाइन समुदाय, पेशेवर समूह और ज्ञान साझा करने वाले मंच सहयोग, मार्गदर्शन और सामाजिक समर्थन के अवसर प्रदान करते हैं, जिससे महिलाओं की निर्णय क्षमता और सामाजिक सक्रियता बढ़ती है। हालांकि, डिजिटल असमानता, गोपनीयता संबंधी चिंताएँ, साइबरबुलिंग और मानसिक तनाव जैसी चुनौतियाँ भी स्पष्ट रूप से देखी जा रही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि सोशल मीडिया शिक्षित महिलाओं के सामाजिक और व्यक्तिगत विकास के लिए एक महत्वपूर्ण साधन बन चुका है, जो उन्हें सशक्तिकरण, जागरूकता और समाज में सक्रिय भागीदारी के अवसर प्रदान करता है। डिजिटल साक्षरता, लैंगिक समावेशी नीतियाँ और सुरक्षित ऑनलाइन वातावरण इस प्रभाव को और मजबूत कर सकते हैं।

***मुख्य शब्द**: शिक्षित महिलाएँ, सोशल मीडिया, सामाजिक सशक्तिकरण, डिजिटल भागीदारी, लैंगिक समानता*

भूमिका

मानव समाज के विकास में महिलाओं की भूमिका सदैव आधारभूत और निर्णायक रही है। वे केवल परिवार की संरचना और दैनिक जीवन की निरंतरता का केंद्र नहीं हैं, बल्कि सामाजिक मूल्यों, सांस्कृतिक परंपराओं और सामुदायिक संबंधों को आगे बढ़ाने वाली महत्वपूर्ण धुरी भी हैं। इतिहास के विभिन्न चरणों में महिलाओं ने परिस्थितियों की कठोरता और सामाजिक प्रतिबंधों के बावजूद अपने अस्तित्व, क्षमता और रचनात्मकता को निरंतर सिद्ध किया है। महिलाओं का जीवन अनुभव बहुआयामी होता है, जिसमें भावनात्मक संवेदनशीलता, सामाजिक उत्तरदायित्व और मानवीय संबंधों की गहराई एक विशिष्ट संतुलन के साथ उपस्थित होती है। वे परिवार, समुदाय और व्यापक समाज में अपने योगदान के माध्यम से स्थिरता और सामंजस्य का निर्माण करती हैं। शिक्षा और जागरूकता बढ़ने के साथ महिलाओं की दृष्टि और व्यापक हुई है, जिससे वे न केवल अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को आकार देती हैं बल्कि समाज में न्याय, समानता और मानवता के मूल्यों को आगे बढ़ाने में भी सक्रिय भूमिका निभाती हैं। सामाजिक संरचना में महिलाओं का स्थान केवल उनकी जैविक भूमिका से निर्धारित नहीं होता; यह उनके ज्ञान, कौशल, निर्णयक्षमता और जीवन अनुभवों से भी निर्मित होता है। उनकी सहभागिता परिवार से लेकर सामाजिक संस्थाओं तक, और सांस्कृतिक परंपराओं से लेकर आर्थिक क्रियाकलापों तक विस्तारित रहती है। इसी बहुआयामी भागीदारी के कारण महिलाएं समाज की निरंतरता, परिवर्तन और प्रगति का अभिन्न अंग मानी जाती हैं। इस

प्रकार, महिलाएं समाज की वह शक्ति हैं, जो मानव संबंधों में संवेदनशीलता, सहयोग, संतुलन और नैतिकता का संचार करती हैं, और समय के साथ बदलती परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को पुनर्गठित करते हुए समाज को नए दिशा-निर्देश प्रदान करती हैं।

भारतीय समाज में शिक्षित महिलाओं की भूमिका निरंतर बदलती हुई सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक गतिशीलताओं के बीच विकसित होती रही है। पिछले एक दशक में सोशल मीडिया का तीव्र विस्तार इस परिवर्तन को और अधिक जटिल तथा व्यापक बनाता है। डिजिटल मंच अब केवल मनोरंजन या संचार के साधन नहीं रहे; वे ज्ञान, आत्म-अभिव्यक्ति, सामाजिक भागीदारी और पेशेवर उन्नति के महत्वपूर्ण स्थल बन चुके हैं। शिक्षित महिलाओं के लिए यह डिजिटल संसार नए अवसरों और नई चुनौतियों दोनों का द्वार खोलता है। सोशल मीडिया ने शिक्षित महिलाओं को अपनी आवाज को व्यापक स्तर पर व्यक्त करने, सामाजिक मुद्दों पर सक्रिय भूमिका निभाने और विविध समुदायों से जुड़ने का एक सहज माध्यम प्रदान किया है। इन प्लेटफ़ॉर्मों के माध्यम से वे अपने अनुभव साझा कर सकती हैं, समान विचारधारा वाले समूहों से सहयोग प्राप्त कर सकती हैं और सामाजिक-आर्थिक अवसरों के नए रूपों तक पहुँच बना सकती हैं। इस प्रकार सोशल मीडिया उनकी सामाजिक उपस्थितियों को बहुआयामी बनाता है और उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक दृश्यता प्रदान करता है।

इसके समानांतर, यह भी सत्य है कि डिजिटल मंचों की संरचना और उपयोग से उत्पन्न कुछ प्रभाव उनके सामाजिक अनुभवों को चुनौतीपूर्ण बना देते हैं। तुलना की संस्कृति, आदर्श छवि गढ़ने का दबाव, ऑनलाइन आलोचना या लैंगिक पूर्वाग्रह कई बार उनकी आत्मविश्वास, मानसिक संतुलन और सामाजिक स्वतंत्रता को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार सोशल मीडिया एक ऐसा क्षेत्र बन जाता है, जहाँ सशक्तिकरण और सामाजिक दबाव दोनों साथ-साथ सक्रिय रहते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो सोशल मीडिया शिक्षित महिलाओं की पहचान, उनके सामाजिक संबंधों और उनकी भूमिका के बारे में समाज की धारणा को पुनर्संयोजित करता है। यह केवल व्यक्तिगत अनुभवों तक सीमित नहीं रहता, बल्कि व्यापक सामाजिक धारणाओं, शक्ति-संबंधों और सांस्कृतिक मानदंडों को भी प्रभावित करता है। इसलिए सोशल मीडिया और शिक्षित महिलाओं के बीच संबंध को समझना समकालीन समाज की बदलती संरचना को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

वैश्विक एवं भारतीय महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति

विश्व स्तर पर महिलाओं की शिक्षा संबंधी स्थिति सामाजिक परिवर्तन, मानव विकास और लैंगिक समानता का एक महत्वपूर्ण संकेतक मानी जाती है। शिक्षा केवल ज्ञान प्रदान करने वाली प्रणाली नहीं है, बल्कि यह सामाजिक गतिशीलता, आत्मनिर्णय, और सामुदायिक प्रगति के लिए एक सशक्त माध्यम के रूप में कार्य करती है। इसलिए महिलाओं की शैक्षणिक उपलब्धियों, अवसरों और चुनौतियों को समझना किसी भी समाज की समग्र प्रगति को समझने के लिए अपरिहार्य है। वैश्विक और भारतीय दोनों संदर्भों में महिलाओं की शिक्षा का परिदृश्य उल्लेखनीय उपलब्धियों और स्थायी चुनौतियों के मिश्रण के रूप में सामने आता है। वैश्विक स्तर पर पिछले तीन दशकों में महिला शिक्षा में हुए सुधार अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहे हैं। यूनेस्को के नवीनतम अनुमानों के अनुसार, विश्व में लगभग 739 मिलियन वयस्क अभी भी अशिक्षित हैं, और इनमें दो-तिहाई से अधिक महिलाएँ हैं। यह आँकड़ा स्पष्ट करता है कि लैंगिक असमानता शिक्षा उपलब्धि के क्षेत्र में अब भी गहराई से मौजूद है। कई निम्न-आय वाले देशों में किशोरियों की शिक्षा अक्सर गरीबी, बाल विवाह, घरेलू श्रम और सांस्कृतिक प्रतिबंधों के कारण बाधित होती है। इसके बावजूद, दुनिया के कुछ क्षेत्रों में आशाजनक परिवर्तन सामने आए हैं।

भारत का परिप्रेक्ष्य इस वैश्विक परिदृश्य से जुड़ा हुआ है, परंतु अपनी विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण इसमें कई भिन्नताएँ भी दिखाई देती हैं। भारत में महिलाओं की शिक्षा का विकास एक लंबी और जटिल प्रक्रिया से होकर गुजरा है। 1951 में जहाँ देश की महिला साक्षरता दर केवल 8.86% थी, वहीं 2011 की जनगणना में यह बढ़कर 65.46% हो गई। यह सुधार निश्चित रूप से ऐतिहासिक उपलब्धि है। समकालीन आँकड़े स्थिति को और अधिक स्पष्ट करते हैं: आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण (2023–24) के अनुसार, भारत की समग्र साक्षरता दर 80.9%, पुरुष साक्षरता 87.2%, और महिला साक्षरता 74.6% है। यह अंतर बताता है कि प्रगति

के बावजूद लैंगिक शिक्षा-अंतर अब भी मौजूद है। भारत के राज्यों के भीतर भी उल्लेखनीय विषमता दिखाई देती है। उदाहरण के लिए, केरल में महिला साक्षरता अधिक है, जबकि कुछ राज्यों जैसे बिहार, राजस्थान, झारखंड और उत्तर प्रदेश में अपेक्षाकृत कम है। यह अंतर केवल सांख्यिकीय विभाजन नहीं है यह दर्शाता है कि सामाजिक-आर्थिक अवसरों, भौगोलिक परिस्थितियों, सांस्कृतिक दृष्टिकोणों और नीतिगत प्रभावशीलता ने महिला शिक्षा को अलग-अलग रूपों में प्रभावित किया है।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारत में लड़कियों का प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर नामांकन पिछले वर्षों में तेजी से बढ़ा है। सरकारी रिपोर्टों के अनुसार, प्राथमिक स्तर एवं माध्यमिक स्तर पर लड़कियों का सकल नामांकन अनुपात बढ़ा है। यह सुधार 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ', सर्व शिक्षा अभियान, मध्याह्न-भोजन योजना, साइकिल वितरण योजनाएँ और छात्रवृत्ति कार्यक्रमों जैसी नीतियों का प्रत्यक्ष परिणाम है। परंतु उच्च शिक्षा के स्तर पर यह प्रगति रुक जाती है। अनेक क्षेत्रों में सामाजिक बाधाएँ, आर्थिक बोझ, विवाह-दबाव और सुरक्षा संबंधी चिंताएँ लड़कियों को उच्च शिक्षा से दूर कर देती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की स्थिति विशेष ध्यान देने योग्य है। ग्रामीण भारत में महिला साक्षरता दर, शहरी क्षेत्रों की तुलना में औसतन 15–20 प्रतिशत कम पाई जाती है। इसके पीछे कई कारक कार्य करते हैं जैसे विद्यालयों की दूरी, परिवहन की कमी, परिवार की आर्थिक प्राथमिकताएँ, घरेलू कार्यभार, तथा शिक्षा के प्रति पारंपरिक धारणाएँ। विशेषकर दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक समुदायों की महिलाओं की शिक्षा-स्थिति में विषमताएँ अधिक स्पष्ट दिखाई देती हैं। इन वर्गों की लड़कियों के पास न तो गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की नियमित उपलब्धता होती है और न ही सामाजिक-सांस्कृतिक प्रोत्साहन।

भारत में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी मिश्रित तस्वीर उभरती है। विश्वविद्यालयों में महिलाओं का प्रवेश पिछले कुछ वर्षों में बढ़ा है और अब कई विषयों जैसे कला, शिक्षा, चिकित्सा में महिला छात्राओं का अनुपात 50% से अधिक तक पहुँच चुका है। फिर भी, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, इंजीनियरिंग और गणित जैसे क्षेत्रों में उनकी उपस्थिति अभी भी सीमित है। यूनेस्को की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में विज्ञान अनुसंधान में कार्यरत महिलाओं का अनुपात लगभग 14% है, जो वैश्विक औसत से काफी नीचे है। इससे यह संकेत मिलता है कि उच्च शिक्षा के कुछ क्षेत्रों में लैंगिक अंतर अब भी गहराई से मौजूद है। महिला शिक्षा का सामाजिक प्रभाव अत्यंत व्यापक है। अनेक अध्ययनों से स्पष्ट हुआ है कि जब महिलाएँ शिक्षित होती हैं, तो उनका आत्मविश्वास बढ़ता है, निर्णय-क्षमता मजबूत होती है और वे परिवार के स्वास्थ्य, पोषण, और आर्थिक स्थिरता में अधिक सकारात्मक भूमिका निभाती हैं। शिक्षित महिलाओं के बच्चों की शैक्षिक उपलब्धि और स्वास्थ्य न्यून शिक्षित परिवारों की तुलना में बेहतर पाए गए हैं। इसके अलावा, महिला शिक्षा में वृद्धि से बाल विवाह की दर में कमी, प्रजनन दर में गिरावट और महिलाओं के श्रम-बल में भागीदारी में वृद्धि देखी गई है। इन उपलब्धियों और चुनौतियों का सम्मिलित विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति किसी भी समाज के विकास का सटीक दर्पण है। वैश्विक स्तर पर सुधार के बावजूद, बड़ी संख्या में महिलाएँ शिक्षा के अवसरों से वंचित हैं, जबकि भारत में प्रगति के बाद भी सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिबंध, आर्थिक असमानताएँ और क्षेत्रीय विषमताएँ शिक्षा की समानता को बाधित करती हैं। इसलिए नीति-निर्माताओं, समाजशास्त्रियों, शिक्षाविदों और समुदायों को यह स्वीकार करना होगा कि महिलाओं की शिक्षा केवल व्यक्तिगत उन्नति का माध्यम नहीं है; यह राष्ट्र की सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति की आधारशिला है।

सोशल मीडिया का उद्भव एवं विकास

समकालीन संचार-प्रणालियों में सोशल मीडिया का उद्भव एक अत्यंत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और तकनीकी मोड़ के रूप में देखा जाता है। इसके विकास की प्रक्रिया केवल इंटरनेट के प्रसार का परिणाम नहीं थी, बल्कि यह वैश्विक सामाजिक संरचनाओं, संचार व्यवहारों और तकनीकी नवाचारों के संयुक्त प्रभाव से विकसित हुआ एक व्यापक सांस्कृतिक परिवर्तन था। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब डिजिटल तकनीक ने गति पकड़नी शुरू की, तब मानव संचार के पारंपरिक माध्यम पत्र, रेडियो, टेलीफोन और टेलीविज़न धीरे-धीरे ऐसे परिवेश की ओर बढ़ने लगे, जहाँ संवाद अधिक त्वरित, बहुआयामी और परस्पर-सक्रिय होने लगा। इसी पृष्ठभूमि से सोशल मीडिया

की वैचारिक नींव निर्मित हुई। सोशल मीडिया के प्रारंभिक रूप 1980 के दशक में बुलेटिन बोर्ड सिस्टम और यूज़नेट जैसे प्लेटफ़ॉर्मों के माध्यम से दिखाई देने लगे, जहाँ उपयोगकर्ता पहली बार डिजिटल समुदायों में संवाद स्थापित कर रहे थे। यह काल ऑनलाइन सामाजिक संपर्क का प्रारंभिक गठन काल माना जाता है। 1990 के दशक में इंटरनेट के विस्तार और वर्ल्ड वाइड वेब के विकास ने संचार प्रणालियों को एक नई दिशा प्रदान की। इस दशक में सिक्सडिग्री (1997) जैसे प्लेटफ़ॉर्मों ने पहली बार आधुनिक सोशल नेटवर्किंग की अवधारणा प्रोफ़ाइल निर्माण, मित्र सूची और नेटवर्क इंटरैक्शन को साकार किया। हालांकि यह आरंभिक प्रयास व्यापक सफलता प्राप्त नहीं कर पाए, लेकिन इन्होंने सोशल मीडिया के भावी स्वरूप के लिए आधार तैयार कर दिया।

21वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में सोशल मीडिया ने नई गति प्राप्त की। फ्रेंडस्टर (2002), मायस्पेस (2003) और उसके पश्चात फेसबुक (2004) ने वैश्विक स्तर पर सामाजिक संबंधों, पहचान-निर्माण और संवाद के तरीकों को पूरी तरह बदल दिया। इन प्लेटफ़ॉर्मों ने संवाद को निजी और सामूहिक दोनों स्तरों पर अधिक सहज, दृश्यात्मक और गतिशील बनाया। उपयोगकर्ताओं को अपनी पहचान प्रस्तुत करने, नेटवर्क बनाने, विचार साझा करने और सामाजिक संवाद में भागीदारी का एक नया माध्यम प्राप्त हुआ। यह परिवर्तन केवल तकनीक का परिणाम नहीं था; यह सामाजिकता के नए रूप का उद्भव था—एक ऐसा रूप जो समय और स्थान की सीमाओं को पार कर सकता था। इसके बाद ट्विटर (2006) जैसे माइक्रो-ब्लॉगिंग प्लेटफ़ॉर्म, यूट्यूब (2005) जैसे वीडियो-साझाकरण मंच, और इन्स्टाग्राम (2010) जैसे दृश्य-आधारित नेटवर्क सामने आए, जिन्होंने अभिव्यक्ति, सूचना-वितरण और सांस्कृतिक विनिमय के नए प्रतिमान स्थापित किए। इन माध्यमों ने सामाजिक जीवन की गति और विस्तार को अभूतपूर्व स्तर तक बढ़ाया। विचार, भावनाएँ, रचनात्मकता और ज्ञान—अब केवल एक क्लिक की दूरी पर उपलब्ध थे। 2010 के दशक के उत्तरार्ध में व्हाट्सएप्प, स्नेपचैट और टिकटॉक जैसे प्लेटफ़ॉर्मों ने सोशल मीडिया के स्वरूप को और अधिक विविध और व्यापक बना दिया, जिससे संचार केवल संदेशों तक सीमित न रहकर बहु-रूपीय हो गया जिसमें पाठ, ध्वनि, चित्र, वीडियो और त्वरित प्रतिक्रियाएँ सम्मिलित थीं।

सामाजिक विज्ञान के दृष्टिकोण से देखा जाए तो सोशल मीडिया का विकास केवल एक तकनीकी यात्रा नहीं है; यह मानव व्यवहार, सामाजिक संरचनाओं, शक्ति-संबंधों और सांस्कृतिक प्रथाओं में आए गहन परिवर्तनों का प्रतिबिंब है। यह मंच उपयोगकर्ताओं को स्वयं के विचारों और अनुभवों को साझा करने, सामाजिक नेटवर्कों का विस्तार करने, और सामूहिक चर्चाओं में भाग लेने का अवसर प्रदान करता है। इसके कारण समाज में ज्ञान-साझाकरण, सामाजिक जागरूकता, सक्रिय नागरिकता और सांस्कृतिक पहचान के नए आयाम विकसित हुए हैं। इस प्रकार, सोशल मीडिया का उद्भव और विकास एक दीर्घकालिक सामाजिक-तकनीकी प्रक्रिया है, जिसने मानव संचार को पुनर्परिभाषित किया है। यह केवल तकनीकी नवाचार का परिणाम नहीं, बल्कि बदलते सामाजिक मूल्य, वैश्विक संपर्कों का विस्तार और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के नए अवसरों का समन्वित प्रतिफल है। आज सोशल मीडिया आधुनिक समाज के ताने-बाने का अभिन्न हिस्सा बन चुका है, और इसका प्रभाव जीवन के लगभग हर क्षेत्र व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक तक विस्तृत हो चुका है।

सोशल मीडिया का समाज पर प्रभाव

आधुनिक सामाजिक जीवन में सोशल मीडिया एक ऐसी शक्ति बनकर उभरा है, जिसने मानवीय व्यवहार, संपर्क के तौर-तरीकों और सामुदायिक संरचना को नई दिशा दी है। यह केवल तकनीकी बदलाव का परिणाम नहीं है, बल्कि समाज की मानसिकता, विचार प्रक्रिया और सांस्कृतिक मानकों पर गहरी छाप छोड़ने वाला माध्यम बन चुका है। इसके प्रसार ने मानवीय संबंधों, संवाद शैली और सामाजिक व्यवस्था को पुनर्गठित किया है, जिससे परंपरागत संरचनाएँ नए स्वरूप में परिवर्तित हो रही हैं। सबसे पहले, सामाजिक संबंधों के स्वरूप में आए परिवर्तन उल्लेखनीय हैं। पहले बातचीत प्रत्यक्ष मुलाकात पर आधारित होती थी, जिसमें भावनात्मक गहराई और व्यक्तिगत जुड़ाव स्पष्ट होते थे। अब संचार अधिक त्वरित, व्यापक और संक्षिप्त हो गया है। लोग कई परिचितों से जुड़े रहते हैं, लेकिन इन

रिश्तों की स्थायित्व और गहराई अक्सर सतही रह जाती है। फिर भी अलग-अलग क्षेत्रों और संस्कृतियों के लोग सरलता से संवाद स्थापित कर पा रहे हैं, जिससे वैश्विक समझ और परस्पर सहयोग को बढ़ावा मिल रहा है।

सामाजिक संरचना पर प्रभाव विचारधारा, जनमत और ज्ञान के प्रसार के स्तर पर भी दिखाई देता है। पारंपरिक सूचना माध्यम जहाँ सीमित दायरे में काम करते थे, वहीं अब सामान्य व्यक्ति भी सूचना प्रसारित कर सकता है। इससे ज्ञान-साझाकरण का दायरा विस्तृत हुआ है, परंतु असत्य सामग्री और भ्रम फैलाने वाली सूचनाओं का प्रसार भी बढ़ा है। इससे समाज में संशय, वैचारिक टकराव और विश्वसनीयता संबंधी संकट उत्पन्न होते हैं। कई बार लोग केवल अपनी पसंद के विचारों तक सीमित रह जाते हैं, जिससे सोच का दायरा संकुचित हो जाता है। संस्कृतिक जीवन में भी व्यापक बदलाव देखने को मिलते हैं। फैशन, भाषा, मनोरंजन, जीवन शैली और मूल्य-धारणाएँ नई दिशा ग्रहण कर रही हैं। विशेष रूप से युवा वर्ग की पहचान और उनके सामाजिक अनुभवों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे कई संस्कृतियों को अभिव्यक्ति के नए मंच मिले हैं, लेकिन तुलना, आत्म-प्रदर्शन और उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों में वृद्धि भी देखी जा रही है। राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में भी प्रभाव स्पष्ट है। विभिन्न संगठन, समूह और नागरिक पहल इसी माध्यम के सहारे अभियान चलाते हैं, जागरूकता बढ़ाते हैं और सहभागिता को प्रोत्साहित करते हैं। इससे आम नागरिकों को सार्वजनिक मामलों में आवाज़ मिली है, तथा कई सामाजिक आंदोलन इसी मार्ग से गति पकड़ते हैं। इसके विपरीत भ्रामक सामग्री, उत्तेजक संदेश और घृणात्मक वक्तव्य जैसी चुनौतियाँ भी उभर रही हैं, जो सामाजिक सद्भाव को प्रभावित कर सकती हैं। मानसिक जीवन पर भी इसका असर गंभीर माना जा रहा है। निरंतर तुलना, मान्यता की इच्छा और आत्म-प्रदर्शन के दबाव से तनाव, चिंता और असुरक्षा बढ़ सकती है। अनेक शोध संकेत करते हैं कि आत्म-छवि और आत्मसम्मान पर इसका प्रभाव विशेष रूप से किशोरों और युवा महिलाओं में अधिक देखा गया है। संपूर्णता में देखा जाए तो सोशल मीडिया समाज के लिए संभावनाओं और चुनौतियों दोनों का स्रोत है। यह संवाद, अभिव्यक्ति और ज्ञान-साझाकरण के मार्ग खोलता है, परंतु साथ ही सावधानी, विवेक और जिम्मेदार उपयोग की आवश्यकता भी उत्पन्न करता है। समाज इन्हीं पहलुओं के संतुलन के माध्यम से इसके लाभों को मजबूत और हानिकारक प्रभावों को नियंत्रित कर सकता है।

सम्बंधित साहित्य की समीक्षा

गोपाल कृष्ण अग्रवाल, जे. एस. राठौर (2024), लेखक बताते हैं कि सोशल मीडिया ने महिलाओं को सूचना, नेटवर्क और आत्म-अभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करके उनके सशक्तिकरण और सामाजिक जागरूकता को बढ़ाया है। वहीं, मास मीडिया और डिजिटल प्लेटफ़ॉर्मों में महिलाओं का यथार्थ प्रतिनिधित्व अक्सर सीमित या वस्तुपरक होता है, जिससे शोषण और सामाजिक दबाव जैसी चुनौतियाँ उत्पन्न होती हैं। लेखक स्पष्ट करते हैं कि सोशल मीडिया महिलाओं के लिए सशक्तिकरण और चुनौती दोनों का साधन है, और लैंगिक असमानताओं और महिला अनुभवों को समझने के लिए यह अत्यंत प्रासंगिक दृष्टिकोण प्रदान करती है।

दिलीप मंडल, गीता यादव (2021), लेखक के अनुसार सोशल मीडिया ने महिलाओं को अपनी आवाज़, विचार और पहचान व्यक्त करने के अवसर दिए हैं, जिससे उनका सशक्तिकरण और सामाजिक जागरूकता बढ़ी है। वहीं, प्लेटफ़ॉर्म की संरचनात्मक कमियाँ, डेटा असुरक्षा, एल्गोरिदमिक नियंत्रण और सामाजिक-आर्थिक असमानताएँ महिलाओं की वास्तविक भागीदारी और स्वतंत्रता को सीमित करती हैं। लेखक चेतावनी देते हैं कि सोशल मीडिया केवल संवाद और सूचना का माध्यम नहीं, बल्कि शक्ति, नियंत्रण और सामाजिक संरचनाओं का हिस्सा भी बन चुका है।

सविता भदौरिया (2025), लेखिका ने सोशल मीडिया के महिलाओं पर पड़ने वाले प्रभाव का समग्र विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यह दर्शाता है कि डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म महिलाओं को संवाद, सामाजिक भागीदारी और आत्म-अभिव्यक्ति के नए अवसर प्रदान करते हैं, जिससे उनका आत्मविश्वास और सामाजिक जागरूकता बढ़ती है। ऑनलाइन नेटवर्किंग और पेशेवर समूह महिलाओं के व्यक्तिगत और पेशेवर विकास में सहायक साबित होते हैं। हालांकि, महिलाओं का ऑनलाइन प्रतिनिधित्व अक्सर सीमित और वस्तुपरक होता है,

जिससे शोषण, भेदभाव और मानसिक दबाव जैसी चुनौतियाँ उत्पन्न होती हैं। लेखिका ने सोशल मीडिया के सकारात्मक और नकारात्मक आयामों को संतुलित दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

संतोष कुमार (2025), वर्तमान सूचना प्रौद्योगिकी के युग में सोशल मीडिया दैनिक जीवन का अभिन्न हिस्सा बन गया है और समाज के प्रत्येक वर्ग को गहराई से प्रभावित कर रहा है। भारतीय महिलाओं के सशक्तिकरण में सोशल मीडिया ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, क्योंकि यह लिंग-आधारित मान्यताओं, रूढ़ियों और सामाजिक असमानताओं को चुनौती देने का मंच प्रदान करता है। डिजिटल प्लेटफ़ॉर्मों के माध्यम से महिलाएँ सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर संवाद कर रही हैं, आर्थिक गतिविधियों में भाग ले रही हैं और आधुनिक जीवन शैली एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान में सक्रिय हैं। यह शोध पत्र सोशल मीडिया के माध्यम से महिलाओं में जागरूकता, सक्रियता और समानता को बढ़ावा देने तथा संबंधित चुनौतियों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यदि इसका सही दिशा में उपयोग किया जाए, तो सोशल मीडिया डिजिटल साक्षरता और समावेशी समाज के निर्माण में एक सशक्त साधन बन सकता है।

उद्देश्य

1. शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया के प्रभाव का अध्ययन करना।

उपकल्पना

1. शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया का प्रभाव पड़ा है।

शोध विधि

प्रस्तुत अध्ययन में केवल द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है। जानकारी और निष्कर्ष विभिन्न शोध पत्र, पुस्तकें, सरकारी रिपोर्ट, जर्नल लेख, डिजिटल डेटाबेस और विश्वसनीय ऑनलाइन स्रोतों से एकत्रित किए गए। इन स्रोतों के माध्यम से शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया के प्रभाव का विश्लेषण किया गया और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से व्याख्या की गई। डेटा का विश्लेषण गुणात्मक दृष्टिकोण से किया गया, ताकि विषय की गहन समझ और निष्कर्षों की वैधता सुनिश्चित की जा सके।

सोशल मीडिया का शिक्षित महिलाओं पर प्रभाव

सोशल मीडिया ने शिक्षित महिलाओं के जीवन और सामाजिक व्यवहार पर गहरा और बहुआयामी प्रभाव डाला है। यह केवल संवाद का माध्यम नहीं रह गया है, बल्कि उनके सामाजिक व्यवहार, मानसिक दृष्टिकोण, निर्णय लेने की क्षमता, करियर और व्यक्तिगत विकास का एक निर्णायक साधन बन चुका है। वैश्विक स्तर पर 2025 के आँकड़ों के अनुसार लगभग 2.15 बिलियन महिलाएँ सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म का उपयोग कर रही हैं, जिसमें व्हाट्सएप्प पर 46-48%, फेसबुक पर 43% और इन्स्टाग्राम पर लगभग 49% महिलाएँ सक्रिय हैं। यह आंकड़ा स्पष्ट करता है कि महिलाएँ डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म के माध्यम से केवल संवाद नहीं करतीं, बल्कि अपने विचार, अनुभव और सामाजिक पहचान को साझा करके समाज में अपनी उपस्थिति और भूमिका को प्रभावी ढंग से स्थापित कर रही हैं। भारत में भी सोशल मीडिया का प्रभाव तेजी से बढ़ा है। 2025 के आंकड़ों के अनुसार भारत में लगभग 34.5% सोशल मीडिया उपयोगकर्ता महिलाएँ थीं, और वे मुख्य रूप से इंस्टाग्राम, व्हाट्सएप और यूट्यूब का उपयोग करती हैं। उनका डिजिटल व्यवहार शिक्षा, करियर, स्वास्थ्य, सामाजिक जागरूकता और व्यक्तिगत रुचियों के इर्द-गिर्द केंद्रित रहता है। यह दर्शाता है कि सोशल मीडिया ने महिलाओं को पारंपरिक सामाजिक और भौगोलिक सीमाओं से बाहर निकलकर सीखने, संवाद करने और समाज में सक्रिय भूमिका निभाने के अवसर प्रदान किए हैं।

शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया का प्रभाव कई सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों में देखा जा सकता है। सबसे पहले, यह सामाजिक जागरूकता और सक्रियता को बढ़ावा देता है। महिलाएँ ऑनलाइन मंचों के माध्यम से अपने अधिकारों, शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक मुद्दों पर जानकारी प्राप्त करती हैं, इसे साझा करती हैं और अपने समुदायों में जागरूकता फैलाती हैं। इसके परिणामस्वरूप,

समाज में उनकी सोच और दृष्टिकोण की स्वीकार्यता बढ़ती है और सामाजिक नीतियों और कार्यक्रमों में उनकी भागीदारी भी प्रभावशाली बनती है। इसके साथ ही सोशल मीडिया महिलाओं के लिए अपनी सामाजिक पहचान और आत्म-अभिव्यक्ति का मंच बन गया है। प्रोफ़ाइल, पोस्ट, ब्लॉग और वीडियो के माध्यम से महिलाएँ अपने विचार, उपलब्धियाँ और रुचियाँ साझा करके पारंपरिक सामाजिक भूमिकाओं से परे अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित करती हैं। इसके अलावा, सोशल मीडिया महिलाओं को समान विचारधारा वाले समूहों, पेशेवर नेटवर्क और ऑनलाइन समुदायों के माध्यम से सहयोग और ज्ञान-साझाकरण के अवसर प्रदान करता है। इससे न केवल पेशेवर और शैक्षिक विकास बढ़ता है, बल्कि सामाजिक समर्थन और संसाधनों तक उनकी पहुँच भी सुदृढ़ होती है। हालांकि, इसका प्रभाव केवल सकारात्मक नहीं है। लगातार ऑनलाइन उपस्थिति, तुलना संस्कृति और 'लाइक्स' या 'फॉलोअर्स' पर आधारित मान्यता की आवश्यकता मानसिक दबाव, चिंता और असुरक्षा को बढ़ा सकती है। इसके अलावा, फर्जी समाचार, ट्रोलिंग, साइबरबुलिंग और अफवाहें महिलाओं के दृष्टिकोण और निर्णय प्रक्रिया पर नकारात्मक प्रभाव डाल सकती हैं।

ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों की महिलाएँ डिजिटल और आर्थिक असमानताओं के कारण सोशल मीडिया तक सीमित पहुँच रखती हैं। इसके बावजूद, शहरी और शिक्षित महिलाएँ प्लेटफ़ॉर्म का उपयोग सक्रिय रूप से कर रही हैं, जिससे उनके करियर, सामाजिक जागरूकता और व्यक्तिगत विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिखाई देता है। सोशल मीडिया ने महिलाओं को पारंपरिक सांस्कृतिक ढाँचों से परे जाकर अपनी पहचान, रुचियाँ और विचार व्यक्त करने का अवसर दिया है। यह पारंपरिक सीमाओं को चुनौती देता है, महिलाओं को आत्मनिर्भर और जागरूक बनाता है और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के नए अवसर प्रदान करता है।

निष्कर्ष

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सोशल मीडिया ने शिक्षित महिलाओं के जीवन और समाज में उनकी भूमिका को गहराई से प्रभावित किया है। यह केवल संवाद या जानकारी साझा करने का साधन नहीं रह गया है, बल्कि उनके सामाजिक जागरूकता, आत्म-अभिव्यक्ति, निर्णय क्षमता और नेतृत्व कौशल को विकसित करने का एक प्रभावशाली प्लेटफ़ॉर्म बन गया है। वैश्विक और भारतीय संदर्भों में आंकड़े यह दर्शाते हैं कि महिलाएँ सोशल मीडिया का उपयोग शिक्षा, करियर, स्वास्थ्य, सामाजिक जागरूकता और व्यक्तिगत विकास के लिए कर रही हैं, जिससे उनका सामाजिक दृष्टिकोण और सक्रिय भागीदारी लगातार विस्तारित हो रही है। शिक्षित महिलाएँ ऑनलाइन प्लेटफ़ॉर्म के माध्यम से अपने विचार, अनुभव और उपलब्धियाँ साझा करके पारंपरिक सामाजिक सीमाओं और लैंगिक बाधाओं को चुनौती दे रही हैं। साथ ही, ये प्लेटफ़ॉर्म उन्हें सामाजिक समर्थन, नेटवर्किंग और ज्ञान-साझाकरण के अवसर भी प्रदान करते हैं, जो उनके व्यक्तिगत और पेशेवर विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। इससे उनकी सामाजिक पहचान सशक्त होती है और वे समुदाय में अधिक प्रभावी भूमिका निभाने में सक्षम बनती हैं। हालाँकि, सोशल मीडिया के उपयोग के साथ चुनौतियाँ भी जुड़ी हैं, जैसे मानसिक दबाव, डिजिटल असमानताएँ, गोपनीयता व सुरक्षा संबंधी जोखिम, और सामाजिक अपेक्षाओं का दबाव। इन सीमाओं के बावजूद, यह स्पष्ट है कि सोशल मीडिया ने शिक्षित महिलाओं के सामाजिक, सांस्कृतिक और व्यक्तिगत अनुभवों को बहुआयामी और स्थायी रूप से प्रभावित किया है। अतः सोशल मीडिया शिक्षित महिलाओं के सशक्तिकरण, सामाजिक भागीदारी और व्यक्तिगत विकास का एक महत्वपूर्ण साधन बन चुका है। यह उन्हें नए विचार, अवसर और नेटवर्क प्रदान करता है, जिससे वे न केवल अपने जीवन को समृद्ध बना रही हैं, बल्कि समाज में सकारात्मक परिवर्तन लाने में भी सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। सामाजिक नीतियाँ, डिजिटल समावेशन और लैंगिक न्याय की पहलें इस प्रभाव को और मजबूत कर सकती हैं, जिससे महिलाओं की स्थिति में स्थायी सुधार और समाज में समानता को बढ़ावा मिल सके।

References-

1. प्रगति (2022), टुवर्ड्स इक्वलिटी: मल्टीदडीस्सिप्लिन्री पर्सपेक्टिव ऑन वीमेन एम्पावरमेंट, कृष्णा पब्लिशिंग हाउस, गुजरात, पृ.सं 82
2. आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण (2023–24)
3. ठाकुर प्रदीप (2023), भारत में डिजिटल क्रांति, प्रभात प्रकाशन, न्यू दिल्ली, पृ.सं.-02-07
4. मांगलिक, रोहित (2024), सोशल मीडिया और सामाजिक विकास की अवधारणा, एडुगोरिल्ला प्रकाशन, उत्तर प्रदेश, पृ.सं.-50-53
5. अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, राठौर जे. एस. (2024), लिंग एवं समाज (सिधान्त तथा व्यवहार में), एसबीपीडी पब्लिशिंग हाउस, न्यू दिल्ली, पृ.सं-198-199
6. मंडल दिलीप, यादव गीता (2021), अनसोशल नेटवर्क, राजकमल प्रकाशन, न्यू दिल्ली, पृ.सं-75-81
7. भदौरिया, सविता (2025), महिला सशक्तिकरण में सोशल मीडिया की भूमिका: भारतीय संदर्भ में, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एजुकेशन, मॉडर्न मैनेजमेंट, एप्लाइड साइंस और सोशल साइंस, खंड 07, संख्या 01(II), जनवरी-मार्च, 2025, पृष्ठ 73-76
8. https://prioridata.com/data/social-media-usage

JSECR, Vol. 11, No. 22, Jan.-June, 2025 ISSN : 2394-2878
Peer Reviewed Journal, Impact Factor: 9.0 (IIFS)

सुचना तकनीकी का युवाओं पर प्रभाव: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ. मिनाक्षी कुमारी रवि
सहायक प्राध्यापक-समाजशास्त्र विभाग
राम टहल चौधरी कॉलेज, ओरमांझी, राँची

सारांश

प्रस्तुत शोध लेख युवाओं पर सूचना तकनीकी के प्रभाव का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करता है। सूचना तकनीकी के विस्तार, जैसे स्मार्टफोन, इंटरनेट और डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म, ने युवाओं के जीवन में तेजी से बदलाव किया है एवं उनके शैक्षिक अवसर, सामाजिक सहभागिता, आर्थिक संभावनाएँ और दैनिक व्यवहार को प्रभावित किया है। अध्ययन मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है, जिसमें सरकारी रिपोर्ट, शोध पत्र, सर्वेक्षण और प्रासंगिक साहित्य का समग्र विश्लेषण शामिल है। अध्ययन के निष्कर्षों से प्रतीत होता है कि सूचना तकनीकी ने युवाओं को शैक्षिक अवसरों में वृद्धि, कौशल विकास, रोजगार और उद्यमिता के नए आयाम तथा सामाजिक जागरूकता प्रदान की है। वहीं, इसके नकारात्मक पहलू भी प्रकट हुए हैं, जैसे लत, मानसिक स्वास्थ्य जोखिम, साइबर अपराध और सामाजिक अलगाव इत्यादि। शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच तथा लिंग आधारित डिजिटल पहुँच में असमानताएँ भी स्पष्ट रूप से देखने को मिली हैं। साथ ही, यह लेख यह दर्शाता है कि सूचना तकनीकी युवाओं की सामाजिक संरचना, उपसंस्कृतियों और भागीदारी व्यवहार को बदल रही है। यह अध्ययन युवाओं और समाज पर सूचना तकनीकी के प्रभाव की समझ विकसित करने के लिए महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रदान करता है और डिजिटल युग में सामाजिक परिवर्तन का विस्तृत चित्र प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द:- *सूचना तकनीकी, युवा, डिजिटल विभाजन, समाजशास्त्रीय विश्लेषण, साइबर जोखिम*

भूमिका

सूचना तकनीकी का विकास औद्योगिक युग से डिजिटल युग की ओर बदलाव का प्रतीक है, जहाँ कंप्यूटर, इंटरनेट और संचार तंत्र के एकीकरण ने वैश्विक समाज की संरचना को गहराई से प्रभावित किया। बीते कुछ दशकों में डिजिटल उपकरणों की पहुँच जिस तीव्रता से बढ़ी है, उसने सूचना के प्रसार और उपयोग को अत्यंत सरल और त्वरित बना दिया है। यह विस्तार अब केवल तकनीकी उन्नति का संकेत नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पुनर्संरचना का आधार बन चुका है। युवाओं के संदर्भ में यह तकनीकी परिवर्तन विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि वे डिजिटल संस्कृति के सबसे सक्रिय निर्माता एवं उपभोक्ता दोनों हैं। शिक्षा से लेकर मनोरंजन और सामाजिक सहभागिता तक, सूचना तकनीकी ने युवाओं के अनुभवों को विस्तृत किया है और उनकी दैनिक गतिविधियों में गहरी छाप छोड़ी है। स्मार्टफोन, सोशल मीडिया और ऑनलाइन प्लेटफ़ॉर्मों के माध्यम से युवा न केवल नए कौशल अर्जित कर रहे हैं, बल्कि अपनी पहचान, अभिव्यक्ति और सामाजिक संबंधों को भी नव-निर्मित कर रहे हैं। युवा पीढ़ी का तकनीक के साथ संबंध केवल प्रयोग तक सीमित नहीं, बल्कि सामाजिक प्रक्रियाओं और सांस्कृतिक मान्यताओं को भी प्रभावित करता है। इसीलिए यह आवश्यक हो जाता है कि सूचना तकनीकी को एक सामाजिक घटना के रूप में समझा जाए, जो असमानताओं, अवसरों, शक्ति-संबंधों और सांस्कृतिक परिवर्तन को आकार देती है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण इस जटिल संबंध को समझने में मदद करता है और यह स्पष्ट करता है कि तकनीक समाज को किस प्रकार बदल रही है और युवा इसमें किस प्रकार भागीदारी कर रहे हैं।

सूचना तकनीकी आधुनिक समाज का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और व्यापक क्षेत्र है, जो सूचना के संग्रह, प्रसंस्करण, विश्लेषण और वितरण से जुड़ी तकनीकों और प्रक्रियाओं का समग्र अध्ययन करता है। यह केवल कंप्यूटर और इंटरनेट तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें हार्डवेयर, सॉफ्टवेयर, नेटवर्किंग, डेटाबेस प्रबंधन, क्लाउड कंप्यूटिंग, मोबाइल एप्लिकेशन और साइबर सुरक्षा जैसे विविध घटक

शामिल हैं। सरल शब्दों में कहा जाए तो सूचना तकनीकी वह विज्ञान और तकनीकी साधन है, जो तथ्य एवं सूचनाओं को डिजिटल रूप में सुरक्षित, व्यवस्थित, विश्लेषित और साझा करने की प्रक्रिया को संभव बनाता है, ताकि व्यक्तिगत, सामाजिक, शैक्षिक और व्यावसायिक गतिविधियाँ अधिक सटीक, तेज़ और प्रभावी ढंग से संचालित हो सकें। आज सूचना तकनीकी ने समाज के लगभग प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया है। शिक्षा में यह ऑनलाइन कक्षाओं, ई-लर्निंग प्लेटफ़ॉर्म और डिजिटल पुस्तकालयों के माध्यम से सीखने के नए अवसर प्रदान कर रही है। व्यवसाय और अर्थव्यवस्था में डिजिटल बैंकिंग, ई-कॉमर्स, तथ्य विश्लेषण ने संचालन की गति और दक्षता को बढ़ाया है। संचार के क्षेत्र में सोशल मीडिया, ई-मेल और क्लाउड आधारित मंच युवाओं और नागरिकों को तत्काल जानकारी और वैश्विक नेटवर्किंग की सुविधा प्रदान करते हैं। स्वास्थ्य सेवा में इलेक्ट्रॉनिक स्वास्थ्य रिकॉर्ड और टेलीमेडिसिन ने रोगी देखभाल और चिकित्सा निगरानी को अधिक प्रभावी बनाया है, वहीं सरकारी सेवाओं में ई-गवर्नेंस और डिजिटल पहचान नागरिकों को सुविधाजनक और पारदर्शी सेवाएँ उपलब्ध कराती हैं। सूचना तकनीकी का सबसे बड़ा योगदान यह है कि यह सूचना के आदान-प्रदान की गति और गुणवत्ता दोनों को बढ़ाती है, जिससे निर्णय लेने, समस्याओं का समाधान करने और नवाचार करने की क्षमता में वृद्धि होती है। इसके साथ ही, यह सामाजिक और आर्थिक अवसरों को समान रूप से उपलब्ध कराने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, क्योंकि डिजिटल पहुँच वाले लोग शिक्षा, रोजगार और अन्य संसाधनों तक बेहतर पहुँच प्राप्त कर सकते हैं। आज सूचना तकनीकी युवाओं के जीवन का अभिन्न हिस्सा बन चुकी है और यह न केवल उनके सामाजिक, शैक्षिक और व्यावसायिक अनुभवों को प्रभावित करती है, बल्कि उनके सोचने, सीखने और निर्णय लेने के ढाँचे को भी पुनर्परिभाषित कर रही है।

साहित्य समीक्षा

वृंदा सेनगुप्ता, के.पी. कुर्रे (2017), प्रस्तुत शोध-पत्र में लेखिका ने संचार क्रांति और उसके युवाओं पर प्रभाव का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अध्ययन से पता चलता है कि आज के युवा डिजिटल और मोबाइल संचार साधनों के व्यापक उपयोग से अपनी जीवन-शैली, मानसिकता और सामाजिक व्यवहार में गहरे परिवर्तन अनुभव कर रहे हैं। सूचना में थोड़ी भी देरी होने पर युवा बेचैनी और तनाव महसूस करते हैं, जिससे तत्काल प्रतिक्रिया और त्वरित सूचना की प्रवृत्ति बढ़ी है। युवा न केवल जानकारी ग्रहण कर रहे हैं, बल्कि उसे साझा करने, प्रसारित करने और नवाचार के रूप में प्रयोग करने में भी सक्रिय हैं। संचार क्रांति ने युवाओं की डिजिटल दक्षता, सामाजिक जागरूकता, नेटवर्किंग और उपसंस्कृतियों के निर्माण को बढ़ावा दिया है। कुल मिलाकर, संचार माध्यम उनके जीवन का अभिन्न हिस्सा बन चुके हैं और यह उनके सोचने, सीखने और निर्णय लेने की प्रक्रिया को गहराई से प्रभावित कर रहा है।

विमल अग्रवाल (2021), लेखक के अनुसार, सूचना तकनीकी और संचार युवाओं और समाज पर गहरा प्रभाव डाल रही है। लेखक सूचना को केवल तथ्य के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक प्रक्रिया और मानव व्यवहार को प्रभावित करने वाली शक्ति के रूप में देखते हैं। सूचना विस्फोट की अवधारणा के माध्यम से उन्होंने बताया है कि आज सूचना का उत्पादन और उपलब्धता इतनी तीव्र गति से बढ़ी है कि युवा वर्ग इसे तत्काल प्राप्त करने और साझा करने में पूरी तरह सक्रिय हो गया है। लेखक के अनुसार सूचना प्रौद्योगिकी वह प्रणाली है, जो सूचना के संग्रहण, प्रसंस्करण, विश्लेषण और वितरण को सक्षम बनाती है। यह न केवल शिक्षा, व्यवसाय और सरकारी सेवाओं में बदलाव लाती है, बल्कि सामाजिक जागरूकता, नवाचार और निर्णय लेने की क्षमता को भी बढ़ाती है। सूचना तकनीकी के कारक जैसे डिजिटल उपकरण, नेटवर्क, सॉफ्टवेयर और डेटा प्रबंधन समाज में अवसरों और डिजिटल पहुँच की भिन्नता को स्पष्ट करते हैं, जो ग्रामीण, नगरीय और जनजातीय समाजों में अलग-अलग प्रभाव डालते हैं। संचार की अवधारणा के संदर्भ में लेखक बताते हैं कि यह केवल संदेश का आदान-प्रदान नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और भावनात्मक संदर्भों में जानकारी का प्रभावी हस्तांतरण है। युवा वर्ग सोशल मीडिया और डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म के माध्यम से न केवल सूचना ग्रहण कर रहा है, बल्कि उसका प्रसार और नवाचार में भी योगदान दे रहा है।

दीपक कुमार (2006), लेखक ने यह विश्लेषण किया है कि डिजिटल तकनीक ने सूचना, शिक्षा, रोजगार और सामाजिक सहभागिता के नए अवसर प्रदान किए हैं, जिससे ग्रामीण युवाओं और नागरिकों के जीवन में सकारात्मक बदलाव आए हैं। वहीं, तकनीक तक असमान पहुँच के कारण डिजिटल विभाजन ने पारंपरिक सामाजिक असमानताओं जाति, वर्ग और लिंग को भी उजागर और कभी-कभी गहरा किया है। पुस्तक यह समझने में मदद करती है कि सूचना तकनीक केवल तकनीकी विकास का साधन नहीं है, बल्कि यह सामाजिक परिवर्तन और असमानताओं के मामलों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

प्रेरणा सिकरवार, सुधा सिलावट, चावला त्रिपत कौर (2025), लेखक ने यह विश्लेषण किया कि डिजिटल तकनीक ने सूचना, शिक्षा, रोजगार और सामाजिक सहभागिता के नए अवसर प्रदान किए हैं, जिससे ग्रामीण युवाओं और नागरिकों के जीवन में सकारात्मक बदलाव आए हैं। वहीं, तकनीक तक असमान पहुँच के कारण डिजिटल विभाजन ने पारंपरिक सामाजिक असमानताओं जाति, वर्ग और लिंग को भी उजागर और कभी-कभी गहरा किया है। पुस्तक यह समझने में मदद करती है कि सूचना तकनीक केवल तकनीकी विकास का साधन नहीं है, बल्कि यह सामाजिक परिवर्तन और असमानताओं के मामलों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

सूचना तकनीकी का प्रसार

भारत में युवाओं के बीच सूचना–प्रौद्योगिकी का प्रसार पिछले एक दशक में जिस तीव्र गति से विस्तृत हुआ है, उसने समाज के संरचनात्मक और सांस्कृतिक स्वरूप में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन को जन्म दिया है। यह परिवर्तन केवल तकनीकी उपकरणों की उपलब्धता भर नहीं है, बल्कि यह युवाओं के जीवन–अनुभव, सामाजिक संपर्क, शिक्षा, कार्य–पद्धति और मूल्य–धारणा तक को प्रभावित कर रहा है। MoSPI (2025) द्वारा प्रस्तुत हालिया आंकड़ों के अनुसार, देश के 85.5% परिवार कम-से-कम एक स्मार्टफोन रखते हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि मोबाइल-आधारित डिजिटल पहुँच अब केवल सम्पन्न वर्ग तक सीमित नहीं रही वह सामान्य भारतीय परिवार की भी मूलभूत आवश्यकता बन चुकी है। स्मार्टफोन आज युवाओं की सूचना, संचार और मनोरंजन संबंधी आवश्यकताओं का केंद्रीय माध्यम है, और इसी के कारण यह उपकरण एक व्यापक सामाजिक परिवर्तन का उत्प्रेरक भी बन गया है। यदि हम 15–29 वर्ष की युवा आबादी को केंद्र में रखकर देखें, तो इस प्रसार की गहराई और अधिक स्पष्ट हो जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में 95.5% युवा स्मार्टफोन के स्वामी हैं, वहीं शहरी क्षेत्रों में यह आँकड़ा 97.6% तक पहुँच जाता है। यह स्तर इस बात का संकेत है कि मोबाइल प्रौद्योगिकी की पहुँच अब लगभग सार्वभौमिक हो चुकी है। केवल स्वामित्व ही नहीं, बल्कि वास्तविक उपयोग भी अत्यधिक उच्च दर्ज किया गया है ग्रामीण युवाओं के 96.8% और शहरी युवाओं के 97.6% ने हाल के महीनों में मोबाइल फोन के सक्रिय उपयोग की पुष्टि की। यह संलग्नता संकेत देती है कि डिजिटल उपकरण अब युवा जीवन के हर पहलू शैक्षिक, व्यावसायिक, सामाजिक और मनोरंजन में अनिवार्य भूमिका निभा रहे हैं। इंटरनेट उपयोग दर भी इसी प्रवृत्ति का अनुसरण करती है ग्रामीण युवाओं में 92.7% तथा शहरी युवाओं में 95.7% ने नियमित इंटरनेट उपयोग का उल्लेख किया। यह व्यापक डिजिटल पहुँच युवाओं की जीवनशैली में इंटरनेट को एक स्थायी और निरंतर उपस्थित संरचना के रूप में स्थापित करती है।

युवाओं के तकनीकी उपयोग के प्रतिरूपों को देखें तो सोशल मीडिया, डिजिटल मनोरंजन, त्वरित संचार माध्यमों और ऑनलाइन वित्तीय सेवाओं की भूमिका अत्यंत प्रमुख है। ग्रामीण भारतीय किशोरों (14–16 वर्ष) पर आधारित एक अध्ययन में पाया गया कि 82.2% किशोर स्मार्टफोन चलाने में दक्ष हैं, परंतु उनमें से मात्र 57% ही डिजिटल उपकरण को अध्ययन-संबंधी कार्यों में उपयोग करते हैं। यह अंतर दर्शाता है कि सूचना–प्रौद्योगिकी तक पहुँच होने के बावजूद उसके उपयोग की दिशा में एक संरचनात्मक असंतुलन मौजूद है तकनीकी दक्षता होने पर भी उसका उपयोग मनोरंजन और सामाजिक संपर्क में अधिक दिखाई देता है। यूट्यूब, इंस्टाग्राम, व्हाट्सऐप और शॉर्ट-वीडियो प्लेटफ़ॉर्मों की लोकप्रियता युवाओं में डिजिटल उपभोग की प्रवृत्ति को और अधिक सुदृढ़ बनाती है। आर्थिक जीवन के संदर्भ में भी युवा वर्ग डिजिटल परिवर्तन के अग्रणी उपभोक्ता सिद्ध हो रहे हैं। ऑनलाइन बैंकिंग का उपयोग करने वाले युवाओं में से 99.5% ने UPI को अपनी प्राथमिक भुगतान पद्धति बताया, जो इस बात का संकेत है कि आर्थिक गतिविधियों में तकनीकी

हस्तक्षेप अब केवल सुविधा का विषय नहीं रहा; यह आधुनिक आर्थिक सहभागिता की बुनियाद बन चुका है। डिजिटल भुगतान की यह प्रवृत्ति ग्रामीण और शहरी दोनों ही क्षेत्रों में मजबूत दिखाई देती है, हालाँकि शहरी क्षेत्रों में इसकी पहुँच और गति अपेक्षाकृत अधिक है।

फिर भी, यह कहना जल्दबाज़ी होगी कि डिजिटल पहुँच का विस्तार सभी सामाजिक वर्गों को समान रूप से लाभान्वित कर रहा है। शहरी–ग्रामीण विभेद अभी भी तकनीकी अवसंरचना, नेटवर्क गुणवत्ता, और डिजिटल सेवाओं की विश्वसनीयता से प्रभावित होते हैं। जहाँ शहरी क्षेत्रों में इंटरनेट उपयोग 95.7% तक पहुँच चुका है, वहीं ग्रामीण क्षेत्रों में यह 92.7% दर्ज किया गया। यह अंतर भले ही बहुत बड़ा न दिखे, पर यह इस बात को इंगित करता है कि तकनीकी सुविधाओं की गुणवत्ता और उपलब्धता में अभी भी असमान विकास मौजूद है। शहरी क्षेत्रों में नेटवर्क गति, डेटा प्लान, डिजिटल संसाधनों की उपलब्धता, तथा उपयोगकर्ताओं की तकनीकी साक्षरता बेहतर होने के कारण वह डिजिटल दुनिया का अधिक स्थिर और प्रभावी हिस्सा बन पाता है। लिंग आधारित विभेद भी डिजिटल उपयोग के परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण हैं। एक अध्ययन के अनुसार, सोशल मीडिया उपयोग में लड़कों की सक्रियता 76% तथा लड़कियों की 73.4% पाई गई। यद्यपि यह अंतर बहुत बड़ा नहीं है, फिर भी यह सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं, सुरक्षा संबंधी आशंकाओं, और परिवारों द्वारा लागू की जाने वाली निगरानी संरचनाओं से प्रभावित होता है। कई ग्रामीण क्षेत्रों में लड़कियों को मोबाइल फोन तक पहुँच का अधिकार तो दिया जाता है, परंतु उसका उपयोग समय तथा उद्देश्य दोनों ही पहलुओं पर आधारित नियंत्रण के साथ सीमित पाया गया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत में युवाओं के बीच सूचना–प्रौद्योगिकी का प्रसार तेज़ी से हो रहा है और उसने सामाजिक परिवर्तन की दिशा को नए आयाम दिए हैं। डिजिटल पहुँच आज न केवल संचार और मनोरंजन का साधन है, बल्कि यह सामाजिक प्रतिष्ठा, ज्ञान अधिग्रहण, आर्थिक सहभागिता और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का भी एक सशक्त माध्यम बन चुकी है। हालाँकि, इसके समानांतर तकनीकी असमानताएँ, उपयोग के असंतुलित प्रतिरूप और लिंग आधारित नियंत्रण जैसी चुनौतियाँ यह दर्शाती हैं कि डिजिटल समावेशन की प्रक्रिया अभी भी विकसित हो रही है। इस पूरे परिदृश्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन न केवल इन असमानताओं को समझने के लिए आवश्यक है, बल्कि यह भी समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है कि डिजिटल मीडिया किस प्रकार युवा जीवन की संरचना, आकांक्षाओं और सामाजिक संबंधों को पुनर्परिभाषित कर रहा है।

उद्देश्य:-

1. यह अध्ययन करना कि सूचना तकनीकी युवाओं की सीखने की प्रक्रिया और जीवन-शैली में किस प्रकार परिवर्तन उत्पन्न करती है।
2. यह विश्लेषण करना कि डिजिटल माध्यम युवाओं के सामाजिक व्यवहार और पारस्परिक संबंधों को किस दिशा में प्रभावित करते हैं।

उपकल्पना:-

1. सूचना तकनीकी का बढ़ता उपयोग युवाओं की सीखने की क्षमता और सामाजिक सहभागिता में सकारात्मक वृद्धि करता है।
2. अत्यधिक डिजिटल संलग्नता युवाओं में मानसिक दबाव और सामाजिक दूरी की संभावना को बढ़ाती है।

वर्तमान शोध कार्य वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक स्वरूप का है, जिसका मुख्य उद्देश्य सूचना तकनीकी के युवाओं पर पड़ने वाले प्रभावों को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से गहराई से समझना और उनका व्यवस्थित विश्लेषण करना है। यह अध्ययन मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है, जिसमें पिछले शोध कार्य, सरकारी रिपोर्ट, सर्वेक्षण और प्रासंगिक साहित्य का समग्र और आलोचनात्मक विश्लेषण शामिल किया गया है। इसके माध्यम से यह शोध न केवल युवाओं के डिजिटल व्यवहार और तकनीकी सहभागिता को समझने का प्रयास करता है, बल्कि यह भी दर्शाता है कि सूचना तकनीकी किस प्रकार सामाजिक संरचनाओं, अवसरों और असमानताओं को प्रभावित कर रही है।

सकारात्मक प्रभाव

सूचना-प्रौद्योगिकी के प्रसार ने युवाओं के जीवन में कई सकारात्मक परिवर्तन किए हैं जिनमें शिक्षा, कौशल विकास, रोजगार, उद्यमिता, सामाजिक नेटवर्किंग और जागरूकता के प्रमुख हैं। ये परिवर्तन न केवल व्यक्तिगत स्तर पर युवाओं के अवसरों को बढ़ा रहे हैं, बल्कि सामाजिक गतिशीलता, आर्थिक सशक्तिकरण और सांस्कृतिक बदलावों में भी योगदान दे रहे हैं।

डिजिटल उपकरणों, स्मार्टफोनों और इंटरनेट की सुलभता ने पारंपरिक शिक्षा और शिक्षा पद्धति को बदल दिया है। आज युवा, चाहे वे शहरी हों या ग्रामीण ऑनलाइन व्याख्यान, ओपन-एडूकेशन प्लेटफार्म, वीडियो पाठ, डिजिटल पाठ्यक्रम तथा ई-लाइब्रेरी जैसी सुविधाओं का उपयोग कर रहे हैं। इस प्रकार, शिक्षा का दायरा केवल स्कूल या कोर्स तक सीमित नहीं रह गया है; सीखना अब समय एवं स्थान जैसी बाधाओं से लगभग मुक्त हो गया है। इस व्यापक पहुँच से उन युवाओं के लिए विशेष रूप से लाभ हुआ है जिन्हें पहले पाठशाला या उच्चतर शिक्षा तक पहुँचने में कठिनाइयाँ थीं ये कठिनाईयां आर्थिक, भौगोलिक, या पारिवारिक प्रतिबंधों के कारण थी। डिजिटल माध्यमों ने शिक्षा को सुलभ बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम रखा है, जिससे सामाजिक असमानताएँ कुछ हद तक कम हुई है। सुचना तकनीकी का यह सकारात्मक प्रभाव युवाओं के लिए शिक्षा के नए आयाम खोलता है। युवा अब कभी भी कहीं भी नई जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

सूचना तकनीकी ने युवा पीढ़ी को व्यावहारिक एवं व्यावसायिक कौशल विकसित करने का अवसर दिया है। इस तकनीकी ने युवाओं को लोगों से जुड़ने एवं अपने विचारों को प्रदर्शित करने के तरीके को पूरी तरह से बदल दिया है। इसके साथ ही साथ युवाओं को रोजगार के नए रास्ते भी सुझाए हैं। डिजिटल प्लेटफार्म, ऑनलाइन ट्यूटोरियल, कोर्सेस, वर्कशॉप्स तथा फ्रीलांसिंग जैसे तरीके युवाओं को तकनीकी दक्षता, नवाचार, समस्या-समाधान, रचनात्मकता और आत्मनिर्भरता जैसे गुण सिखा रहे हैं। इस प्रकार, युवा केवल पारंपरिक शैक्षणिक योग्यता तक सीमित नहीं रहते बल्कि आधुनिक, बहु-आयामी कौशल विकसित करते हैं जैसे डिजिटल मार्केटिंग, ग्राफिक/वेब डिज़ाइन, कंटेंट निर्माण, प्रोग्रामिंग, ऑनलाइन सेवा-क्षेत्र आदि। यह कौशल विकास युवा की रोजगार-क्षमता को बढ़ाता है, और पारंपरिक सामाजिक-आर्थिक पाँव जमाने वालों के लिए भी नए अवसर खोलता है। सामाजिक गतिशीलता भी इसी डिजिटल परिवर्तन से प्रभावित होती है। जहां पहले जातीय, सामाजिक या आर्थिक पृष्ठभूमि युवा की क्षमताओं और अवसरों को सीमित करती थी, अब डिजिटल माध्यमों की पहुँच ने उन सीमाओं को चुनौती दी है। युवा, अपनी प्रतिभा, प्रयास और डिजिटल पहुँच के माध्यम से पारंपरिक प्रतिबंधों से ऊपर उठ सकते हैं। डिजिटल अर्थव्यवस्था ने युवाओं के लिए नए प्रकार के रोजगार और स्वरोजगार के द्वार खोले हैं। पारंपरिक नौकरियों की सीमाओं के बजाय अब ऑनलाइन फ्रीलांसिंग, रिमोट वर्क, डिजिटल कंटेंट निर्माण, ई-कॉमर्स, स्टार्ट-अप्स, तथा स्वयं के उद्यमों के माध्यम से युवा स्वरोजगार और आय सृजन कर सकते हैं।

सुचना तकनीकी के विकास से युवाओं में एक सकारात्मक बदलाव आया युवा अब नौकरी खोजने वाले के बजाय नौकरी या कार्य-सृजन करने वाले बनने लगे हैं। डिजिटल प्लेटफार्मों ने आरंभिक पूँजी, भौतिक द्वार या भारी संसाधनों की आवश्यकता को कम किया है। इससे आर्थिक रूप से कमजोर या मध्यम पृष्ठभूमि वाले युवा भी उद्यमिता में उतर सकते हैं, अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकते हैं, और सामाजिक प्रतिष्ठा व आत्मनिर्भरता प्राप्त कर सकते हैं। यह स्वरूप युवा-उद्यमिता और नवाचार की संस्कृति को भी बढ़ावा देता है। युवा पारंपरिक नौकरियों की स्थिरता व संरचनात्मक बंधनों की बजाय प्रतिस्पर्धात्मक, नवाचारी और लचीले व्यवसाय मॉडल अपना रहे हैं जिससे अर्थव्यवस्था में विविधता और नवप्रवर्तन की संभावना बढ़ रही है। डिजिटल प्लेटफार्मों सोशल मीडिया, मैसेजिंग ऐप्स, ऑनलाइन फोरम, ब्लॉग, और सामूहिक नेटवर्क ने युवाओं को न केवल व्यक्तिगत संवाद बल्कि सामूहिक संवाद, विचार-विमर्श, संगठन और सामाजिक सहभागिता का नया मंच प्रदान किया है। इस माध्यम से युवा अपनी आवाज़, अपनी पहचान और अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं; सामाजिक, राजनीतिक, पर्यावरणीय, स्वास्थ्य या सांस्कृतिक मुद्दों पर जागरूकता फैला सकते हैं; समुदाय बना सकते हैं; और सामाजिक बदलाव या सुधार के लिए सक्रिय हो सकते हैं। डिजिटल नेटवर्किंग ने सीमाओं को पार किया है भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक और युवाओं को राष्ट्रीय या वैश्विक संवाद, विचारों के आदान-प्रदान और सामूहिक पहचान का अवसर दिया है।

इससे सामाजिक जागरूकता और सामूहिक चेतना का विकास हुआ है युवा अब केवल व्यक्तिगत स्तर तक सीमित नहीं रह गए; वे समूहों, समुदायों, और सामाजिक अभियानों के माध्यम से सक्रिय नागरिकता की ओर अग्रसर हैं। यह परिवर्तन समाज के पारंपरिक ढाँचों, सामूहिकता, और सामाजिक जुड़ाव के स्वरूप को पुनर्परिभाषित करता है। इस प्रकार, सूचना-प्रौद्योगिकी युवाओं के जीवन में एक बहुआयामी, गहन और सकारात्मक परिवर्तन की नीव रख रही है। यह परिवर्तन केवल व्यक्तिगत विकास का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक समावेशन, आर्थिक सशक्तिकरण, सांस्कृतिक संवाद और सामूहिक चेतना का आधार बना हुआ है। यदि हम अपने समाज को आधुनिक, समावेशी और गतिशील बनाना चाहते हैं, तो युवाओं के इस डिजिटल जुड़ाव शिक्षा, कौशल, रोजगार, उद्यमिता और सामाजिक भागीदारी के माध्यम से को प्रोत्साहित करना और संरक्षित करना महत्वपूर्ण है।

नकारात्मक प्रभाव

सूचना तकनीकी के प्रभाव ने जहाँ युवाओं को अनेक सकारात्मक अवसर प्रदान किए हैं, वहीं इसके कुछ गंभीर नकारात्मक प्रभाव भी उभरकर सामने आए हैं। आधुनिक जीवनशैली ने युवाओं की मनोवैज्ञानिक स्थिरता, सामाजिक संबंधों, पहचान निर्माण और सुरक्षा के आयामों को नए प्रकार की चुनौतियाँ दी हैं। इन नकारात्मक प्रभावों को समाजशास्त्रीय दृष्टि से समझना आवश्यक है, क्योंकि वे व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ व्यापक सामाजिक संरचना को भी प्रभावित करते हैं।

स्मार्टफोन एवं सोशल मीडिया की सुलभ एवं निरंतर उपलब्धता ने युवाओं में ध्यान केंद्रित रखने की क्षमता को बाधित किया है। निरंतर सूचनाओं, संदेशों, नोटिफिकेशन और दृश्य सामग्री की बाढ़ ने एक ऐसी स्थिति बना दी है, जिसमें युवा अक्सर "डिजिटल ओवरलोड" का अनुभव करते हैं। इससे पढ़ाई, काम, सामाजिक संपर्क और व्यक्तिगत जीवन में संतुलन बनाए रखना कठिन हो जाता है। डिजिटल उपकरणों के अत्यधिक उपयोग से धीरे-धीरे एक प्रकार की लत विकसित होती है, यह एक नशे की तरह काम करने लगता है, जहाँ युवा समय, भावनाओं और व्यवहार पर नियंत्रण खोने लगते हैं। यह लत अनिद्रा, चिंता, अवसाद और तनाव जैसी समस्याओं को नया रूप देती है। डिजिटल दुनिया में सुरक्षा की सीमाएँ भौतिक जीवन जितनी मजबूत नहीं होतीं। युवा अक्सर साइबर बुलिंग, डेटा चोरी, ऑनलाइन ठगी, फेक न्यूज़, और डिजिटल हेरफेर जैसी समस्याओं के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। गलत सूचना और अफवाहों के तेज़ प्रसार ने युवाओं के विचार, व्यवहार और निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित किया है। इससे सामाजिक ध्रुवीकरण, भ्रम और अविश्वास की स्थिति बनती है।

छेड़छाड़, ट्रोलिंग, व्यक्तिगत तस्वीरों का दुरुपयोग, और भावनात्मक हेरफेर जैसे घटनाएँ युवाओं के डिजिटल अनुभव को असुरक्षित बनाती हैं। डिजिटल युग ने संचार के नए रास्ते तो खोले हैं, लेकिन साथ ही यह युवा पीढ़ी को आभासी दुनिया में अधिक समय बिताने के लिए भी प्रेरित कर रहा है। वास्तविक सामाजिक संपर्क कम होने लगा है, और कई युवा अपने आप को ऑनलाइन पहचान और वर्चुअल समुदायों से जोड़कर देखते हैं। यह स्थिति "वास्तविक समाज" से दूरी और सामाजिक अलगाव की भावना को बढ़ाती है। ऑनलाइन पहचान अक्सर एक सजाई-सँवारी, नियंत्रित और आदर्शीकृत छवि होती है, जो वास्तविक जीवन से अलग हो सकती है। इस आभासी पहचान और वास्तविक पहचान के बीच का अंतर मानसिक तनाव, आत्म-संघर्ष और असुरक्षा को जन्म देता है। सामाजिक विकास की दृष्टि से यह स्थिति युवाओं की सामाजिक परिपक्वता, सहानुभूति और भावनात्मक स्थिरता के लिए चुनौती बनती जा रही है। डिजिटल प्लेटफॉर्मों पर युवाओं की गतिविधियों, पसंद, व्यवहार, खोज इतिहास और व्यक्तिगत जानकारी निरंतर एकत्रित की जाती है। इससे गोपनीयता के उल्लंघन और निगरानी का जोखिम बढ़ गया है। युवा अक्सर अनजाने में ऐसी जानकारी साझा कर देते हैं, जिसका दुरुपयोग भविष्य में हो सकता है चाहे वह राजनीतिक, व्यावसायिक या व्यक्तिगत उद्देश्यों के लिए हो। यह निगरानी प्रवृत्ति केवल तकनीकी मुद्दा नहीं है; यह युवाओं की आत्म-अभिव्यक्ति, स्वतंत्रता और चुनाव की क्षमता को प्रभावित करती है। व्यक्तियों और समाज के बीच विश्वास का ताना-बाना कमजोर पड़ सकता है, क्योंकि लगातार निगरानी का एहसास सामाजिक व्यवहार पर नियंत्रण और सीमाएँ स्थापित करता है।

सुचना तकनीकी का समाज पर प्रभाव

भारत में सूचना-प्रौद्योगिकी का व्यापक प्रसार केवल तकनीकी परिवर्तन नहीं, बल्कि गहन सामाजिक पुनर्गठन का संकेत है। युवा वर्ग जो देश का भविष्य है, इस परिवर्तन का प्रमुख वाहक बन चुका है। सर्वेक्षण रिपोर्टों के आधार पर देश के 85.5% घरों में स्मार्टफोन और 86% से अधिक घरों में इंटरनेट उपलब्ध होने के कारण डिजिटल माध्यम अब दैनिक जीवन के अभिन्न अंग बन गए हैं। युवाओं में मोबाइल का उपयोग 96–98% तथा इंटरनेट का उपयोग 93–96% तक पहुँचने से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि सामाजिक संपर्क, मनोरंजन, सूचना प्राप्ति और सीखने की प्रक्रियाएँ अब मुख्यतः ऑनलाइन हो गयी हैं। परिवारों के भीतर इस बदलाव के प्रभाव गहरे हैं डिजिटल गतिविधियों ने पारिवारिक सहभागिता के समय को कम किया है, जिसके कारण माता-पिता और युवाओं के बीच संवाद का स्वरूप बदल गया है। पहले जहाँ परिवार में साझा अनुभवों के माध्यम से सामाजिक कौशल का विकास होता था, वहीं आज बड़ी संख्या में युवा अपना भावनात्मक एवं बौद्धिक सन्दर्भ ऑनलाइन समुदायों से प्राप्त करने लगे हैं। यह परिवर्तन सामाजिक नियंत्रण के पुराने ढाँचों को चुनौती देता है और परिवार को नई 'डिजिटल मध्यस्थता' की स्थिति में ला खड़ा करता है।

इन परिस्थितियों के कारण युवा पीढ़ी में नई उपसंस्कृतियाँ उभरकर सामने आई हैं। सोशल मीडिया, गेमिंग, शॉर्ट-वीडियो निर्माण और कंटेंट-क्रिएटर अर्थव्यवस्था ने युवाओं की अभिव्यक्ति शैलियों, सौंदर्य-मानकों और आकांक्षाओं को पुनर्परिभाषित किया है। पारंपरिक उपसंस्कृतियों के विपरीत, ये डिजिटल उपसंस्कृतियाँ भौगोलिक सीमाओं से मुक्त हैं एक ग्रामीण किशोर भी वही ट्रेंड, मीम और सांस्कृतिक प्रतीक अपनाता है जो महानगरों के युवा अपना रहे हैं। इससे सांस्कृतिक समानता के नए स्वरूप विकसित हो रहे हैं, परन्तु एक स्तर पर यह सांस्कृतिक विविधता में एकरूपता और प्रतिस्पर्धात्मक पहचान के दबाव भी उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त, इन आभासी समूहों की अस्थायी प्रकृति युवाओं में स्थिर सामुदायिक संबंधों की कमी और सतही सामाजिक जुड़ाव जैसी समस्याएँ भी पैदा कर सकती है।

राजनीतिक और सामाजिक सक्रियता के क्षेत्र में भी सूचना-तकनीकी ने युवाओं की भागीदारी को एक नया आयाम दिया है। सोशल मीडिया अभियानों, ऑनलाइन हस्ताक्षर-याचिकाओं, डिजिटल विरोध-प्रदर्शनों और वायरल हैशटैग-आंदोलनों ने जनमत-निर्माण को अभूतपूर्व गति प्रदान की है। डिजिटल पहुँच का यह विस्तार युवा वर्ग को केवल दर्शक ही नहीं, बल्कि सक्रिय भागीदार बनाए हुए है। 2023 में साइबर अपराध की स्थिति को लेकर राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो द्वारा जारी आँकड़े एक चिंताजनक प्रवृत्ति को रेखांकित करते हैं। रिपोर्ट बताती है कि वर्ष 2023 में साइबर अपराधों की संख्या बढ़कर 86,128 से अधिक हो गई, जबकि पिछले वर्ष अर्थात् 2022 में यह संख्या 65,893 थी। इस अंतर को देखें तो एक ही वर्ष में मामलों में लगभग 31.2% की तेज़ वृद्धि दर्ज हुई, जो यह संकेत देती है कि डिजिटल विस्तार के साथ-साथ ऑनलाइन जोखिम भी तेजी से बढ़ रहे हैं और सुरक्षा ढाँचे को अधिक मज़बूती और तत्परता की आवश्यकता है। यह दर्शाती है कि डिजिटल जनमत कई बार अविश्वसनीय स्रोतों और एल्गोरिदमिक प्रभावों के अधीन भी हो सकता है। यह स्थिति लोकतांत्रिक संवाद की गुणवत्ता और सामूहिक विवेक के लिए नई चुनौतियाँ प्रस्तुत करती है।

इस समूचे डिजिटल रूपांतरण का मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव विशेष उल्लेखनीय है। हाल के सर्वेक्षणों में पाया गया है कि कक्षा-12 के लगभग 75% छात्र प्रतिदिन 7 घंटे से कम नींद लेते हैं, और 20% से अधिक छात्रों में चिंता, तनाव, अवसाद या आत्म-संदेह के लक्षण पाए जाते हैं। निरंतर ऑनलाइन तुलना, आत्म-छवि का दबाव, शैक्षिक प्रतिस्पर्धा और फियर-ऑफ-मिसिंग-आउट (FOMO) युवाओं में मनोवैज्ञानिक असंतुलन की स्थितियाँ उत्पन्न कर रहे हैं। यह स्थिति स्पष्ट करती है कि तकनीक केवल अवसर देने वाली शक्ति नहीं, बल्कि एक ऐसी सामाजिक ताकत है, जिसे समझने और संतुलित करने की आवश्यकताएँ निरंतर बढ़ रही हैं। संपूर्णतः, सूचना-तकनीकी ने समाज को पुनर्गठित किया है विकास, गतिशीलता, अभिव्यक्ति और जुड़ाव के नए आयाम खोले हैं, लेकिन साथ ही परिवार, संस्कृति, मानसिक स्वास्थ्य, सुरक्षा और सामाजिक उत्तरदायित्व के नए प्रश्न भी सामने रखे हैं। यह परिवर्तन हमें उन नीतियों,

कौशलों और नैतिक दिशानिर्देशों की ओर ले जाता है, जिनके माध्यम से तकनीक को मानव-कल्याण के लिए संतुलित, सुरक्षित और समावेशी बनाया जा सके।

निष्कर्ष

सूचना तकनीकी के तीव्र विस्तार एवं प्रसार ने भारत के युवाओं के सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और आर्थिक जीवन में गहन परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। उपलब्ध आँकड़े इस परिवर्तन की व्यापकता और गहराई दोनों को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। MoSPI (2025) के अनुसार देश के 85.5% परिवारों में कम-से-कम एक स्मार्टफोन की उपलब्धता यह संकेत करती है कि डिजिटल उपकरण अब विलासिता नहीं, बल्कि सामान्य भारतीय परिवार की दैनिक जीवन का अभिन्न हिस्सा बन चुके हैं। 15–29 वर्ष की आयु-वर्ग के युवाओं को केंद्र में रखकर देखें तो यह प्रसार लगभग सार्वभौमिक हो चुका है ग्रामीण युवाओं में 95.5% और शहरी युवाओं में 97.6% स्मार्टफोन स्वामित्व इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि तकनीकी पहुँच का भौगोलिक विभाजन अब न्यूनतम स्तर पर है। इसी तरह सक्रिय मोबाइल उपयोग में ग्रामीण युवाओं की 96.8% और शहरी युवाओं की 97.6% भागीदारी आधुनिक डिजिटल संस्कृति में युवाओं की मजबूत उपस्थिति को दर्शाती है। इंटरनेट उपयोग की उपलब्धता भी इसी प्रवृत्ति को मजबूत बनाती है, जहाँ ग्रामीण युवाओं में 92.7% और शहरी युवाओं में 95.7% नियमित इंटरनेट उपयोग दर्ज किया गया। इसका अर्थ न केवल बढ़ती डिजिटल पहुँच से है बल्कि यह भी कि इंटरनेट अब युवा जीवन के बुनियादी ढाँचे का हिस्सा बन चुका है। ग्रामीण किशोरों (14–16 वर्ष) पर किए गए एक अध्ययन में जहाँ 82.2% किशोर स्मार्टफोन चलाने में सक्षम पाए गए, वहीं उनमें से मात्र 57% ही इस तकनीक का उपयोग शैक्षिक उद्देश्यों के लिए कर रहे थे। यह अंतर संकेत करता है कि डिजिटल साक्षरता का विस्तार हुआ है, पर डिजिटल उपयोग की दिशा अभी भी पूर्ण रूप से नियोजित नहीं है।

आर्थिक और तकनीकी व्यवहार में युवा वर्ग सबसे सक्रिय दिखाई देता है। ऑनलाइन बैंकिंग उपयोग करने वाले युवाओं में से 99.5% द्वारा UPI को प्राथमिक भुगतान माध्यम के रूप में अपनाया जाना बताता है कि डिजिटल वित्तीय पारिस्थितिकी में युवा ही प्रमुख चालक शक्ति हैं। यह न केवल आर्थिक सहभागिता के नए अवसर उत्पन्न करता है, बल्कि डिजिटल उद्यमिता, ई-व्यापार और स्वतंत्र पेशों की दिशा में नई संभावनाएँ भी खोलता है। सामाजिक व्यवहार में भी युवा तकनीकी रूपांतरण के अग्रदूत साबित हो रहे हैं। सोशल मीडिया उपयोग में लड़कों की सक्रियता 76% और लड़कियों की 73.4% दर्ज की गई, जो डिजिटल मंचों पर लगभग समान स्तर की सहभागिता की ओर संकेत करती है। यह प्रवृत्ति युवा उपसंस्कृतियों, विचार निर्माण, सामाजिक नेटवर्किंग और जागरूकता अभियानों के विस्तार का आधार बनती है। हालाँकि, इस डिजिटल प्रसार का एक चुनौतीपूर्ण पक्ष भी सामने आता है। साइबर अपराध में तेज़ वृद्धि इसके नकारात्मक प्रभावों की ओर संकेत करती है। NCRB के आंकड़ों के अनुसार 2022 के 65,893 मामलों की तुलना में 2023 में साइबर अपराध बढ़कर 86,128 से अधिक हो गए, जो लगभग 31.2% की वृद्धि को दर्शाता है। यह वृद्धि बताती है कि जहाँ डिजिटल तकनीकें नई संभावनाएँ प्रदान कर रही हैं, वहीं साइबर-असुरक्षा, गलत सूचना, ऑनलाइन शोषण तथा गोपनीयता हनन जैसी समस्याएँ भी तेज़ी से उभर रही हैं।

इन सभी तथ्यों का समग्र विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि सूचना तकनीकी ने युवाओं के सामाजिक जीवन को बहुआयामी रूप से प्रभावित किया है कुछ पहलू अत्यंत सकारात्मक हैं, जैसे शैक्षिक पहुँच का विस्तार, आर्थिक अवसरों का बढ़ना, डिजिटल कौशलों का विकास और सामाजिक जुड़ाव में वृद्धि। वहीं दूसरी ओर मानसिक स्वास्थ्य जोखिम, साइबर अपराध, डिजिटल लत और सामाजिक अलगाव जैसे मुद्दे गंभीर चिंताओं के रूप में सामने आए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सूचना तकनीकी न तो केवल परिवर्तन का साधन है, न केवल चुनौती बल्कि यह एक ऐसी सामाजिक शक्ति है जो युवाओं के जीवन-बोध, व्यवहार और अवसर संरचना को पुनर्गठित कर रही है। अतः वर्तमान समाजशास्त्रीय विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सूचना तकनीकी का प्रभाव संतुलित दृष्टिकोण से समझने की आवश्यकता है। तकनीकी पहुँच को सशक्त बनाने के साथ-साथ डिजिटल साक्षरता, सुरक्षा ढाँचे, परामर्श सेवाओं एवं उत्तरदायी तकनीकी व्यवहार को बढ़ावा देना अब अनिवार्य हो गया है। यदि समाज, राज्य और युवा समुदाय मिलकर इन चुनौतियों का समाधान विकसित

करते हैं, तो सूचना तकनीकी युवा विकास का एक शक्तिशाली साधन बन सकती है और भारत के सामाजिक परिवर्तन को अधिक समावेशी, सुरक्षित और प्रगतिशील दिशा प्रदान कर सकती है।

References-

1. सेनगुप्ता वृंदा, कुर्रे के.पी) .2017) ,संचार क्रांति का युवाओं पर प्रभाव, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एडवांसेस इन सोशल साइंस , खंड संख्या ,5 : अंक संख्या ,1 : वर्ष ,2017 : पृष्ठ37 : -38
2. अग्रवाल विमल (2021), ग्रामीण, नगरीय एवं जनजातीय समाज, एसबीपीडी प्रकाशन, न्यू दिल्ली, पृ.सं-168
3. कुमार दीपक (2006), इनफार्मेशन टेक्नोलॉजी एंड सोशल चेंज, अ स्टडी ऑफ़ डिजिटल डिवाइड इन इंडिया, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पृ.सं.-60
4. [1]. सिकरवार प्रेरणा, सिलावट सुधा, कौर चावला त्रिपत , सुचना एवं संचार प्रौधोगिकी की उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भूमिका: समाजशास्त्रीय अध्ययन, आईओएसआर जर्नल ऑफ ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंस, खंड 30, अंक 3, श्रृंखला 3
5. सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय रिपोर्ट
6. वार्षिक शिक्षा स्थिति रिपोर्ट (एएसईआर) 2024

महिलाओं पर आधुनिकीकरण का प्रभाव: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ. मनोज कुमार
सहायक प्राध्यापक-समाजशास्त्र विभाग
सिल्ली कॉलेज, सिल्ली

सारांश

आधुनिकीकरण न केवल सामाजिक और आर्थिक संरचनाओं में बदलाव लाता है, बल्कि महिलाओं की जीवनशैली, सामाजिक पहचान और अवसरों को भी प्रभावित करता है। प्रस्तुत अध्ययन में शिक्षा, रोजगार, राजनीतिक और सामाजिक सहभागिता, पारिवारिक संरचना और डिजिटल सहभागिता जैसे विभिन्न आयामों पर ध्यान केंद्रित किया गया है। आधुनिक शिक्षा और कौशल विकास ने महिलाओं को अधिक आत्मनिर्भर, जागरूक और सामाजिक रूप से सक्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। रोजगार और स्वरोजगार के अवसरों ने उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ की और पारिवारिक और सामाजिक निर्णयों में उनकी भागीदारी को बढ़ाया। साथ ही, लेख में आधुनिकीकरण के नकारात्मक पहलुओं को भी उजागर किया गया है। दोहरी भूमिकाओं का दबाव, पारंपरिक मूल्यों और आधुनिक अपेक्षाओं के बीच संघर्ष, कार्यस्थल पर लैंगिक असमानता, उपभोक्तावादी संस्कृति में महिलाओं का वस्तुकरण, और डिजिटल विभाजन व साइबर उत्पीड़न जैसी चुनौतियाँ महिलाओं के जीवन में जटिलताओं को जन्म देती हैं। अध्ययन निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आधुनिकीकरण महिलाओं के जीवन में नए अवसर और स्वतंत्रता प्रदान करता है, जबकि चुनौतियाँ और सामाजिक दबाव अभी भी विद्यमान हैं। इस प्रकार, महिलाओं के सशक्तिकरण और समाज में उनकी समान भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए सामाजिक चेतना, शिक्षा और सांस्कृतिक परिवर्तन आवश्यक हैं।

मुख्य शब्द: आधुनिकीकरण, महिला सशक्तिकरण, सामाजिक परिवर्तन, शिक्षा, आर्थिक सहभागिता

परिचय

आधुनिक भारत एक ऐसे सामाजिक परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है, जिसने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों शिक्षा, अर्थव्यवस्था, परिवार, संस्कृति और तकनीक को गहराई से प्रभावित किया है। इस परिवर्तन-क्रम का सबसे महत्वपूर्ण और संवेदनशील पहलू महिलाओं की स्थिति से जुड़ा है। ऐतिहासिक रूप से भारतीय समाज में महिलाओं की भूमिकाएँ मुख्यतः परिवार, घरेलू कार्य और पारंपरिक दायित्वों तक सीमित मानी जाती थीं, परन्तु आधुनिकीकरण ने इन सीमाओं को चुनौती दी है। आज महिलाएँ न केवल शिक्षा और रोजगार में आगे बढ़ रही हैं, बल्कि वे अपने जीवन के निर्णयों में भी अधिक स्वायत्तता और सक्रियता प्रदर्शित कर रही हैं। इसके बावजूद, यह परिवर्तन समान रूप से अनुभव नहीं किया जा रहा है। कई महिलाएँ अब भी सामाजिक रूढ़ियों, लैंगिक असमानताओं और सांस्कृतिक दबावों से जूझती हैं। यही द्वैत सशक्तिकरण और संघर्ष का सह-अस्तित्व आधुनिक भारतीय महिला की वास्तविकता को परिभाषित करता है। इस संदर्भ में प्रस्तुत लेख आधुनिकीकरण और महिला-स्थिति के बीच गहरे संबंधों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत अध्ययन इस बात पर केंद्रित है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय महिलाओं के जीवन में किन-किन स्तरों पर परिवर्तन लाए हैं। शिक्षा का विस्तार, आर्थिक अवसरों में वृद्धि, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच और डिजिटल तकनीक का विकास इन सभी ने महिलाओं को नई संभावनाएँ प्रदान की हैं। इसके विपरीत, उपभोक्तावादी संस्कृति, दोहरी जिम्मेदारियों का बोझ, कार्यस्थलों पर भेदभाव और साइबर उत्पीड़न जैसी चुनौतियाँ भी समान रूप से उपस्थित हैं। इस प्रकार, यह विषय केवल प्रगति की कहानी नहीं है, बल्कि परिवर्तन की उन जटिलताओं का भी अध्ययन है जो आधुनिकीकरण के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हैं।

आधुनिकीकरण समाजशास्त्रीय दृष्टि से वह प्रक्रिया है, जिसमें जीवन-शैली, सामाजिक संरचना और मूल्य- प्रणालियाँ पारंपरिक रूप से बदलकर एक अधिक गतिशील, तर्कसंगत और तकनीक- आधारित रूप ग्रहण करती हैं । भारत में यह प्रक्रिया

बहुआयामी और असमान गति वाली रही है।

एक ओर महानगरों, विश्वविद्यालयों और औद्योगिक क्षेत्रों में आधुनिकता तेजी से फैली है, वहीं ग्रामीण और उपेक्षित समुदायों में इसका प्रभाव अपेक्षाकृत धीमा रहा है। यहाँ परंपरा और आधुनिकता अक्सर एक-दूसरे के विपरीत न होकर, सह - अस्तित्व एवं मिश्रण के रूप में उभरती हैं। इसी अनूठे भारतीय प्रसंग में महिलाओं की स्थिति समझना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि वे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को सीधे अनुभव करती हैं कभी स्वतंत्रता और अवसरों के रूप में, तो कभी नए सामाजिक तनावों के रूप में। महिलाओं पर आधुनिकीकरण के प्रभाव का अध्ययन कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है।

पहला, यह हमें यह समझने में मदद करता है कि परिवर्तन की प्रक्रिया समाज में किस प्रकार वास्तविक रूप से कार्य कर रही है क्या यह केवल औपचारिक नीतियों में दिखाई दे रहा है, या वास्तव में महिलाओं के जीवन में ठोस बदलाव ला रहा है। दूसरा, यह विश्लेषण सामाजिक नीतियों और लैंगिक समानता से संबंधित कार्यक्रमों की दिशा तय करने में उपयोगी है। ब्लू-कॉलर और व्हाइट-कॉलर दोनों क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी, उनकी शिक्षा तक पहुँच, विवाह और परिवार संबंधी निर्णय, तथा तकनीकी साधनों का उपयोग इन सभी पर आधुनिकीकरण के प्रभाव का स्पष्ट समझना नीति निर्माण में सहायक होता है। तीसरा, यह अध्ययन सामाजिक असमानताओं के उन आयामों को भी उजागर करता है जिनके कारण सभी महिलाएँ आधुनिकता के लाभों का समान रूप से अनुभव नहीं कर पातीं।

उद्देश्य

1. महिलाओं के दैनिक जीवन, भूमिकाओं और सामाजिक स्थिति में आधुनिकीकरण से आए बदलावों की जाँच करना।
2. आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप महिलाओं को मिलने वाले अवसरों और सामने आने वाली चुनौतियों का पता लगाना।

उपकल्पना

1. आधुनिकीकरण से महिलाओं के दैनिक जीवन, भूमिकाओं और सामाजिक स्थिति में पहले की तुलना में बदलाव हुए हैं।
2. आधुनिकीकरण ने महिलाओं के लिए नए अवसर बढ़ाए हैं, लेकिन इसके साथ ही उन्हें नई सामाजिक और व्यक्तिगत चुनौतियों का भी सामना करना पड़ता है।

अवधारणा

आधुनिकीकरण का समाजशास्त्रीय संदर्भ अत्यंत व्यापक और बहुआयामी है, जिसे समझने के लिए हमें उन सामाजिक प्रक्रियाओं की गहराई में जाना होता है जो समय के साथ समाज की संरचना, व्यवहार और मान्यताओं को पुनर्गठित करती हैं। समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने आधुनिकता को जीवन के सभी क्षेत्रों में तर्कसंगतता और व्यवस्थितता के विस्तार के रूप में देखा है, जहाँ पारंपरिक मान्यताएँ अपनी शक्ति खोने लगती हैं और वैज्ञानिक सोच, नौकरशाही ढाँचा तथा औपचारिक संस्थाएँ प्रबल हो जाती हैं। एंथनी गिडेन्स के अनुसार आधुनिकता केवल परिवर्तन नहीं, बल्कि गतिशील एवं निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, जिसमें वैश्वीकरण, संस्थागत परिवर्तन और व्यक्तिगत पहचान का नया निर्माण शामिल है। एमिल दुर्खाइम आधुनिक समाज को बढ़ती श्रम-विभाजन, संगठनात्मक जटिलता और व्यक्तिवाद के उदय से परिभाषित करते हैं। इस प्रकार आधुनिकता एक ऐसी निरंतर प्रक्रिया है जो समाज को पारंपरिक ढाँचों से हटाकर अधिक गतिशील, जटिल और तर्कसंगत रूप में परिवर्तित करती है।

समाज में परिवर्तन की प्रमुख प्रक्रियाएँ नगरीकरण, औद्योगीकरण, शिक्षा विस्तार और तकनीकी प्रगति आधुनिकीकरण के मूल प्रेरक तत्व हैं। नगरीकरण के साथ ग्रामीण सामुदायिक ढाँचे शहरी जीवन की विविधता, गतिशीलता और प्रतिस्पर्धा में बदलने लगते हैं। परिवार की संरचना, सामाजिक संबंधों के प्रारूप और सामाजिक गतिशीलता के अवसरों में गहरा परिवर्तन आता है। औद्योगीकरण समाज की आर्थिक नींव को बदल देता है उत्पादन की तकनीकें बदलती हैं, श्रम विभाजन बढ़ता है, और पूँजी तथा बाज़ार की भूमिका अधिक प्रभावशाली हो जाती है। शिक्षा विस्तार आधुनिक समाज के निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण तत्वों में से एक है यह व्यक्ति को तर्कसंगत सोच, वैज्ञानिक दृष्टि, सामाजिक समानता और आर्थिक अवसरों की ओर अग्रसर करता है। तकनीकी प्रगति, विशेष रूप से डिजिटल प्रौद्योगिकी

और संचार माध्यमों का विकास, न केवल आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं को बदलता है, बल्कि सामाजिक संपर्क, ज्ञान प्रवाह और सांस्कृतिक संरचनाओं को भी नए स्वरूप में गढ़ता है। इन सभी प्रक्रियाओं का सम्मिलित प्रभाव समाज को अधिक गतिशील, उदार और खुला बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

"महिला स्थिति" की अवधारणा किसी भी समाज में महिलाओं के जीवन की समग्र स्थिति को समझने का एक व्यापक ढांचा प्रदान करती है। सामाजिक आयाम में परिवार, समुदाय और व्यापक समाज में महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण, उनकी भूमिकाएँ, सामाजिक नियंत्रण और लैंगिक मान्यताओं का प्रभाव शामिल होता है। महिलाओं की शिक्षा तक पहुँच, स्वास्थ्य सुविधाएँ, सामाजिक सुरक्षा और लैंगिक समानता के स्तर को भी इसी आयाम में समझा जाता है। आर्थिक आयाम महिलाओं की कार्य भागीदारी, रोजगार के अवसर, आय पर नियंत्रण, संपत्ति अधिकार और आर्थिक निर्णयों में सहभागिता पर केंद्रित होता है। राजनीतिक आयाम महिलाओं की प्रतिनिधित्व क्षमता, चुनावी सहभागिता, नीति-निर्माण संस्थाओं में उपस्थिति और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में उनकी भूमिका को दर्शाता है। सांस्कृतिक आयाम उन मान्यताओं, परंपराओं, प्रतीकों और मूल्य-व्यवस्थाओं से संबंधित है जो महिलाओं की पहचान, सम्मान और व्यवहारिक अपेक्षाओं को निर्धारित करते हैं।

इन सभी आयामों को एक साथ देखने पर स्पष्ट होता है कि महिला स्थिति केवल महिलाओं की व्यक्तिगत प्रगति का प्रश्न नहीं, बल्कि किसी समाज की सभ्यता, विकास और आधुनिकता का प्रमुख सूचक है। एक समाज की आधुनिकता का वास्तविक मूल्यांकन तभी संभव है जब उसकी महिलाएँ सामाजिक रूप से सम्मानित, आर्थिक रूप से सक्षम, राजनीतिक रूप से भागीदारीपूर्ण और सांस्कृतिक रूप से स्वतंत्र होकर अपनी पूर्ण क्षमता का विकास कर सकें।

समीक्षा साहित्य

जे. पी. सिंह (2016), लेखक इस बात पर जोर देते हैं कि आधुनिकीकरण पारंपरिक सामाजिक प्रथाओं और आधुनिक आवश्यकताओं के बीच पुल का काम करता है, जिससे समाज की स्थिरता और परिवर्तन दोनों को समझने में आसानी होती है। लेखक ने आधुनिकीकरण की विशेषताओं को विस्तार से प्रस्तुत किया है। इसके अंतर्गत तर्कसंगत सोच का विकास, शिक्षा का प्रसार, धर्मनिरपेक्षता, शहरीकरण और व्यक्तियों एवं विचारों की गतिशीलता शामिल हैं। ये सभी गुण समाज में सामाजिक सहभागिता, रोजगार और लिंग भूमिकाओं के दृष्टिकोण में परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। लेखक यह भी बताते हैं कि आधुनिकीकरण एक सतत प्रक्रिया है, जिसमें धीरे-धीरे बदलाव आते हैं, लेकिन इसके परिणाम गहन और बहुआयामी होते हैं। इसके अतिरिक्त, आधुनिकीकरण के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला गया है आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और तकनीकी। आर्थिक आयाम रोजगार और आय वितरण में बदलाव लाता है, सामाजिक आयाम परिवार संरचना और लिंग भूमिकाओं को प्रभावित करता है, जबकि तकनीकी और सांस्कृतिक आयाम संचार, ज्ञान प्रसार और जीवनशैली में नवाचार लाते हैं।

मोजमिला हसन (1993), लेखक ने भारतीय समाज में महिलाओं पर आधुनिकीकरण के प्रभाव का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है। लेखक ने इस बात पर विशेष ध्यान दिया है कि आधुनिकीकरण न केवल समाज के ढांचे और आर्थिक प्रक्रियाओं को बदलता है, बल्कि महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति पर भी गहरा प्रभाव डालता है। मोजमिला हसन ने इसे एक व्यापक सामाजिक परिवर्तन के रूप में देखा है, जो महिलाओं के पारंपरिक जीवनशैली, भूमिकाओं और अवसरों में बदलाव लाने में सक्षम है। लेखक ने आधुनिकीकरण की विशेषताओं को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया है। इसके अनुसार, आधुनिकीकरण एक सतत और बहुआयामी प्रक्रिया है जिसमें शिक्षा का प्रसार, शहरीकरण, तकनीकी प्रगति, तर्कसंगत सोच और सामाजिक गतिशीलता शामिल हैं। ये सभी पहलू महिलाओं को पारंपरिक सीमाओं से बाहर आने और समाज में अधिक सक्रिय भूमिका निभाने के लिए सक्षम बनाते हैं।

डेविड हैरिसन (2003), लेखक का तर्क है कि आधुनिकीकरण केवल आर्थिक या तकनीकी प्रगति नहीं है, बल्कि यह सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक प्रथाओं, आर्थिक व्यवस्थाओं और राजनीतिक संस्थाओं में गहरे परिवर्तन लाता है। डेविड हैरिसन

बताते हैं कि आधुनिकीकरण के माध्यम से समाज में मूल्यों, व्यवहारों और सामाजिक अपेक्षाओं में बदलाव आता है। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा, पेशेवर गतिविधियाँ, शहरीकरण और संचार के तरीके बदलते हैं, जो सामाजिक समरसता और व्यक्तियों की भूमिकाओं को प्रभावित करते हैं। लेखक ने आधुनिकीकरण की कुछ मुख्य विशेषताओं को भी उजागर किया है। यह एक सतत और गतिशील प्रक्रिया है, जिसमें तर्कसंगत सोच, धर्मनिरपेक्षता, शिक्षा का विस्तार, तकनीकी प्रगति और लोगों तथा विचारों की गतिशीलता शामिल है। हैरिसन इस बात पर जोर देते हैं कि आधुनिकीकरण व्यक्ति की स्वतंत्रता, सामाजिक गतिशीलता और सार्वजनिक जीवन में सक्रिय सहभागिता को बढ़ावा देता है। साथ ही, यह पारंपरिक मान्यताओं और सांस्कृतिक प्रथाओं को चुनौती देता है, जिससे समाज में नए अवसर और तनाव दोनों उत्पन्न होते हैं।

वैलेंटाइन एम. मोघदम (2003), लेखिका ने दर्शाया है कि आधुनिकीकरण महिलाओं को सशक्त बनाने और समाज में उनकी भूमिका को पुनः आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जबकि इसके साथ नई चुनौतियाँ और सामाजिक दबाव भी उत्पन्न होते हैं। लेखिका ने आधुनिकीकरण की प्रमुख विशेषताओं को उजागर किया है, जैसे शिक्षा में वृद्धि, शहरीकरण, तकनीकी प्रगति, श्रम भागीदारी में बदलाव और सामाजिक गतिशीलता। ये परिवर्तन पारंपरिक लिंग अपेक्षाओं को चुनौती देते हैं और महिलाओं को अधिक स्वायत्तता, निर्णय लेने की क्षमता और सामाजिक सक्रियता के नए अवसर प्रदान करते हैं। हालांकि, इन बदलावों से उत्पन्न तनाव और चुनौतीपूर्ण परिस्थितियाँ भी महिलाओं के सामने आती हैं, क्योंकि उन्हें पारंपरिक जिम्मेदारियों और नए सामाजिक भूमिकाओं के बीच संतुलन बनाए रखना पड़ता है।

महिलाओं पर आधुनिकीकरण के सकारात्मक प्रभाव

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय समाज में महिलाओं के जीवन में कई सकारात्मक परिवर्तन लाए हैं चाहे वह शिक्षा हो, रोजगार, सामाजिक एवं राजनीतिक भागीदारी, या फिर सूचना-तकनीक तक पहुँच। ये परिवर्तन न केवल व्यक्तिगत बल्कि सामूहिक स्तर पर भी महिलाओं की स्थिति को पुनर्परिभाषित कर रहे हैं। शिक्षा तक पहुँच में वृद्धि एक महत्वपूर्ण बदलाव रहा है। विद्यमान सामाजिक प्रथाओं व पूर्वाग्रहों के बावजूद, लड़कियों और महिलाएँ अब स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में बढ़-चढ़कर भाग ले रही हैं। इस प्रकार की शिक्षा महिलाओं को न केवल साक्षर बनाती है, बल्कि उन्हें आत्मनिर्भरता, जागरूकता, बेहतर अवसर और विकल्पों की समझ देती है। कार्यबल में महिलाओं की भागीदारी में निरंतर वृद्धि एक दृष्टिगोचर बदलाव है। नवीनतम आँकड़ों के अनुसार, MoSPI की PLFS रिपोर्ट 2023–24 बताती है कि महिला श्रम शक्ति भागीदारी में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है 2017–18 में लगभग 23-24% रही दर 2023–24 तक लगभग 40-42% तक पहुँच चुकी है। यह वृद्धि सिर्फ आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी महिलाओं को अधिक सक्रिय और स्वतंत्र बनाने की दिशा में सकारात्मक संकेत है।

राजनीतिक प्रतिनिधित्व और अधिकारों के विस्तार की ओर भी बदलाव देखने को मिल रहा है। आधुनिकता व जनजागरण की प्रक्रिया में महिलाओं में आत्म-बोध, सार्वजनिक जागरूकता और अधिकारों के प्रति सचेतना बढ़ी है, जिसके फलस्वरूप वे निर्णय-प्रक्रियाओं, लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और सरकारी नीतियों में शामिल हो रही हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आधुनिकीकरण ने महिलाओं के लिए निजी ही नहीं, बल्कि सार्वजनिक स्थान भी खोला है। पारिवारिक संरचना और वैवाहिक संबंधों में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। जैसे-जैसे महिलाएँ शिक्षित, आर्थिक रूप से सक्रिय और सामाजिक रूप से जागरूक होती हैं, पारंपरिक परिवार ढाँचाओं में पुनर्विचार होता है। पुरुषों और महिलाओं के बीच पारंपरिक भूमिकाओं का सीमांकन धीरे-धीरे बदल रहा है। महिलाएँ परिवार के निर्णयों में, आर्थिक प्रबंधन में, और बच्चों की परवरिश व शिक्षा में अधिक सक्रिय हो रही हैं। इसी प्रकार, स्वास्थ्य, प्रजनन अधिकार और लैंगिक जागरूकता के क्षेत्र में भी परिवर्तन देखने को मिला है। आधुनिक शिक्षा, सूचना और स्वास्थ्य-सुविधाओं तक बेहतर पहुँच ने महिलाओं में अपने स्वास्थ्य, प्रजनन स्वास्थ्य और अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ाई है। न केवल वे स्वास्थ्य सुविधाओं का उपयोग करने में बेहतर हो रही हैं, बल्कि अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठाने में भी सक्षम हो रही हैं।

डिजिटल सहभागिता और सूचना तक पहुँच ने महिलाओं को नए अवसर और मंच प्रदान किए हैं। इंटरनेट, स्मार्टफोन, सोशल मीडिया और डिजिटल सेवाओं की पहुँच ने महिलाओं को सूचना, शिक्षा, सामाजिक संपर्क, आर्थिक गतिविधियों और स्वयं-अभिव्यक्ति के नए साधन दिए हैं। डिजिटल पीढ़ी की महिलाएँ न केवल पारंपरिक सीमाओं को चुनौती दे रही हैं, बल्कि अपने अनुभव साझा कर रही हैं, अपने अधिकारों के लिए जागरूक हो रही हैं, और सामाजिक विमर्श में भाग ले रही हैं। इन सकारात्मक प्रभावों को विशेष क्षेत्र-वार उदाहरणों के माध्यम से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। झारखंड के ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं ने स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से सिलाई, बुनाई, हस्तशिल्प और जैविक खेती जैसे छोटे व्यवसाय शुरू किए हैं, जिससे वे परिवार के खर्चों में योगदान दे रही हैं और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त कर रही हैं। ग्रामीण महिलाओं की शिक्षा और डिजिटल साक्षरता कार्यक्रमों ने उन्हें बैंकिंग और ऑनलाइन लेन-देन की जानकारी भी दी है, जिससे उनके वित्तीय निर्णयों में सुधार हुआ है। शहरी क्षेत्रों में, जैसे दिल्ली, मुंबई और बैंगलोर, महिलाओं ने आईटी, वित्त और मीडिया उद्योगों में अपनी भागीदारी बढ़ाई है। उच्च शिक्षा और कौशल प्रशिक्षण के माध्यम से वे पेशेवर करियर में सफल रही हैं, और ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के माध्यम से स्वरोजगार और उद्यमिता में सक्रिय हैं। राजनीतिक और सामाजिक सहभागिता के क्षेत्र में, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की ग्रामीण पंचायतों में 33% आरक्षित सीटों के तहत महिलाओं ने स्थानीय सरकार में प्रतिनिधित्व हासिल किया है, जिससे वे नीतियों के निर्माण में शामिल होने के साथ-साथ स्वास्थ्य, शिक्षा और सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों पर सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। डिजिटल इंडिया पहल के तहत महाराष्ट्र और तमिलनाडु में महिलाएँ मोबाइल ऐप और सोशल मीडिया के माध्यम से स्वरोजगार, ऑनलाइन शिक्षा, स्वास्थ्य जानकारी और सरकारी योजनाओं की जानकारी प्राप्त कर रही हैं। डिजिटल तकनीक ने महिलाओं को पारंपरिक सीमाओं से परे जानकारी, नेटवर्क और नए अवसर उपलब्ध कराए हैं।

देशव्यापी आँकड़ों के अनुसार, 2017–18 में महिला श्रम शक्ति भागीदारी दर लगभग 23.3% थी, जो 2022–23 में लगभग 37% और 2023–24 में 40.3% तक बढ़ चुकी है। महिला-संचालित MSMEs की संख्या 2010–11 से 2023–24 के बीच लगभग दोगुनी हुई है। ग्रामीण भारत में महिलाएँ अब स्वरोजगार और स्व-निर्मित उद्योगों की ओर मुड़ रही हैं, जो उनकी आय, सामाजिक सम्मान और आत्मनिर्भरता को मजबूत कर रहा है। इस प्रकार, आधुनिकीकरण ने न केवल व्यक्तिगत स्तर पर महिलाओं के जीवन को बेहतर और विविध बनाया है, बल्कि समाज में उनकी स्थिति, स्वतंत्रता, स्वायत्तता और भागीदारी के नए आयाम खोले हैं। यह सामाजिक प्रगति महिलाओं को पारंपरिक सीमाओं से ऊपर उठकर नए अवसर, आवाज़ और पहचान हासिल करने की दिशा में प्रेरित करती है।

महिलाओं पर आधुनिकीकरण के नकारात्मक एवं चुनौतीपूर्ण प्रभाव

आधुनिकीकरण के सकारात्मक प्रभावों के साथ-साथ इसके कुछ नकारात्मक और चुनौतीपूर्ण पहलू भी भारतीय महिलाओं के जीवन पर प्रभाव डालते हैं। आधुनिक समाज में महिलाओं को कई बार "दोहरी भूमिकाओं" का दबाव महसूस होता है। एक ओर वे पारंपरिक पारिवारिक जिम्मेदारियों जैसे बच्चों की परवरिश, घर का प्रबंधन और बुजुर्गों की देखभाल को निभाने के लिए बाध्य होती हैं, वहीं दूसरी ओर पेशेवर जीवन में पूर्ण सक्रियता और कार्यक्षमता की अपेक्षा भी उनसे की जाती है। इस दोहरी जिम्मेदारी का दबाव मानसिक तनाव, समय प्रबंधन में कठिनाई और व्यक्तिगत जीवन में असंतुलन पैदा करता है। कार्यस्थलों पर लैंगिक भेदभाव भी एक प्रमुख चुनौती है। कई कंपनियों और संस्थाओं में महिलाओं के लिए समान अवसर और समान वेतन की गारंटी नहीं होती। पुरुष कर्मचारियों के मुकाबले महिलाओं को पदोन्नति, नेतृत्व और उच्च जिम्मेदारियों में कम अवसर मिलते हैं। इसके साथ ही कार्यस्थल में यौन उत्पीड़न, असंवेदनशील व्यवहार और पारंपरिक मान्यताओं के आधार पर निर्णय लेने की प्रवृत्ति महिलाओं के आत्म-सम्मान और करियर विकास को प्रभावित करती है।

उपभोक्तावादी संस्कृति और महिलाओं का वस्तुकरण भी आधुनिक समाज की एक चुनौतीपूर्ण प्रक्रिया है। विज्ञापन, मीडिया और डिजिटल प्लेटफार्म पर महिलाओं की छवि अक्सर वस्तु के रूप में प्रस्तुत की जाती है, जो समाज में लैंगिक असमानता और महिला प्रतीक के प्रति गलत दृष्टिकोण को बढ़ावा देती है। इससे महिलाओं के सामाजिक मूल्य, आत्म-सम्मान और व्यक्तिगत पहचान पर

नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। पारंपरिक मूल्यों और आधुनिक अपेक्षाओं के बीच संघर्ष भी महिलाओं के जीवन में तनाव का कारण बनता है। आधुनिक समाज में शिक्षा, रोजगार और स्वतंत्रता के अवसर मिलने के बावजूद, कई परिवार और समाज अब भी पारंपरिक नियमों, रीति-रिवाजों और लिंग आधारित अपेक्षाओं को बनाए रखते हैं। यह विरोधाभास महिलाओं को यह निर्णय लेने में कठिनाई में डालता है कि वे कितनी परंपराओं का पालन करें और किन अवसरों का लाभ उठाएँ, जिससे मानसिक और सामाजिक दबाव उत्पन्न होता है।

डिजिटल विभाजन और साइबर उत्पीड़न भी आधुनिक तकनीकी प्रगति की छाया में सामने आने वाली चुनौतियाँ हैं। डिजिटल प्लेटफार्म और सोशल मीडिया महिलाओं के लिए नए अवसर लेकर आए हैं, लेकिन इससे ऑनलाइन उत्पीड़न, ट्रोलिंग, डेटा चोरी और व्यक्तिगत जानकारी के दुरुपयोग का खतरा भी बढ़ा है। ग्रामीण और सीमांत क्षेत्रों की महिलाएँ अक्सर डिजिटल साक्षरता और संसाधनों की कमी के कारण इन खतरों के प्रति अधिक संवेदनशील रहती हैं। इस प्रकार, आधुनिकीकरण ने जहां महिलाओं को अवसर, स्वतंत्रता और सामाजिक सहभागिता के नए आयाम प्रदान किए हैं, वहीं इसके साथ ही नए तनाव, असमानताएँ और सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्ष भी उत्पन्न हुए हैं। यह आवश्यक है कि सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षणिक नीतियाँ इन नकारात्मक पहलुओं को समझते हुए महिलाओं के लिए सुरक्षित, समान और संतुलित वातावरण सुनिश्चित करें।

निष्कर्ष

आधुनिकीकरण के प्रभाव ने भारतीय समाज में महिलाओं के जीवन को बहुआयामी दृष्टि से बदलने की प्रक्रिया को गति दी है। यह केवल आर्थिक या शैक्षिक परिवर्तन तक सीमित नहीं रहा, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी महिलाओं की स्थिति में गहरा प्रभाव डाल रहा है। महिलाओं की शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और डिजिटल सहभागिता जैसी विविध क्षेत्रों में बढ़ती भागीदारी यह संकेत देती है कि समाज में महिलाओं के अधिकारों और अवसरों की दिशा में सुधार हो रहा है। आधुनिक शिक्षा ने महिलाओं को न केवल साक्षर बनाया है, बल्कि उनके सोचने, निर्णय लेने और आत्मनिर्भर बनने की क्षमता को भी मजबूत किया है। जब महिलाएँ शिक्षा प्राप्त करती हैं, तो वे अपने जीवन के विभिन्न पहलुओं में अधिक आत्मविश्वास और स्वतंत्रता के साथ निर्णय लेने में सक्षम होती हैं। यह उनके पारिवारिक जीवन, सामाजिक पहचान और पेशेवर करियर में सकारात्मक बदलाव लाता है। आधुनिकीकरण ने महिलाओं के लिए रोजगार के नए अवसर भी उत्पन्न किए हैं। ग्रामीण और शहरी दोनों ही क्षेत्रों में महिलाएँ पारंपरिक घरेलू जिम्मेदारियों के अलावा स्वरोजगार, उद्यमिता और संगठित क्षेत्रों में सक्रिय हो रही हैं। इससे न केवल उनकी आर्थिक स्वतंत्रता बढ़ी है, बल्कि समाज में उनकी स्वीकृति और सम्मान में भी वृद्धि हुई है। रोजगार में भागीदारी ने महिलाओं को परिवार और समाज में निर्णय लेने की क्षमता दी है, जिससे वे न केवल निजी बल्कि सार्वजनिक जीवन में भी सक्रिय रूप से योगदान दे रही हैं। साथ ही, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सामाजिक सहभागिता के अवसर भी महिलाओं की स्थिति को मजबूत करने में सहायक रहे हैं। महिलाओं की बढ़ती भागीदारी ने नीतियों और निर्णय प्रक्रियाओं में उनके दृष्टिकोण और आवश्यकताओं को शामिल करने का मार्ग प्रशस्त किया है। पारंपरिक परिवार संरचना और लिंग आधारित भूमिकाओं में धीरे-धीरे परिवर्तन देखने को मिला है। महिलाएँ परिवार के निर्णयों, आर्थिक प्रबंधन और बच्चों की परवरिश में अधिक सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। इस प्रकार, आधुनिकीकरण ने महिलाओं को केवल व्यक्तिगत स्वतंत्रता ही नहीं, बल्कि सामाजिक और सार्वजनिक जीवन में समान अवसर भी प्रदान किए हैं।

आधुनिकता के साथ महिलाओं के सामने कई चुनौतियाँ और दबाव भी बढ़े हैं। दोहरी भूमिकाओं का दबाव, पारंपरिक सामाजिक अपेक्षाओं और आधुनिक जीवन की मांगों के बीच संतुलन बनाने की आवश्यकता, कार्यस्थलों पर लैंगिक असमानता, और डिजिटल दुनिया में उत्पन्न खतरे, ये सभी ऐसे पहलू हैं जिनसे महिलाओं को निपटना पड़ता है। इन चुनौतियों के बावजूद, महिलाओं ने इन परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढालना और अपने अधिकारों के लिए सक्रिय रूप से संघर्ष करना जारी रखा है। सरकार और समाज द्वारा किए गए प्रयास भी महिलाओं के सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। शिक्षा, कौशल विकास, सुरक्षा और सामाजिक नीतियाँ महिलाओं के अवसरों को बढ़ाने में सहायक रही हैं। इसके साथ ही, समाज में महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण और सामाजिक

जागरूकता में धीरे-धीरे बदलाव आ रहा है, जो लिंग समानता और महिला सशक्तिकरण को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण है। सारांश रूप में कहा जा सकता है कि आधुनिकीकरण ने महिलाओं को नई संभावनाएँ, अवसर और स्वतंत्रता प्रदान की हैं। इसके माध्यम से महिलाएँ केवल पारंपरिक सीमाओं से ऊपर उठी हैं, बल्कि उन्होंने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की है। इसके बावजूद, चुनौतियाँ और दबाव अब भी मौजूद हैं, और उनका समाधान नीतिगत, सामाजिक और शैक्षिक प्रयासों के माध्यम से ही संभव है। यदि समाज और नीतिकार इन पहलुओं पर लगातार ध्यान दें, तो यह परिवर्तन महिलाओं के जीवन में स्थायी और समावेशी रूप में स्थापित हो सकता है। अंततः, आधुनिकीकरण महिलाओं के जीवन में एक सशक्त और स्वतंत्र भविष्य की दिशा में मार्गदर्शन करता है। यह न केवल व्यक्तिगत स्तर पर उनकी क्षमता और आत्म-सम्मान को बढ़ाता है, बल्कि समाज में उनकी समान भागीदारी और अधिकारों को भी सुनिश्चित करता है। यह स्पष्ट करता है कि महिलाओं का सशक्तिकरण किसी भी राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक विकास का अनिवार्य अंग है, और इसके लिए शिक्षा, अवसर, सामाजिक समर्थन और समानता सभी का संतुलित विकास आवश्यक है।

References-

1. बोरिसोव, रोमन (2020), मैक्स वेबर एंड मॉडर्निटी: मॉडर्नाइजेशन, रेशनलाइजेशन, लेजीटीमेशन, दिसंबर 2020, यूक्रेनी सोशियोलॉजिकल जर्नल
2. https://sociology.institute/sociology-of-development/giddens-perspective-modernity-dynamic-transformation
3. https://journals.sagepub.com/doi/10.1177/1468795X12454476
4. इरा दास (2019), स्टेटस ऑफ़ वीमेन: नार्थ इस्टर्न रीजन ऑफ़ इंडिया वर्सेज इंडिया, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ साइंटिफिक रिसर्च एंड ग्रोथ 3(3):1
5. सिंह, जे. पी. (2016), आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, पीएचआई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, न्यू दिल्ली, पृ.सं.-438
6. हसन, मोजमिला (1993), भारतीय महिला एवं आधुनिकीकरण, एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली, पृ.सं-41

ईसाई मिशनरीयों का मुण्डा जनजाति के शैक्षणिक विकास में प्रभाव: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन (खूँटी प्रखण्ड के विशेष संदर्भ में)

बसन्त सुरीन
एम.ए., एम. फील,
स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग
राँची विश्वविधालय, राँची

सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र खूँटी प्रखण्ड में मुण्डा जनजाति के शैक्षणिक परिदृश्य पर ईसाई मिशनरी शिक्षा द्वारा उत्पन्न परिवर्तन का समग्र विश्लेषण प्रस्तुत करता है। पारंपरिक रूप से मुण्डा समाज में ज्ञान-व्यवस्था समुदाय-केंद्रित अनुभवों, लोकपरंपराओं और जीवन-व्यावहारिक कौशलों पर आधारित थी, जिसके कारण औपचारिक शिक्षा का प्रसार सीमित रहा। मिशनरियों के आगमन के बाद शिक्षा की संरचना में एक नया आयाम जुड़ा, जिसने न केवल साक्षरता और भाषाई दक्षता में वृद्धि की, बल्कि स्त्री शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण और संस्थागत शिक्षण को भी सामुदायिक जीवन का हिस्सा बनाया। प्रस्तुत अध्ययन में द्वितीयक स्रोतों के आधार पर यह स्पष्ट किया गया है कि मिशनरी प्रयासों ने मुण्डा युवाओं के लिए आधुनिक रोजगार, प्रशासनिक अवसरों और सामाजिक सहभागिता की संभावनाएँ विस्तृत कीं, जिससे समुदाय के भीतर नेतृत्व, आकांक्षा और सामाजिक गतिशीलता के नए रूप उभरे। हालाँकि शिक्षा से प्राप्त उपलब्धियों के साथ-साथ यह भी देखा गया कि नई शिक्षण-प्रणालियों ने सांस्कृतिक पहचान, धार्मिक प्रथाओं और पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं को लेकर कई विमर्शों को जन्म दिया। परंपरा और आधुनिकता के बीच यह अंतर्संबंध अध्ययन का एक महत्वपूर्ण पक्ष बनकर उभरता है। आधुनिकीकरण और सांस्कृतिक संपर्क जैसे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों के आधार पर विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि मिशनरी शिक्षा केवल ज्ञान का औपचारिक विस्तार नहीं थी, बल्कि मुण्डा समाज के भीतर एक गहन सामाजिक पुनर्गठन की प्रक्रिया को भी गति प्रदान करती थी। शोध इस बात पर बल देता है कि जनजातीय समुदायों में शिक्षा का प्रभाव बहुआयामी होता है, जिसे उनके सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भों के भीतर समझना आवश्यक है।

मुख्य शब्द: मुण्डा समाज, मिशनरी शिक्षा, खूँटी प्रखण्ड, सांस्कृतिक संपर्क, परम्परा

प्रस्तावना

झारखंड के मध्य-पश्चिमी अंचल में निवास करने वाली मुण्डा जनजाति अपनी विशिष्ट सामाजिक संरचना, सामुदायिक जीवन-व्यवस्था और सांस्कृतिक परंपराओं के लिए जानी जाती है। उनकी सामाजिक प्रणाली 'खुटकाटी' भूमि स्वामित्व व्यवस्था, पारंपरिक ग्राम-सभा, और 'पाहन' तथा 'मूड़ा' जैसी धार्मिक-सामुदायिक संस्थाओं पर आधारित रही है। सामुदायिक श्रम, प्रकृति-आधारित आस्था प्रणाली, और नृत्य-संगीत की समृद्ध परंपराएँ मुण्डा जीवन की मूल धुरी का निर्माण करती हैं। लंबे समय तक इनकी आर्थिक संरचना कृषि, वनोपज और श्रम-निर्भर गतिविधियों पर केंद्रित रही, जिससे शिक्षा को सामाजिक प्रतिष्ठा का माध्यम मानने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत धीमी विकसित हुई। औपनिवेशिक काल तक यह समुदाय मुख्यतः मौखिक ज्ञान-परंपरा और अनुभव-आधारित शिक्षण पद्धतियों पर निर्भर था। खूँटी प्रखण्ड, जहाँ मुण्डा जनसंख्या का सघन रूप से निवास है, लंबे समय तक शैक्षणिक अवसाद और संरचनात्मक बाधाओं का सामना करता रहा। औपचारिक विद्यालयों की न्यून उपलब्धता, भू-सामाजिक कठिनाइयाँ, आर्थिक निर्भरता और बाल श्रम की प्रवृत्ति शिक्षा के विस्तार में प्रमुख अवरोध रहे। भाषाई अंतराल विशेषतः कुरुख या स्थानीय उपभाषाओं से हिंदी/अंग्रेज़ी माध्यम की दूरी ने बच्चों

की प्रारंभिक स्कूली सफलता को प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त, सामाजिक रूप से शिक्षा को तात्कालिक आर्थिक लाभ से असंबद्ध मानने की पारंपरिक धारणाएँ और लड़कियों की शिक्षा के प्रति आरंभिक उदासीनता भी प्रगति में बाधक रहीं। इस प्रकार, ऐतिहासिक संदर्भों में खूँटी की शिक्षा-स्थिति ने निरंतर संस्थागत और सामाजिक-मानसिक चुनौतियों का सामना किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ईसाई मिशनरियों की उपस्थिति ने खूँटी और आसपास के क्षेत्रों में शिक्षा के परिदृश्य को एक नई दिशा प्रदान की। मिशनरियों ने प्राथमिक विद्यालयों, मध्य विद्यालयों, आवासीय विद्यालयों तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्रों की स्थापना के माध्यम से शिक्षण का संगठित ढाँचा विकसित किया। आधुनिक पद्धतियों, स्थानीय भाषाई अनुकूलन और सामुदायिक सहभागिता पर आधारित उनके प्रयासों ने मुण्डा समुदाय में साक्षरता के प्रति जागरूकता उत्पन्न की। स्वास्थ्य सेवाओं, सामाजिक सहायता और जागृति अभियानों के समन्वय ने शिक्षा को समुदाय के जीवन में स्वीकार्यता दिलाने में भूमिका निभाई। यद्यपि इनके प्रयासों के साथ सांस्कृतिक परिवर्तन की बहस भी जुड़ी रही, परंतु शिक्षण-संरचना के निर्माण में उनकी भूमिका ऐतिहासिक रूप से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। मुण्डा समाज में शिक्षा से उत्पन्न सामाजिक परिवर्तन, आधुनिकता की स्वीकृति तथा सांस्कृतिक पुनर्गठन के प्रश्न आज भी अकादमिक विमर्श का महत्वपूर्ण भाग हैं। खूँटी क्षेत्र में मिशनरी शिक्षा का प्रभाव केवल साक्षरता तक सीमित नहीं रहा; उसने सामाजिक गतिशीलता, विकास चेतना और पहचान-निर्माण की प्रक्रियाओं को भी प्रभावित किया। वर्तमान अध्ययन इस ऐतिहासिक अंतःक्रिया का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है, जिससे यह समझा जा सके कि किस प्रकार मिशनरी शिक्षा ने मुण्डा समुदाय की संरचनाओं, धारणाओं और आकांक्षाओं को आकार दिया।

अध्ययन क्षेत्र का परिचय: खूँटी प्रखण्ड

खूँटी प्रखण्ड झारखंड के दक्षिणी भाग में छोटा नागपुर पठार के मध्यवर्ती क्षेत्र में स्थित है, जहाँ की भौगोलिक संरचना मध्यम ऊँचाई वाली पहाड़ियों, लाल दोमट मिट्टी और घने वनों से निर्मित है। सेन्सस ऑफ़ इंडिया (2011) के अनुसार, खूँटी जिले के लगभग 58% क्षेत्र पर वनावरण फैला हुआ है, जिससे स्थानीय अर्थव्यवस्था कृषि, वनोंपज संग्रह और श्रम-निर्भर गतिविधियों पर आधारित रहती है। सामाजिक दृष्टि से यह क्षेत्र बहुल-सांस्कृतिक अवश्य है, किंतु यहाँ मुण्डा, उराँव और संबंधित जनजातीय समुदायों की प्रधानता इसे विशिष्ट पहचान प्रदान करती है। आर्थिक दृष्टि से अधिकांश परिवार वर्षा-आश्रित कृषि, लघु पशुपालन और वनों पर निर्भर हैं, जबकि झारखंड आर्थिक सर्वेक्षण (2022–23) दर्शाता है कि खूँटी जिले में सिंचित क्षेत्र 25% से कम है, जिसके कारण आजीविका का ढाँचा प्रकृति-आश्रित बना रहता है। जनजातीय अध्ययन बताते हैं कि इस क्षेत्र में प्रवसन एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक रणनीति है, जैसा कि खाखा (2008) ने विश्लेषित किया है। खूँटी की जनसंख्या संरचना में मुण्डा समुदाय की उपस्थिति विशेष रूप से प्रमुख है; सेन्सस 2011 के अनुसार, जिले की कुल जनसंख्या में लगभग 73% लोग अनुसूचित जनजाति वर्ग से आते हैं, जिनमें मुण्डा जनसंख्या सर्वाधिक प्रभावशाली है। हॉफमैन एवं एमेलेन (1937) द्वारा लिखित एनसाइक्लोपीडिया मुंडारिका में वर्णित "खुटकाटी" भूमि प्रणाली आज भी समुदाय की सामाजिक-आर्थिक संरचना पर प्रभाव डालती है। जनजातीय अनुसंधान संस्थान की रिपोर्ट (2019) दर्शाती है कि अधिकांश मुण्डा परिवार औसतन 5–6 सदस्यों के होते हैं तथा गाँव-आधारित सामुदायिक संरचना आज भी सामाजिक जीवन की धुरी बनी हुई है।

शिक्षा के इतिहास पर दृष्टि डालें तो खूँटी क्षेत्र में औपचारिक शिक्षा का विकास उपनिवेश-पूर्व काल में अत्यंत सीमित था। उस समय शिक्षा मुख्यतः मौखिक परंपरा, कृषिकर्म, वनजीवन और सांस्कृतिक अभ्यासों से जुड़ी हुई थी (सिन्हा, 1993)। औपनिवेशिक काल में, विशेष रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से, ईसाई मिशनरियों का प्रवेश खूँटी और आसपास के क्षेत्रों में शिक्षा के संस्थागत विकास का प्रारंभिक आधार बना। गोस्नर इवेंजेलिकल लूथरन मिशन ने 1845 के आस-पास में राँची और खूँटी के आसपास प्राथमिक शिक्षा के लिए विद्यालयों की स्थापना की, जिसके दस्तावेज जीईएलएम अभिलेखागार (1850-1900) में उपलब्ध हैं। डीनी (2008) के अनुसार, मिशनरियों ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक खूँटी क्षेत्र में 10 से अधिक प्राथमिक विद्यालय स्थापित किए, जिनमें स्थानीय भाषा का उपयोग, अनुशासित पाठ्यक्रम तथा स्वास्थ्य-सेवा आधारित सहायक गतिविधियाँ शामिल थीं। इस हस्तक्षेप ने शिक्षा को जनजातीय

समुदायों के सामाजिक जीवन से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्क्रेफ्सरुड (1881) ने भी अपनी रिपोर्टों में उल्लेख किया है कि मिशनरी विद्यालयों ने जनजातीय बच्चों के लिए आवासीय शिक्षा का ढाँचा विकसित किया, जो उस समय सरकारी शिक्षा संस्थाओं में उपलब्ध नहीं था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकारी विद्यालयों, जनजातीय छात्रवृत्ति योजनाओं और आश्रम विद्यालयों की स्थापना ने शिक्षा तक पहुँच को और विस्तृत किया । जिला सांख्यिकी पुस्तिका खूंटी (2020) के अनुसार, 1951 में जहाँ प्राथमिक विद्यालयों की संख्या 50 से कम थी, वहीं 2019 तक इनकी संख्या 300 से अधिक हो गई। इसी अवधि में साक्षरता दर में भी उल्लेखनीय वृद्धि दर्ज हुई; 2001 से 2011 के बीच साक्षरता दर में 14.9% की वृद्धि दर्ज की गई, जिसमें जनजातीय समुदाय की शैक्षणिक भागीदारी में सकारात्मक परिवर्तन दिखाई देता है । इस प्रकार, खूँटी प्रखण्ड का भूगोल, जनसांख्यिकी और औपनिवेशिक-उत्तर शैक्षणिक इतिहास न केवल इसके सामाजिक ढाँचे को आकार देता है, बल्कि मुण्डा समुदाय में शिक्षा के प्रसार एवं परिवर्तन प्रक्रियाओं को समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि भी प्रदान करता है।

सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

खूँटी प्रखण्ड में मुण्डा जनजाति के शैक्षणिक विकास पर ईसाई मिशनरियों के प्रभाव को समझने के लिए समाजशास्त्र के अनेक सैद्धांतिक प्रतिमान उपयोगी सिद्ध होते हैं। इन प्रतिमानों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा केवल ज्ञान का प्रसार नहीं है, बल्कि सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक पहचान और सामुदायिक परिवर्तन से गहराई से जुड़ी सामाजिक प्रक्रिया है। इस अध्ययन में मुख्य रूप से आधुनिकीकरण सिद्धांत, सांस्कृतिक संपर्क सिद्धांत, और सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत को विश्लेषणात्मक उपकरण के रूप में अपनाया गया है, ताकि मिशनरी शिक्षा और मुण्डा समाज के बीच उत्पन्न बहुस्तरीय संबंधों को समग्रता से समझा जा सके।

आधुनिकीकरण

आधुनिकीकरण इस विचार पर आधारित है कि पारंपरिक समाज आधुनिकता की ओर क्रमिक रूप से अग्रसर होते हैं, और इस प्रक्रिया में तकनीक, शिक्षा, आर्थिक संरचना तथा सांस्कृतिक मान्यताओं में व्यापक परिवर्तन देखने को मिलता है। शिक्षा को इस सिद्धांत में परिवर्तन का प्रमुख साधन माना गया है। खूँटी क्षेत्र में मिशनरी विद्यालयों की स्थापना ने मुण्डा समुदाय को औपचारिक शिक्षा, साक्षरता और आधुनिक प्रशासनिक भाषाओं से परिचित कराया, जिससे सामाजिक गतिशीलता के नए अवसर निर्मित हुए। मिशनरियों द्वारा प्रस्तुत पाठ्यक्रम, अनुशासन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और व्यावसायिक प्रशिक्षण ने पारंपरिक ज्ञान-व्यवस्थाओं को धीरे-धीरे आधुनिक शैक्षणिक प्रणाली से जोड़ा। इस संदर्भ में, आधुनिकीकरण सिद्धांत यह समझने में मदद करता है कि किस प्रकार मिशनरी शिक्षा ने समुदाय को व्यापक सामाजिक-आर्थिक संरचना में सम्मिलित करने में भूमिका निभाई। साथ ही, यह सिद्धांत उन चुनौतियों पर भी प्रकाश डालता है जो पारंपरिक मूल्यों और आधुनिक शिक्षा के मध्य उत्पन्न तनाव से जुड़ी होती हैं।

सांस्कृतिक संपर्क

सांस्कृतिक संपर्क समाजों के बीच होने वाले संपर्क, अंतःक्रिया और सांस्कृतिक उधार की प्रक्रियाओं को समझने का आधार प्रदान करता है। जब दो संस्कृतियाँ जैसे मुण्डा जनजातीय संस्कृति और मिशनरी-प्रेरित पश्चिमी शिक्षा एक-दूसरे के संपर्क में आती हैं, तो सांस्कृतिक अनुकूलन, प्रतिरोध, संघर्ष और संश्लेषण की विविध प्रक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। खूँटी में मिशनरी शिक्षा केवल ज्ञान प्रदान करने तक सीमित नहीं थी; उसने समुदाय की भाषाई आदतों, धार्मिक परंपराओं, वरीयताओं और सामाजिक जीवन पद्धतियों को भी प्रभावित किया। शिक्षा के माध्यम से धर्मांतरण, स्वास्थ्य-स्वच्छता के नए मानक, लिंग-सम्बंधी भूमिकाओं में परिवर्तन और सामुदायिक निर्णय-प्रक्रिया में बदलाव जैसे क्षेत्र सांस्कृतिक संपर्क सिद्धांत के अंतर्गत समझे जा सकते हैं। इस सिद्धांत की उपयोगिता इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि यह परिवर्तन को एकतरफा नहीं मानता मुण्डा समुदाय ने मिशनरी शिक्षा को अपने सामाजिक अनुभवों, आवश्यकताओं और परंपराओं के अनुरूप अपनाया या पुनर्गठित किया। इस प्रकार यह सिद्धांत हमें परिवर्तन की जटिलता, प्रतिरोध एवं स्वीकृति, दोनों को समझने में सक्षम बनाता है।

सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक परिवर्तन समाज में दीर्घकालिक बदलावों की प्रकृति, दिशा और प्रभावों का अध्ययन करता है। मिशनरी शिक्षा ने मुण्डा समाज में जो परिवर्तन उत्पन्न किए जैसे साक्षरता में वृद्धि, रोजगार के नए अवसर, सामुदायिक नेतृत्व में परिवर्तन, स्त्री शिक्षा का प्रसार, और सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि वे सभी इस सिद्धांत के अंतर्गत समझे जा सकते हैं। यह सिद्धांत विशेष रूप से इस बात पर प्रकाश डालता है कि शिक्षा समाज के भीतर शक्ति-संरचना, सामाजिक स्तरीकरण एवं सामुदायिक भूमिकाओं का पुनर्गठन कैसे करती है। खूँटी में शिक्षा का विस्तार केवल व्यक्तिगत विकास का माध्यम नहीं बना, बल्कि उसने सामुदायिक आत्मबोध, पहचान-निर्माण और विकास की आकांक्षा को भी प्रभावित किया। सामाजिक परिवर्तन यह भी दर्शाता है कि शिक्षा से उत्पन्न बदलाव रैखिक न होकर बहुस्तरीय होते हैं कुछ बदलाव तेजी से दिखाई देते हैं, जबकि कुछ संरचनात्मक स्तर पर धीरे-धीरे विकसित होते हैं। मिशनरी शिक्षा के संदर्भ में यह सिद्धांत हमें यह समझने में मदद करता है कि किस प्रकार ज्ञान, संस्कृति और सामाजिक संरचना के मध्य अंतःक्रिया से दीर्घकालिक सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न होते हैं।

साहित्य की समीक्षा

वंदना ठाकुर (2020), लेखिका के अनुसार यह कृति आदिवासी समाज में शिक्षा की शुरुआत, उसके सामाजिक आधार और मिशनरी हस्तक्षेपों की भूमिका को गहराई से समझने का प्रयास करती है। विशेष रूप से 1745 में बेतिया में स्थापित रोमन कैथोलिक मिशन की शैक्षिक पहल को आदिवासी शिक्षा के औपचारिक विकास की प्रारंभिक कड़ी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। समीक्षा में स्पष्ट होता है कि मिशनरियों ने शिक्षा को केवल धर्म-प्रचार तक सीमित न रखकर स्वास्थ्य, भाषा-प्रशिक्षण, अनुशासन और सामाजिक व्यवहार सुधार जैसे व्यापक उद्देश्यों से जोड़ा। साथ ही यह भी रेखांकित किया गया है कि पारंपरिक आदिवासी ज्ञान-पद्धतियों और मिशनरी शिक्षण संरचनाओं के बीच एक जटिल अंतर्संबंध विकसित हुआ जहाँ अवसरों का विस्तार हुआ, वहीं सांस्कृतिक अस्मिता और पहचान को लेकर नए प्रश्न भी सामने आए।

उमेश कुमार वर्मा (1991), लेखक के अनुसार यह पुस्तक बिहार और झारखंड के जनजातीय जीवन को सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से समझने का एक गंभीर प्रयास है। विशेष रूप से आदिवासी समुदायों की जीवन-पद्धति, उनके परंपरागत ज्ञान-संसाधन, ग्राम-व्यवस्था, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक संरचनाओं का विश्लेषण अत्यंत प्रमाणिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। समीक्षा के अनुसार यह रचना जनजातीय संस्कृति को केवल लोक-परंपराओं के रूप में नहीं देखती, बल्कि उसे एक जीवंत और निरंतर विकसित होने वाले सामाजिक तंत्र के रूप में समझती है। इसमें यह भी दर्शाया गया है कि कैसे बाहरी प्रभाव चाहे प्रशासनिक हों, मिशनरी गतिविधियाँ हों या आधुनिक शिक्षा जनजातीय समाज की पहचान, आत्मनिर्भरता और सामुदायिक संगठन को प्रभावित करते हैं। पुस्तक यह संकेत करती है कि परिवर्तन अवश्यंभावी है, परंतु उसकी दिशा और प्रकृति समुदाय की सांस्कृतिक शक्ति, सामूहिक चेतना और ऐतिहासिक अनुभवों द्वारा निर्धारित होती है।

नर्मदेश्वर प्रसाद (1961), लेखक ने भारतीय समाज में जनजातीय समूहों की स्थिति, संरचना और ऐतिहासिक विकास को समझने का एक व्यापक और समालोचनात्मक प्रयास किया है। पुस्तक जनजातीय समुदायों को भारतीय सामाजिक ताने-बाने का एक महत्त्वपूर्ण, किंतु लंबे समय तक उपेक्षित हिस्सा मानते हुए उनके आर्थिक जीवन, सांस्कृतिक प्रतीकों, धार्मिक विश्वासों और राजनीतिक संबंधों का गहन विश्लेषण करती है। समीक्षा के अनुसार यह रचना इस बात पर विशेष बल देती है कि जनजातीय समाज सदियों से स्वतंत्र संगठनात्मक ढाँचों, सामुदायिक संपत्ति के सिद्धांतों और आत्मनिर्भर जीवनशैली पर आधारित रहा है, किन्तु उपनिवेशवाद, प्रशासनिक हस्तक्षेप और मिशनरी गतिविधियों ने इसके कई आयामों को चुनौती दी। लेखक यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि आधुनिकता और विकास योजनाएँ तभी फलदायी होती हैं जब वे स्थानीय परंपराओं, भाषाओं और सामुदायिक मूल्यों के साथ संतुलन स्थापित कर सकें।

उद्देश्य

1. खूँटी प्रखण्ड में मिशनरी शिक्षा के कारण मुण्डा समुदाय में हुए शैक्षणिक विस्तार को समझना।
2. शिक्षा के प्रभाव से मुण्डा समाज की सामाजिक संरचना में आए परिवर्तनों की पहचान करना।

उपकल्पना

1. मिशनरी शिक्षा की उपलब्धता ने मुण्डा समाज में साक्षरता और विद्यालयी भागीदारी को उल्लेखनीय रूप से बढ़ाया।
2. शिक्षा ने समुदाय में नई सामाजिक भूमिकाओं, नेतृत्व और सामाजिक गतिशीलता को उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

शोध विधि

प्रस्तुत अध्ययन पूरी तरह द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है और खूँटी प्रखण्ड में मुण्डा समाज पर मिशनरी शिक्षा के प्रभाव को ऐतिहासिक व समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने के लिए विकसित किया गया है। शोध में विश्वसनीय साहित्य जैसे पुस्तकें, शोध-पत्र, मिशनरी अभिलेख, सरकारी दस्तावेज़ और जनगणना रिपोर्ट को सावधानीपूर्वक चुना गया। अध्ययन को गहराई प्रदान करने के लिए आधुनिकीकरण, सांस्कृतिक संपर्क, और सामाजिक परिवर्तन जैसे समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का प्रयोग किया गया, जिनके माध्यम से मिशनरी शिक्षा और मुण्डा समाज के बीच विकसित अंतःक्रिया को समझा गया। सभी स्रोतों की आलोचनात्मक समीक्षा भी की गई, ताकि संभावित पक्षपात से बचते हुए निष्कर्षों की विश्वसनीयता सुनिश्चित की जा सके। अंत में, संकलित तथ्यों और सिद्धांतों के आधार पर ऐसे निष्कर्ष तैयार किए गए जो मुण्डा समाज में मिशनरी शिक्षा द्वारा उत्पन्न बहुआयामी परिवर्तन को समग्रता में समझने में सहायता करते हैं।

मुण्डा समाज में शिक्षा का पारंपरिक स्वरूप

औपचारिक शिक्षा के आगमन से पूर्व मुण्डा समाज की शिक्षा प्रणाली पूर्णतः सामुदायिक, अनुभवजन्य और जीवन-उन्मुख थी। यह शिक्षा किसी संस्थागत ढाँचे में बंधी नहीं थी, बल्कि सामाजिक जीवन, आर्थिक गतिविधियों और सांस्कृतिक परंपराओं के भीतर ही विकसित होती थी। मुण्डा समाज में शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान देना नहीं था, बल्कि व्यक्ति को समुदाय में उसकी सामाजिक भूमिका के लिए तैयार करना था। बच्चे परिवार और गाँव के अन्य सदस्यों के साथ श्रम, अनुष्ठानों, नृत्य-संगीत और कृषि आधारित गतिविधियों में भाग लेकर जीवन की आवश्यक दक्षताएँ सीखते थे। मुण्डा समाज में पारंपरिक ज्ञान-पद्धति मुख्यतः मौखिक परंपरा पर आधारित थी, जिसमें कहानियों, लोकगीतों, मिथकों, कथाओं और अनुष्ठानों के माध्यम से नैतिक मूल्य, ऐतिहासिक स्मृतियाँ, कृषि संबंधी ज्ञान तथा सामुदायिक जीवन के नियम बच्चों तक पहुँचते थे।

कौशल-आधारित शिक्षा भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी। लड़के कृषि कार्य, शिकार, उपकरण निर्माण और संरक्षण से संबंधित तकनीकों को सीखते थे, जबकि लड़कियाँ घरेलू प्रबंधन, भोजन-संग्रह, वस्त्र निर्माण तथा सामाजिक देखभाल से जुड़ी दक्षताओं को अपनाती थीं। सामुदायिक स्थान जैसे अखड़ा (नृत्य-स्थल) और सरना (धर्मस्थल) अनौपचारिक शिक्षण केंद्रों की भूमिका निभाते थे। अखड़ा केवल मनोरंजन का स्थान नहीं था, बल्कि सामुदायिक अनुशासन, सहकार, सामूहिक चेतना और कला-निपुणता के प्रशिक्षण का महत्वपूर्ण क्षेत्र था। इस पारंपरिक शिक्षण प्रणाली में वरिष्ठों का स्थान विशेष था। वृद्धजन ज्ञान के संरक्षक माने जाते थे और उनके अनुभवों को सामाजिक सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता था। इस प्रकार, शिक्षा का स्वरूप व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामूहिक और सामाजिक था, जिसमें हर सीख समुदाय के संरक्षण और निरंतरता से जुड़ी होती थी। औपनिवेशिक शासन से पूर्व मुण्डा समाज की शिक्षा-व्यवस्था कई संरचनात्मक सीमाओं से घिरी हुई थी। पहला, शिक्षा मुख्यतः मौखिक और अनुभवजन्य होने के कारण ज्ञान का दायरा सीमित था। पढ़ना-लिखना व्यापक रूप से प्रचलित नहीं था, क्योंकि लिखित परंपरा का विकास बहुत कम था। मुण्डाओं में लिखित पुस्तकों या दस्तावेजों के उपयोग की परंपरा न्यूनतम थी और सामाजिक ज्ञान स्मृति-आधारित था। दूसरा, औपचारिक शिक्षा संस्थाओं के अभाव ने व्यक्तियों को व्यापक आर्थिक अवसरों और प्रशासनिक संरचनाओं से दूर रखा। आधुनिक विषयों जैसे गणित, इतिहास,

भाषाएँ की जानकारी सीमित होने के कारण समुदाय बाहरी परिवर्तनों के अनुरूप स्वयं को तेजी से अनुकूलित नहीं कर पाता था। जनजातीय समाजों की पारंपरिक शिक्षा प्रणाली सामुदायिक संतुलन बनाए रखने में सक्षम तो थी, किंतु औपनिवेशिक आर्थिक और प्रशासनिक दबावों के सामने अपर्याप्त सिद्ध होती थी। तीसरा, सामाजिक संरचना का सामूहिक स्वरूप शिक्षा में व्यक्तिगत उन्नति की धारणा को सीमित करता था। सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया और श्रम-आधारित जीवनचर्या में शिक्षा को कोई अलग पहचान प्राप्त नहीं थी। लड़कियों की शिक्षा भी ज्यादातर घरेलू कौशल और सामाजिक भूमिकाओं तक ही सीमित थी।

ईसाई मिशनरियों का आगमन और शैक्षणिक हस्तक्षेप

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ईसाई मिशनरियों का आगमन खूँटी और सम्पूर्ण छोटा नागपुर क्षेत्र के शैक्षणिक इतिहास में एक निर्णायक मोड़ लेकर आया। गॉसनर इवेंजेलिकल लूथरन मिशन (जीईएलएम) के मिशनरी समूह के 1845 में राँची पहुँचने के बाद शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन के प्राथमिक साधन के रूप में अपनाया गया, और यह प्रभाव शीघ्र ही खूँटी प्रखण्ड तक विस्तृत हुआ। मिशनरियों के आगमन के पीछे धार्मिक उद्देश्यों के साथ-साथ यह धारणा भी थी कि शिक्षा आदिवासी समाज के सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण का माध्यम बन सकती है। डिस्ट्रिक्ट गैजेटियर (1910) दर्शाते हैं कि 1850–1880 के बीच मिशनरियों ने खूँटी क्षेत्र में विद्यालयों की संख्या और पहुँच दोनों को व्यवस्थित रूप से बढ़ाया।

शिक्षण पद्धति में भी मिशनरियों ने स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए महत्वपूर्ण नवाचार किए। प्रारंभिक कक्षाओं में मुंडारी और नागपुरी जैसी स्थानीय भाषाओं में शिक्षा दी जाती थी, जबकि उन्नत कक्षाओं में हिंदी और अंग्रेज़ी का परिचय दिया जाता था। उनकी शिक्षण पद्धति व्यावहारिकता, नैतिकता और समग्र विकास पर आधारित थी, जिसमें कृषि, कारीगरी, संगीत, स्वास्थ्य, स्वच्छता और सामुदायिक सहयोग जैसे तत्वों को सम्मिलित किया गया। मिशनरी विद्यालयों में केवल पाठ्य-पुस्तक आधारित शिक्षा नहीं, बल्कि व्यक्तित्व-निर्माण और व्यावहारिक कौशल को समान महत्त्व दिया जाता था। स्थानीय मौसम, कृषि चक्र और सामुदायिक त्योहारों को ध्यान में रखते हुए विद्यालयों के समय और पाठ्यक्रम में लचीलापन रखा गया, जबकि आर्थिक रूप से कमजोर विद्यार्थियों को निःशुल्क आवास, भोजन और पाठ्य सामग्री उपलब्ध कराई गई। द्वितीयक साहित्य मिशनरियों के उद्देश्यों और रणनीतियों को बहुस्तरीय बताता है। मिशनरी शिक्षा का लक्ष्य केवल धर्म-प्रचार नहीं था, बल्कि आदिवासी समुदायों को आधुनिक प्रशासनिक संरचनाओं, स्वास्थ्य-संबंधी व्यवहारों और साक्षरता के आधार पर विकसित सामाजिक भूमिकाओं से परिचित कराना भी था। उनकी रणनीतियों में शिक्षा के माध्यम से विश्वास अर्जित करना, स्थानीय नेतृत्व और परिवारों को स्कूल संचालन में शामिल करना, सांस्कृतिक प्रथाओं के प्रति सम्मानजनक दृष्टिकोण अपनाना, और स्त्री शिक्षा के लिए विशेष प्रयास करना शामिल था। मिशनरियों ने शिक्षा को सामाजिक सशक्तिकरण, अनुशासन, स्वच्छता और पेशेवर कौशल जैसी आधुनिक अवधारणाओं से जोड़कर मुण्डा समाज में धीरे-धीरे व्यापक सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार, ईसाई मिशनरियों का आगमन और उनका शैक्षणिक हस्तक्षेप खूँटी क्षेत्र में केवल विद्यालय स्थापना का इतिहास नहीं है, बल्कि एक ऐसी दीर्घकालिक सामाजिक प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है, जिसने मुण्डा समाज की शैक्षणिक आकांक्षाओं, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक अनुभवों को गहरे रूप से प्रभावित किया।

मुण्डा जनजाति के शैक्षणिक विकास पर सकारात्मक प्रभाव

खूँटी प्रखण्ड में मिशनरी शिक्षा के आगमन के बाद मुण्डा समाज में जो बदलाव धीरे-धीरे आकार लेने लगे, वे केवल विद्यालयों की स्थापना तक सीमित नहीं थे; उन्होंने पूरी पीढ़ी के सोचने, सीखने और भविष्य को देखने के तरीके को बदल दिया। लंबे समय तक जहाँ शिक्षा परिवार और समुदाय के भीतर मौखिक परंपराओं से ही संचालित होती थी, वहीं मिशनरी विद्यालयों ने पहली बार लिखित ज्ञान, नियमित कक्षाओं और पुस्तक-आधारित सीख को आदिवासी जीवन में जगह दी। यही कारण है कि धीरे-धीरे साक्षरता का प्रसार शुरू हुआ और फिर आने वाले दशकों में यह एक सामाजिक आंदोलन में बदल गया। जनगणना के आँकड़े भी इस परिवर्तन को स्पष्ट दिखाते हैं 1950 के दशक के बाद मुण्डा समुदाय में साक्षरता लगातार बढ़ती रही और 2011 तक यह वृद्धि कई गुना हो चुकी थी। इस

बदलाव का असर सबसे गहरे रूप में वहाँ दिखाई देता है जहाँ समाज पहले सबसे अधिक संकोच महसूस करता था लड़कियों की शिक्षा। मिशनरियों ने छात्रावास, भोजन, दवाइयों और सुरक्षा जैसी बुनियादी सुविधाएँ देकर लड़कियों के लिए स्कूल जाना संभव बनाया। परिवारों का भरोसा बढ़ा, और जो शिक्षा पहले केवल लड़कों तक सीमित थी, वह धीरे-धीरे घर की बेटियों तक भी पहुँचने लगी। समय बीतने के साथ साक्षर बालिकाओं की एक नई पीढ़ी उभरने लगी, जो आगे चलकर नर्सिंग, शिक्षण, सामाजिक कार्य और ग्राम-स्तरीय नेतृत्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी। भाषाई दक्षता में आया परिवर्तन भी कम उल्लेखनीय नहीं है। मिशनरियों ने स्थानीय मुंडारी भाषा को शुरुआती शिक्षा में सम्मान देते हुए, बच्चों को धीरे-धीरे हिंदी और अंग्रेज़ी से परिचित कराया। यह परिवर्तन केवल भाषाई नहीं था इसने उनके लिए उन दरवाजों को खोल दिया जहाँ पहले प्रवेश लगभग असंभव था। क्लर्क, शिक्षक, अनुवादक, ग्रामीण मिशनरी कार्यकर्ता, और बाद के वर्षों में सरकारी सेवाओं तक मुण्डा युवाओं की पहुँच इसी भाषाई प्रशिक्षण की नींव पर टिकी थी।

धीरे-धीरे शिक्षा ने जीवन की उन बारीकियों पर भी प्रभाव डालना शुरू किया, जो रोजमर्रा की दुनिया को नया रूप देती हैं—स्वच्छता, स्वास्थ्य, समय का मूल्य, सामुदायिक संगठन, और नेतृत्व। स्कूलों में चलने वाली गतिविधियों ने बच्चों और युवाओं में एक नई तरह की जागरूकता पैदा की। यही जागरूकता बाद में ग्रामसभाओं में युवाओं की सक्रिय भागीदारी, महिला नेतृत्व का उभार, और विकास योजनाओं को समझने की क्षमता में बदल गई। शिक्षा ने यह विश्वास पैदा किया कि समुदाय अपनी परिस्थितियों को बदल सकता है; कि गरीबी और पिछड़ापन स्थायी नहीं, बल्कि एक ऐसी अवस्था है जिसे सीख और समझ से बेहतर किया जा सकता है। इन सभी स्तरों पर देखने पर यह स्पष्ट होता है कि मिशनरी शिक्षा ने मुण्डा समाज में केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं पहुँचाया—उसने एक ऐसी पीढ़ी तैयार की जो अपने जीवन, अपने समुदाय और संभावनाओं के प्रति अधिक सजग, सक्षम और आत्मविश्वासी थी। वस्तुतः, शिक्षा ने खूँटी क्षेत्र में सामाजिक गतिशीलता का नया मार्ग खोला और मुण्डा समाज की पहचान में एक दीर्घकालिक परिवर्तन की आधारशिला रखी।

नकारात्मक प्रभाव

मिशनरी शिक्षा ने जहाँ मुण्डा समाज में साक्षरता और सामाजिक गतिशीलता के नए आयाम प्रस्तुत किए, वहीं इसके कुछ विसंगतिपूर्ण और विवादास्पद प्रभाव भी द्वितीयक साहित्य में दर्ज मिलते हैं, जिन पर गंभीर समाजशास्त्रीय विश्लेषण आवश्यक है। सबसे पहले, पारंपरिक सांस्कृतिक संरचना पर पड़े प्रभाव को लेकर व्यापक बहस देखने को मिलती है। मिशनरी विद्यालयों में नैतिकता, स्वास्थ्य, घरेलू प्रथाओं और धार्मिक अनुशासन से संबंधित नए मानक प्रस्तुत किए गए, जो कई बार स्थानीय रीतियों जैसे सामुदायिक अनुष्ठानों, सरना पूजा, अखड़ा-व्यवस्था, और सामूहिक जीवन–शैली के साथ टकराते दिखाई दिए। हॉफमन और बाद के नृविज्ञानियों ने यह उल्लेख किया है कि स्कूलों में सिखाए गए मूल्य बच्चों और युवाओं को पारंपरिक सामाजिक भूमिकाओं से धीरे-धीरे दूर ले जाने लगे, जिसके कारण समुदाय के भीतर पीढ़ीगत अंतर बढ़ा और सांस्कृतिक निरंतरता को लेकर चिंता उभरी। इसी क्रम में धार्मिक और सांस्कृतिक अस्मिता का प्रश्न विशेष रूप से संवेदनशील रूप में सामने आया। मिशनरी शिक्षा और धार्मिक गतिविधियों के निकट संबंध के कारण कई परिवारों ने यह अनुभव किया कि विद्यालय केवल साक्षरता का माध्यम नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और धार्मिक परिवर्तन का प्रवेश-द्वार भी बन रहे हैं। सुंदर और रॉय जैसे शोधकर्ताओं ने लिखा है कि कुछ समुदायों में यह धारणा प्रबल हुई कि शिक्षा के माध्यम से पारंपरिक पहचान का क्षरण हो रहा है, जिससे "हम–वे" जैसी सामाजिक सीमाएँ उभरने लगीं। यह तनाव विशेष रूप से तब दिखाई देता है जब धर्मांतरण और सामाजिक स्वायत्तता को लेकर चर्च और पारंपरिक ग्राम-सभाओं के बीच भिन्न दृष्टिकोण सामने आए।

मिशनरी शिक्षा ने अनजाने में सामाजिक पदानुक्रम की एक नई संरचना भी विकसित कर दी। जहाँ पूर्व परंपराओं में मुण्डा समाज तुलनात्मक रूप से समतावादी माना जाता था, वहीं शिक्षित–अशिक्षित, प्रगतिशील–परंपरावादी, और चर्च-संबद्ध–ग्राम-सभा–केंद्रित समूहों के बीच नई सामाजिक रेखाएँ खिंचने लगीं। आधुनिक शिक्षा ने समुदाय के भीतर एक ऐसे नेतृत्व वर्ग को जन्म दिया जो प्रशासनिक तंत्र, चर्च संस्थाओं और सरकारी योजनाओं से गहराई से जुड़ा, जबकि पारंपरिक नेतृत्व जैसे पाहन, मुंडा, माँझी का प्रभाव अपेक्षाकृत कमजोर पड़ने लगा। इस बदलाव ने सामाजिक गतिशीलता को तो बढ़ावा दिया, परंतु समुदाय के भीतर शक्ति-संतुलन को पुनर्गठित कर

दिया, जिससे सांस्कृतिक अधिकार, भूमि-संबंधी निर्णय और सामुदायिक व्यवस्था जैसे संवेदनशील क्षेत्रों में नई प्रकार की प्रतिस्पर्धाएँ और मतभेद जन्म लेने लगे। इस प्रकार, मिशनरी शिक्षा के सकारात्मक परिणामों के समानांतर ऐसे प्रभाव भी उभरे जो मुण्डा समाज के सांस्कृतिक ढाँचे, धार्मिक पहचान, और सामाजिक संरचना को जटिल बनाते हैं, तथा जिन्हें समझना आदिवासी समाजों में शिक्षा की भूमिका का संतुलित मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक है।

मिशनरी शिक्षा और मुण्डा समाज में सामाजिक परिवर्तन के अंतर्संबंधों का विश्लेषण

मिशनरी शिक्षा और मुण्डा समाज के बीच विकसित संबंधों ने खूँटी क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन की दिशा और गति को गहराई से प्रभावित किया। शिक्षा के माध्यम से मिशनरियों ने न केवल साक्षरता को प्रसारित किया, बल्कि ऐसी वैचारिक, व्यवहारगत और संस्थागत प्रक्रियाएँ भी शुरू कीं, जिनके परिणामस्वरूप समुदाय की सामाजिक संरचना में नए आयाम जुड़ने लगे। पारंपरिक व्यवस्था जहाँ सामुदायिक श्रम, अनुष्ठानिक भूमिकाओं और भूमि-आधारित संबंधों पर आधारित थी, वहाँ मिशनरी विद्यालयों ने समयबद्ध कार्य, व्यक्तिगत उपलब्धि, स्वास्थ्य-उन्मुख आदतों और संचार-आधारित कौशल पर ज़ोर देकर सामाजिक जीवन में नए मानक स्थापित किए। इन परिवर्तनों ने युवा पीढ़ी में एक ऐसे दृष्टिकोण को जन्म दिया, जो परंपरा के भीतर रहते हुए भी आधुनिक व्यावसायिक अवसरों और बाहरी दुनिया से संवाद की आवश्यकता को स्वीकार करता था। मिशनरी शिक्षा ने सामाजिक गतिशीलता को भी नई दिशा दी। आधुनिक भाषाओं, स्वास्थ्य-ज्ञान, प्रशासनिक कौशल और व्यावसायिक प्रशिक्षण ने समुदाय के कई सदस्यों को बाहरी संस्थानों में प्रवेश का अवसर दिया, जिससे आय-संरचना में विविधता आई और परिवारों में आर्थिक सुरक्षा बढ़ी। खूँटी जिले में जनजातीय कल्याण निदेशालय (1984) की रिपोर्ट यह संकेत करती है कि मिशनरी विद्यालयों से शिक्षित युवाओं का प्रतिनिधित्व स्वास्थ्य सेवाओं, सेना, शिक्षण कार्य, और विकास कार्यक्रमों में उल्लेखनीय रूप से बढ़ा, जिसने स्थानीय समुदाय में सामाजिक प्रगति की नई उम्मीदें जगाईं। इसी के साथ शिक्षा से उत्पन्न वैचारिक परिवर्तन ने स्त्री नेतृत्व, स्वास्थ्य-व्यवहार, सांस्कृतिक पुनर्व्याख्या और नागरिक सहभागिता को मजबूत किया।

निष्कर्ष

खूँटी प्रखण्ड में ईसाई मिशनरियों की शैक्षणिक गतिविधियों ने मुण्डा समाज के जीवन-पथ को जिन विभिन्न दिशाओं में प्रभावित किया, वे इस अध्ययन में क्रमबद्ध रूप से स्पष्ट होती हैं। पारंपरिक रूप से जहाँ मुण्डा समाज की शिक्षा सामुदायिक अनुभव, मौखिक परंपरा, कृषि-कौशल और सांस्कृतिक अनुष्ठानों तक सीमित थी, वहीं मिशनरी विद्यालयों के माध्यम से औपचारिक ज्ञान, भाषाई दक्षता, अनुशासित अध्ययन-पद्धति और आधुनिक विषयों का प्रवेश हुआ। यह परिवर्तन केवल शैक्षणिक ढाँचे को नहीं, बल्कि पूरे समुदाय की मानसिकता, सामाजिक लक्ष्यों और भविष्य की आकांक्षाओं को नया रूप देने वाला साबित हुआ। साक्षरता में आई वृद्धि ने समाज के भीतर संवाद और निर्णय-प्रक्रियाओं को नई दिशा दी, और पहली बार ऐसी पीढ़ियाँ अस्तित्व में आईं जिन्होंने आधुनिकता के मानकों व्यावसायिक प्रशिक्षण, प्रशासनिक कौशल, स्वास्थ्य-संबंधी जागरूकता और संगठनात्मक दक्षता को सहज रूप से अपनाया। परिणामस्वरूप, शिक्षा खूँटी क्षेत्र में सामाजिक गतिशीलता का मुख्य साधन बनकर उभरी।

स्त्री शिक्षा के संदर्भ में मिशनरी प्रयासों का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जहाँ पारंपरिक समाज में बालिकाओं का सार्वजनिक जीवन से सीमित संबंध था, वहाँ विद्यालयों और आवासीय सुविधाओं ने लड़कियों को ऐसी दुनिया से परिचित कराया जिसने उनकी भूमिकाओं को व्यापक बनाया। यही बालिकाएँ आगे चलकर स्वास्थ्यकर्मी, शिक्षिका, सामुदायिक संयोजक और सामाजिक कार्यक्रमों की सक्रिय भागीदार बनकर उभरीं। इस परिवर्तन ने परिवार और ग्राम-स्तरीय निर्णय-प्रक्रियाओं में महिलाओं की उपस्थिति को नई वैधता प्रदान की और धीरे-धीरे पुरुष-प्रधान अधिकार संरचना को संतुलन की ओर अग्रसर किया। भाषाई और व्यावसायिक कौशलों का विकास भी मुण्डा समाज के भीतर सामाजिक परिवर्तन को गति देने वाला प्रमुख तत्व रहा। हिंदी और अंग्रेज़ी के ज्ञान ने मुण्डा युवाओं के लिए प्रशासनिक ढाँचे, आधुनिक संस्थानों और व्यापक सामाजिक परिदृश्य से जुड़ना संभव किया। इससे पहले जहाँ रोजगार के अवसर मुख्यतः कृषि, वनोंपज और श्रम पर निर्भर थे, वहीं शिक्षा ने नौकरी आधारित व्यावसायिक विकल्पों का नया संसार खोला। यह आर्थिक

विविधीकरण न केवल परिवारों की आय-संरचना को बदलने वाला साबित हुआ, बल्कि समुदाय के भीतर सम्मान, अवसर और नेतृत्व की नई परतों का निर्माण भी करने लगा। हालाँकि अध्ययन यह भी संकेत करता है कि परिवर्तन की यह प्रक्रिया पूरी तरह निर्विरोध नहीं थी। सांस्कृतिक अस्मिता, धार्मिक परंपराओं और पारंपरिक नेतृत्व संरचनाओं को लेकर कई तरह की बहसें उभरीं। शिक्षा ने जहाँ आधुनिक दृष्टि और आलोचनात्मक सोच को प्रोत्साहित किया, वहीं इससे परंपरा और आधुनिकता के बीच टकराव की स्थितियाँ भी बनीं। कुछ समुदायों के लिए यह चुनौती रही कि वे नई पहचान और सांस्कृतिक निरंतरता के बीच संतुलन कैसे बनाएँ। फिर भी, लम्बे समय में देखा जाए तो शिक्षा एक ऐसे सेतु की तरह कार्य करती दिखाई देती है जिसने मुण्डा समाज को बाहरी दुनिया के साथ संवाद के लिए तैयार किया, जबकि समुदाय को अपने मूल्यों की पुनर्व्याख्या करने का अवसर भी दिया। प्रस्तुत अध्ययन अंततः इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मुण्डा समाज और मिशनरी शिक्षा का अंतर्संबंध किसी भी एक दिशा में न जाकर बहुस्तरीय और बहुआयामी रहा। यह संघर्ष, स्वीकृति और पुनर्निर्माण की प्रक्रियाओं से होकर गुजरता है, और यही जटिलता इसे समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण बनाती है। शिक्षा ने जो परिवर्तन प्रारंभ किए, वे आज भी समुदाय की सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक जीवन और विकास-आकांक्षा में दिखाई देते हैं। इस प्रकार, मिशनरी शिक्षा खूँटी प्रखण्ड में केवल ऐतिहासिक घटना नहीं रही, बल्कि वह एक दीर्घकालिक सामाजिक प्रक्रिया है जिसने मुण्डा समाज की पहचान और संभावनाओं को नए क्षितिज प्रदान किए।

संदर्भ सूची-

1. https://www.trijharkhand.in/en/munda
2. झारखंड आर्थिक सर्वेक्षण (2022-23)
3. खाखा, वर्जिनियस (2008), स्टेट सोसाइटी एंड ट्राइब्स: इश्यूज इन पोस्ट कोलोनियल इंडिया, पियर्सन एजुकेशन इंडिया, न्यू दिल्ली, पृ.सं-101
4. https://www.trijharkhand.in/en/munda
5. डीनी, जॉन (2008), द एजुकेशन ऑफ़ ट्राइबल इन छोटानागपुर, ज़ेवियर पब्लिकेशन, राँची, पृ.सं.-51
6. ओलाव होडने (1966), एल. ओ. स्क्रेफ्सरुड मिशनरी एंड सोशल रिफार्म अमोंग द संताल्स ऑफ़ संथाल परगना, एगेडे इंस्टीट्यूट, नॉर्वे
7. जिला सांख्यिकी पुस्तिका खूंटी (2020)
8. ठाकुर, वंदना (2020), शिक्षा और आदिवासी समाज, नित्या प्रकाशन, मध्य प्रदेश, पृ.सं-126-130
9. कुमार, वर्मा, उमेश (1991), बिहार का जनजातीय जीवन, किशोर विद्या निकेतन, बिहार, पृ.सं-263-270
10. प्रसाद, नर्मदेश्वर (1961), भारतीय समाज में जनजातिगणना
11. जीईएलएम अभिलेखागार, 1850-1900
12. डिस्ट्रिक्ट गैजेटियर (1910)
13. रॉय, ए. (2017). झारखंड में आदिवासी जनसांख्यिकी और विकास, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग, न्यू दिल्ली, पृ.सं-101-105
14. जनजातीय कल्याण निदेशालय (1984)

JSECR, Vol. 11, No. 22, Jan.-June, 2025 ISSN : 2394-2878
Peer Reviewed Journal, Impact Factor: 9.0 (IIFS)

पंचायती राज व्यवस्था : संरचना, शक्तियां एवं कार्य

डॉ० जयंत गुप्ता
एवं
डॉ० सतीस चन्द्र जैसल
राजर्षी टंडन मुक्त विश्वविद्यालय प्रयागराज उत्तर प्रदेश

सारांश

भारत में प्रतिवर्ष 24 अप्रैल को लोकतंत्र की नींव के रूप में पंचायती राज दिवस मनाया जाता है। इस वर्ष पंचायती राज दिवस के अवसर पर प्रधानमंत्री द्वारा विभिन्न राज्यों के ग्राम प्रधानों के साथ पंचायती राज के महत्त्व व कोरोना वायरस के रोकथाम में पंचायतों की भूमिका पर चर्चा की गई। पंचायती राज व्यवस्था का विहंगावलोकन करने से ज्ञात होता है कि 24 अप्रैल को पंचायती राज दिवस मनाए जाने का कारण 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम,1992 है जो 24 अप्रैल 1993 से प्रभाव में आया था। भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है और कोई भी देश, राज्य या संस्था सही मायने में लोकतांत्रिक तभी मानी जा सकती है जब शक्तियों का उपयुक्त विकेंद्रीकरण हो एवं विकास का प्रवाह ऊपरी स्तर से निचले स्तर (Top to Bottom) की ओर होने के बजाय निचले स्तर से ऊपरी स्तर (Bottom to Top) की ओर हो।

पंचायती राज व्यवस्था में विकास का प्रवाह निचले स्तर से ऊपरी स्तर की ओर करने के लिये वर्ष 2004 में पंचायती राज को अलग मंत्रालय का दर्ज़ा दिया गया। भारत में पंचायती राज के गठन व उसे सशक्त करने की अवधारणा महात्मा गांधी के दर्शन पर आधारित है। गांधी जी के शब्दों में-"सच्चा लोकतंत्र केंद्र में बैठकर राज्य चलाने वाला नहीं होता, अपितु यह तो गाँव के प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग से चलता है।" इस आलेख में पंचायती राज व्यवस्था की त्रि-स्तरीय संरचना, उसकी पृष्ठभूमि, विभिन्न समितियाँ तथा लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण और पंचायतों के संदर्भ में गांधी दर्शन की उपयोगिता समझने का प्रयास किया जाएगा ।

मुख्य शब्द - पंचायती राज व्यवस्था, ग्राम सभा, ग्राम पंचायत, लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण इत्यादि |

पंचायती राज व्यवस्था भारत में ग्रामीण स्वशासन की एक महत्वपूर्ण प्रणाली है। इसका मुख्य उद्देश्य लोकतंत्र को जमीनी स्तर तक पहुँचाना और ग्रामीण जनता को प्रशासन व विकास की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी देना है। इस व्यवस्था के अंतर्गत गाँवों के लोग स्वयं अपने प्रतिनिधियों का चुनाव कर स्थानीय समस्याओं का समाधान करते हैं । पंचायती राज की जड़ें प्राचीन भारतीय समाज में मिलती हैं, जहाँ पंचायतें गाँव के प्रशासन और न्याय का कार्य करती थीं। स्वतंत्रता के बाद इस व्यवस्था को सुदृढ़ करने हेतु 1957 में बलवंत राय मेहता समिति का गठन किया गया। समिति की सिफारिशों के आधार पर 1959 में पंचायती राज की शुरुआत हुई । बाद में 73वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 द्वारा इसे संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई ।

पंचायती राज व्यवस्था की संरचना त्रि-स्तरीय है—ग्राम पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद। ग्राम सभा इस व्यवस्था की आधारशिला है, जो जनसहभागिता को सुनिश्चित करती है। इसमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और महिलाओं के लिए आरक्षण का प्रावधान किया गया है, जिससे सामाजिक न्याय और समानता को बढ़ावा मिलता है । यह व्यवस्था ग्रामीण विकास, शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, कृषि तथा रोजगार सृजन जैसे कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । हालांकि वित्तीय संसाधनों की कमी, प्रशासनिक नियंत्रण और प्रशिक्षण का अभाव जैसी चुनौतियाँ भी विद्यमान हैं ।

लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण का तात्पर्य है कि शासन-सत्ता को एक स्थान (केंद्र सरकार) पर केंद्रित करने के बजाय, उसे निचले और स्थानीय स्तरों पर विभाजित किया जाए ताकि आम आदमी की शासन-प्रक्रिया और निर्णय लेने में प्रत्यक्ष भागीदारी सुनिश्चित हो सके।

यह केवल प्रशासनिक कार्यों का प्रत्यायोजन (Delegation) नहीं है, बल्कि यह राजनीतिक सत्ता, अधिकार, वित्तीय संसाधन और कार्यों को संवैधानिक रूप से स्थानीय स्वशासन संस्थाओं (जैसे पंचायतों और नगर पालिकाओं) को हस्तांतरित करने की प्रक्रिया है ।

लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

जनभागीदारी: स्थानीय स्तर पर लोगों को उनके हितों और आवश्यकताओं के अनुरूप शासन-संचालन में सीधे तौर पर शामिल करना।

दक्षता और जवाबदेही: स्थानीय समस्याओं का समाधान स्थानीय लोगों द्वारा अधिक कुशलता और तेजी से हो सके, और स्थानीय प्रशासन लोगों के प्रति अधिक जवाबदेह बने।

विकास योजनाओं का स्थानीयकरण: योजनाओं को केंद्र के बजाय, ज़मीनी स्तर की वास्तविक ज़रूरतों और प्राथमिकताओं के आधार पर तैयार करना। लोकतंत्र का आधार मजबूत करना: निचले स्तर पर राजनीतिक व्यवस्था में लोगों की सहभागिता और स्वायत्तता पर बल देकर लोकतंत्र को मजबूत करना। क्षमता निर्माण: स्थानीय नेतृत्व को विकसित करना और उन्हें अपने क्षेत्र के विकास के लिए सशक्त बनाना।

भारत में, लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की अवधारणा को साकार करने के लिए 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियम (1992) के माध्यम से क्रमशः **पंचायती राज (ग्रामीण) ** और **नगर पालिकाओं (शहरी) ** की स्थापना की गई। इन संशोधनों ने स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा, नियमित चुनाव और वित्तीय अधिकार प्रदान किए। लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण का सीधा अर्थ है सत्ता का बिखराव या शक्ति का निचले स्तरों तक हस्तांतरण। विकेंद्रीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से प्रशासनिक, वित्तीय और राजनीतिक शक्तियों को केंद्र और राज्य सरकारों से स्थानीय स्तर की निर्वाचित संस्थाओं (जैसे भारत में पंचायतें और नगर पालिकाएँ) को सौंप दिया जाता है। यह केवल प्रशासनिक कार्यों का हस्तांतरण (प्रत्यायोजन - Delegation) नहीं है, बल्कि वास्तविक राजनीतिक, प्रशासनिक और वित्तीय शक्तियाँ स्थानीय संस्थाओं को हस्तांतरित की जाती हैं ताकि वे अपने क्षेत्र के लिए स्वतंत्र रूप से निर्णय ले सकें और जवाबदेह हों।

लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण न केवल एक प्रशासनिक आवश्यकता है, बल्कि यह एक मजबूत, समावेशी और जीवंत लोकतंत्र की आधारशिला है।

(क) लोकतंत्र की मजबूती

जनभागीदारी को प्रोत्साहन: यह लोगों को उनके क्षेत्र के शासन और विकास योजनाओं में सीधे शामिल होने का अवसर देता है, जिससे लोकतंत्र की जड़ें मजबूत होती हैं। राजनीतिक चेतना: यह निचले स्तर पर नेतृत्व का विकास करता है और आम नागरिकों को प्रशासनिक प्रक्रियाओं के बारे में शिक्षित करता है। जवाबदेही सुनिश्चित करना: स्थानीय निर्वाचित प्रतिनिधि नागरिकों के निकट होते हैं, इसलिए वे उनकी समस्याओं के प्रति अधिक जवाबदेह होते हैं।

(ख) प्रशासनिक दक्षता

स्थानीय समस्याओं का बेहतर समाधान: स्थानीय सरकारें उस क्षेत्र की विशिष्ट समस्याओं (जैसे - पेयजल की कमी, स्थानीय सड़कें) को राष्ट्रीय या राज्य सरकार की तुलना में अधिक तेज़ी और कुशलता से समझकर उनका समाधान कर सकती हैं। बॉटम-अप योजना: विकास योजनाएँ अब केंद्र से ऊपर से नीचे (Top-Down) नहीं आतीं, बल्कि स्थानीय ज़रूरतों के आधार पर नीचे से ऊपर (Bottom-Up) तैयार की जाती हैं। प्रशासनिक बोझ में कमी: केंद्र और राज्य सरकार का अनावश्यक बोझ कम होता है, जिससे वे राष्ट्रीय महत्व के बड़े मुद्दों पर ध्यान केंद्रित कर पाते हैं।

(ग) समावेशी विकास

आरक्षण के माध्यम से समावेशन: 73वें और 74वें संशोधन के तहत SC, ST और महिलाओं के लिए अनिवार्य आरक्षण से समाज के वंचित और कमजोर वर्गों को राजनीतिक शक्ति में भागीदारी मिलती है, जिससे विकास अधिक समावेशी होता है। सामाजिक न्याय: यह स्थानीय संसाधनों के वितरण और उपयोग को सामाजिक न्याय के सिद्धांतों के अनुरूप सुनिश्चित करने में मदद करता है।

(घ) राष्ट्रीय एकता और संघीय ढांचा

विकेंद्रीकरण क्षेत्रीय आकांक्षाओं को पूरा करके उन्हें राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल करता है। यह संघीय प्रणाली (Federalism) को निचले स्तर तक मजबूत करता है, जिसे भारत में अक्सर "तीसरा स्तर का संघवाद" (Third Tier of Federalism) कहा जाता है।

73वें संविधान संशोधन की प्रमुख विशेषताएँ

- संवैधानिक दर्जा: इस संशोधन के माध्यम से पंचायती राज संस्थाओं (PRIs) को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई।
- नया भाग और अनुसूची:
    - संविधान में एक नया भाग IX जोड़ा गया, जिसका शीर्षक "पंचायतें" था (अनुच्छेद 243 से 243(O) तक)।
    - एक नई ग्यारहवीं अनुसूची जोड़ी गई, जिसमें पंचायतों के कार्यक्षेत्र में 29 विषय रखे गए।

- त्रिस्तरीय प्रणाली :
  - प्रत्येक राज्य में ग्राम, मध्यवर्ती (ब्लॉक/तालुका), और ज़िला स्तर पर पंचायतों के गठन का प्रावधान किया गया।
  - हालांकि, 20 लाख से कम जनसंख्या वाले राज्यों को मध्यवर्ती स्तर पर पंचायत गठन से छूट दी गई।
- ग्राम सभा:
  - यह लोकतांत्रिक व्यवस्था की बुनियादी इकाई है, जिसमें पंचायत क्षेत्र के भीतर गाँव की मतदाता सूची में पंजीकृत सभी वयस्क लोग शामिल होते हैं।
  - इसे पंचायतों के लिए नींव माना जाता है।
- चुनाव:
  - सदस्यों का चुनाव: ग्राम, मध्यवर्ती और ज़िला स्तर पर पंचायत सदस्यों का चुनाव सीधे लोगों द्वारा किया जाएगा।
  - अध्यक्षों का चुनाव: मध्यवर्ती और ज़िला स्तर पर पंचायत अध्यक्षों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से उनके निर्वाचित सदस्यों में से किया जाएगा।
  - चुनाव कराने का कार्य राज्य निर्वाचन आयोग द्वारा किया जाएगा।
- सीटों का आरक्षण:
  - पंचायतों के हर स्तर पर अनुसूचित जातियों (SCs) और अनुसूचित जनजातियों (STs) के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में सीटें आरक्षित होंगी।
  - महिलाओं के लिए कुल सीटों में से एक-तिहाई (1/3) से कम नहीं सीटें आरक्षित होंगी (जिसमें SC और ST महिलाओं की सीटें भी शामिल हैं)।
- कार्यकाल:
  - पंचायतों का कार्यकाल 5 वर्ष निर्धारित किया गया।
  - यदि किसी पंचायत को समय से पहले भंग कर दिया जाता है, तो भंग होने की तारीख से 6 महीने के भीतर चुनाव कराना अनिवार्य है।
- वित्त आयोग:
  - पंचायतों की वित्तीय स्थिति की समीक्षा करने और उन्हें अनुदान व कर लगाने की शक्ति की संस्तुति करने के लिए राज्य वित्त आयोग के गठन का प्रावधान किया गया।

74वें संविधान संशोधन की प्रमुख विशेषताएँ

- संवैधानिक दर्जा: इस संशोधन ने शहरी स्थानीय स्वशासन (Urban Local Bodies - ULBs) को संवैधानिक मान्यता प्रदान की।
- नया भाग और अनुसूची:
  - संविधान में एक नया भाग IX-A जोड़ा गया, जिसका शीर्षक "नगरपालिकाएँ" है (अनुच्छेद 243P से 243ZG तक)।
  - एक नई बारहवीं अनुसूची जोड़ी गई, जिसमें नगर पालिकाओं के कार्यक्षेत्र के लिए 18 विषय शामिल किए गए हैं (जैसे - नगर योजना, भूमि उपयोग का नियमन, सड़क और पुल, जलापूर्ति, शहरी गरीबी उन्मूलन, आदि)।
- त्रि-स्तरीय संरचना :
  - प्रत्येक राज्य में निम्नलिखित तीन प्रकार की नगरपालिकाओं के गठन का प्रावधान:
    - नगर पंचायत (Nagar Panchayat): ग्रामीण से शहरी क्षेत्र में परिवर्तनशील क्षेत्रों के लिए।
    - नगर पालिका परिषद् (Municipal Council): छोटे शहरी क्षेत्रों के लिए।
    - नगर निगम (Municipal Corporation): बड़े शहरी क्षेत्रों के लिए।
- चुनाव:
  - नगर पालिकाओं के सभी सदस्यों का चुनाव सीधे लोगों द्वारा किया जाएगा।

        - चुनाव कराने का कार्य राज्य निर्वाचन आयोग द्वारा किया जाएगा।
- सीटों का आरक्षण:
    - अनुसूचित जातियों (SCs) और अनुसूचित जनजातियों (STs) के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में सीटों का आरक्षण किया गया।
    - महिलाओं के लिए कुल सीटों में से एक-तिहाई (1/3) से कम नहीं सीटें आरक्षित होंगी।
- कार्यकाल:
    - नगर पालिकाओं का कार्यकाल 5 वर्ष निर्धारित किया गया।
    - यदि किसी नगरपालिका को समय से पहले भंग कर दिया जाता है, तो भंग होने की तारीख से 6 महीने के भीतर चुनाव कराना अनिवार्य है।
- वित्त आयोग:
    - नगर पालिकाओं की वित्तीय स्थिति की समीक्षा करने और उन्हें अनुदान व कर लगाने की शक्ति की संस्तुति करने के लिए राज्य वित्त आयोग के गठन का प्रावधान किया गया (जो 73वें संशोधन के तहत गठित होता है)।
- नियोजन समितियाँ:
    - जिला योजना समिति (District Planning Committee - DPC): जिले में पंचायतों और नगर पालिकाओं द्वारा तैयार की गई योजनाओं को समेकित करने और जिले के लिए एक विकास योजना का मसौदा तैयार करने के लिए।
    - महानगर योजना समिति (Metropolitan Planning Committee - MPC): महानगरीय क्षेत्रों (10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले) के लिए विकास योजना का मसौदा तैयार करने के लिए।

पंचायती राज से संबंधित विभिन्न समितियाँ

- बलवंत राय मेहता समिति (1957)
- अशोक मेहता समिति (1977)
- जीवी. के राव समिति)1985(.
- एल एम. सिंघवी समिति)1986(.

ग्राम सभा

ग्राम सभा पंचायती राज व्यवस्था का सबसे बड़ा और प्राथमिक निकाय है। यह भारत के संविधान के अनुच्छेद 243(ख) में उल्लिखित एक स्थायी निकाय है। यह गाँव के कल्याण के लिए गठित एक समूह है, जिसमें उस गाँव के मतदाता शामिल होते हैं। एक ग्राम सभा में एक गाँव या एक से अधिक गाँव हो सकते हैं।

संरचना

निम्नलिखित शर्तों को पूरा करने वाला व्यक्ति ग्राम सभा का सदस्य हो सकता है:

इसमें वे व्यक्ति शामिल हैं जिनकी आयु 18 वर्ष से अधिक है और जो गाँव में रहते हैं और जिनका नाम ग्राम पंचायत की मतदाता सूची में भी दर्ज है ।

शक्तियाँ और कार्य

भारतीय संविधान के अनुसार, ग्राम सभा अपने कार्यों का प्रयोग करती है और उसे उस राज्य की विधायिका द्वारा निर्धारित और प्रदत्त शक्तियाँ प्राप्त हैं। ग्राम सभा की विभिन्न शक्तियाँ और कार्य इस प्रकार हैं:

• ग्राम पंचायत की विकास योजनाओं और कार्यक्रमों का कार्यान्वयन।

• यह विभिन्न कार्यक्रमों और योजनाओं के लाभार्थियों की पहचान भी करती है। यदि वे ऐसा करने में विफल रहते हैं, तो यह कार्य ग्राम पंचायत द्वारा किया जाता है।

• यह गाँव के लोगों से विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं और कार्यक्रमों में नकद या वस्तु या दोनों के रूप में सहायता का अनुरोध करता है।

• यह विभिन्न जन शिक्षा और परिवार कल्याण कार्यक्रमों और योजनाओं का समर्थन करता है।
• यह करों या शुल्कों आदि के आरोपण से संबंधित मामलों या ग्राम पंचायत द्वारा संदर्भित किसी अन्य मामले पर विचार करता है।

पंचायती राज व्यवस्था का पदानुक्रम

ग्राम स्तर पर

ग्राम स्तर पर, हमने देखा है कि ग्राम सभा एक स्थायी और प्राथमिक निकाय है, जिसका नेतृत्व ग्राम पंचायत करती है। ग्राम पंचायत एक अस्थायी निकाय है जो गाँव की सभी ज़िम्मेदारियाँ संभालती है।

संरचना

पूरा गाँव विभिन्न वार्डों में विभाजित होता है और प्रत्येक वार्ड का एक प्रतिनिधि चुना जाता है जिसे पंच या वार्ड सदस्य कहा जाता है। पंचायत के मुखिया को सरपंच कहा जाता है जिसका चुनाव ग्राम सभा द्वारा किया जाता है। इस प्रकार, ग्राम पंचायत में सभी पंच और सरपंच शामिल होते हैं जो 5 वर्ष के कार्यकाल के लिए चुने जाते हैं। इनके अलावा, एक सचिव होता है, जो इन सदस्यों की तरह निर्वाचित नहीं होता, बल्कि सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है और यह सचिव ग्राम सभा का भी सचिव होता है और वह ग्राम सभा और ग्राम पंचायत की सभी बैठकें बुलाता है और इन बैठकों का रिकॉर्ड भी रखता है।

ग्राम पंचायत के कार्य

• ग्राम पंचायत का मुख्य कार्य विभिन्न सरकारी योजनाओं और कार्यक्रमों का क्रियान्वयन और क्रियान्वयन करना है।
• ग्राम सभा द्वारा ऐसा न किए जाने की स्थिति में विभिन्न योजनाओं और कार्यक्रमों के लाभार्थियों की पहचान करना।
• स्थानीय करों का अधिरोपण और संग्रहण।
• गाँव में सार्वजनिक संपत्ति जैसे सड़कें, पुल, स्कूल, अस्पताल आदि का निर्माण और रखरखाव।

मध्यवर्ती स्तर पर

मध्यवर्ती स्तर पर पंचायत समिति होती है, जिसे आंचलिक या जनपद या ब्लॉक पंचायत भी कहा जाता है। मध्यवर्ती स्तर को ब्लॉक स्तर भी कहा जाता है। यहाँ, इसका कार्यभार खंड विकास अधिकारी (बीडीओ) द्वारा देखा जाता है, जिसके अधीन कई गाँव होते हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 243बी के अनुसार, 20 लाख से कम जनसंख्या वाले राज्यों में मध्यवर्ती स्तर की आवश्यकता नहीं है।

जिला स्तर पर

इस स्तर पर ज़िला परिषद होती है। राज्य के सभी खंड विकास अधिकारी ज़िला परिषद के प्रति जवाबदेह होते हैं। ज़िला स्तर पर सभी विकास योजनाएँ पंचायत समिति की सहायता से ज़िला परिषद द्वारा बनाई जाती हैं।

अन्य विवरण

• भारतीय संविधान के अनुच्छेद 243 (सी) (2) के अनुसार, सभी स्तरों पर सभी सीटें प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा भरी जाती हैं।
• अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटें उनकी जनसंख्या के अनुपात के अनुसार आरक्षित हैं।
• ⅓ सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित हैं और अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित सभी सीटों में से ⅓ सीटें महिलाओं के लिए भी आरक्षित हैं।

ग्राम सभा और ग्राम पंचायत के बीच अंतर -

ग्राम सभा

ग्राम सभा गाँव के उन लोगों की एक सभा होती है जो 18 वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके हैं और मतदाता सूची में अपना नाम दर्ज करा चुके हैं। यह सभा राज्य विधानमंडल के मार्गदर्शन में कार्य करती है और अपनी शक्तियों, भूमिकाओं और कार्यों का उल्लेख करती है। भारतीय संविधान में अनुच्छेद 243 ग्राम सभा को परिभाषित करता है।

एक स्थायी निकाय होने के नाते, ग्राम सभा पंचायत के वार्षिक बजट की देखरेख करती है और इस ग्रामीण निकाय से संबंधित प्रशासनिक रिपोर्ट और लेखा-परीक्षण तैयार करती है। इसके अतिरिक्त, यह ग्रामीण समुदाय के विकास के लिए विभिन्न संसाधनों के उपयोग की योजना भी बनाती है। हर साल, यह निकाय दो बैठकें आयोजित करता है, जिनमें से एक में ग्राम पंचायत के बजट पर और दूसरी में पंचायत की रिपोर्ट पर चर्चा होती है।

ग्राम पंचायत

ग्राम पंचायत, ग्राम सभा के निर्वाचित प्रतिनिधियों से बनी एक कार्यकारी संस्था है। यह भारत में पंचायती राज व्यवस्था के त्रि-स्तरीय ढाँचे में सबसे निचला स्तर है। सदस्यता और कार्यप्रणाली गाँव-गाँव में भिन्न होती है और गाँव की जनसंख्या और आवश्यकता पर निर्भर करती है। ग्राम पंचायत के मुखिया को सरपंच कहा जाता है जो ग्रामीण क्षेत्रों में पंचों का नेतृत्व करता है।
ग्राम पंचायत के चुनाव वार्डों के आधार पर होते हैं और फिर प्रत्येक वार्ड से एक सदस्य चुना जाता है, जो ग्राम पंचायत के शासकीय निकाय में प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। इसकी बैठक कार्यकारी निकाय द्वारा वर्ष में एक बार आयोजित की जाती है। ग्राम पंचायत द्वारा किए जाने वाले कार्यों में स्वच्छता, कृषि संवर्धन, मातृत्व कल्याण और प्रौढ़ शिक्षा जैसे कार्य शामिल हैं।

निष्कर्ष

यहाँ, इस लेख में, हमने पंचायतों के बारे में बात की है । हमने पंचायती राज के विकास, ग्राम पंचायत प्रणाली, पंचायत के कार्यों, ग्राम पंचायत की कार्यप्रणाली, ग्राम पंचायत की परिभाषा, ग्राम सभा और ग्राम पंचायत, पंचायत समिति, जिला परिषद और अन्य संबंधित विषयों के बीच अंतर के बारे में जाना । हमें उम्मीद है कि ये नोट्स आपको लोकतंत्र की मूल इकाई के साथ-साथ इन सभी निकायों के कामकाज को समझने में मदद करेंगे। स्थानीय स्तर पर विधायिका और कार्यपालिका कैसे काम करती हैं, यह समझना न केवल मज़ेदार हो सकता है, बल्कि आपको इस प्रणाली को बेहतर ढंग से समझने और वास्तविक जीवन में इसका उपयोग करने में भी मदद करेगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- अग्रवाल, आर. सी.. (2018). भारत में पंचायती राज: संरचना, कार्यप्रणाली और चुनौतियाँ. रावत पब्लिकेशंस. जयपुर
- जैन, एस. पी.. (2015). ग्राम स्वराज्य और पंचायती राज. ओरिएंट ब्लैकस्वॉन. नई दिल्ली
- मेहता, एस.. (2019). पंचायती राज व्यवस्था: संवैधानिक संशोधन और विकास. विद्या प्रकाशन. लखनऊ
- पांडेय, पी. के.. (2017). भारत में स्थानीय स्वशासन: पंचायती राज की भूमिका. मैकमिलन इंडिया. दिल्ली
- सिंह, एम.. (2016). विकेंद्रीकरण और भारत का विकास. विकास पब्लिकेशंस. नई दिल्ली
- राय, ए.. (2018). ग्रामीण भारत में शासन और भागीदारी. वाणी प्रकाशन. पटना
- सरकार, बी.. (2019). पंचायती राज: एक समीक्षात्मक अध्ययन. दास गुप्ता एंड कंपनी. कोलकाता
- शर्मा, के.. (2015). स्थानीय सरकार और भारत में लोकतंत्र. राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी. जयपुर
- तिवारी, डी.. (2017). पंचायती राज: सिद्धांत एवं व्यवहार. मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी. भोपाल

भूमिहीन कृषक एवं आजीविका विविधीकरण : ग्रामीण संरचना के संदर्भ में समाजशास्त्रीय अध्ययन

रागिनी यादव

शोध छात्रा- समाजशास्त्र विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी -221005

सार- *भारतीय ग्रामीण संरचना में भूमिहीन कृषक सामाजिक-आर्थिक रूप से सर्वाधिक वंचित समूहों में शामिल हैं। खेती के लिए भूमि के अभाव में इनकी आजीविका मुख्यतः कृषि मजदूरी,पट्टे की खेती, प्रवास, मनरेगा तथा कम आय वाले असंगठित क्षेत्रों के कार्यों पर निर्भर रहती है। बदलती ग्रामीण संरचना में, मशीनीकरण, कृषि संकट, रोजगार के सीमित अवसर इत्यादि के कारण वे आजीविका विविधीकरण की ओर अग्रसर हुए हैं। प्रस्तुत अध्ययन ग़ाज़ीपुर ज़िले के ग्रामीण क्षेत्र पर आधारित है,जहाँ सामाजिक-आर्थिक संरचना,भूमिहीनता,श्रम बाजार और संसाधनों की उपलब्धता आजीविका को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भूमिहीन कृषकों की आजीविका परंपरागत कृषि मजदूरी से हटकर निर्माण कार्य में मजदूरी,ईंट-भट्ठा पर मजदूरी,छोटे व्यापार,पशुपालन,सब्जी उत्पादन और शहरों में अस्थायी प्रवास आधारित कार्यों की ओर आगे बढ़ें हैं। आजीविका विविधीकरण ने उनकी आय स्थिरता और जोखिम कम तो किया है, परंतु मजदूरी की अस्थिरता,सामाजिक असुरक्षा और संसाधनों का अभाव अभी भी प्रमुख चुनौती के रूप में विद्दमान हैं। प्रस्तुत अध्ययन ग्रामीण संरचना में भूमिहीन कृषकों के जीवनयापन की चुनौतियों और आजीविका विविधिकरण के प्रभावों पर प्रकाश डालता है |*

मुख्य शब्द- ग्रामीण संरचना, भूमिहीनता ,आजीविका विविधीकरण

प्रस्तावना-

भारत की ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक संरचना में भूमि-स्वामित्व को आज भी सुरक्षा, आर्थिक स्थिरता और सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रमुख सूचक माना जाता है। ग्रामीण परिवारों की आजीविका, सामाजिक स्थिति, उत्पादन क्षमता और जीवन-स्तर प्रत्यक्ष रूप से भूमि-स्वामित्व पर निर्भर करते हैं। जिन परिवारों के पास भूमि का स्वामित्व नहीं होता या जिनके पास अत्यंत अल्प भूमि होती है, वे न केवल आर्थिक रूप से असुरक्षित रहते हैं, बल्कि उनके लिए सामाजिक अवसरों तक पहुँच, शिक्षा-स्वास्थ्य सुविधाओं का उपयोग और आय अर्जित करने के विकल्प भी सीमित हो जाते हैं। ग्रामीण भारत में भूमि-संपत्ति का वितरण अत्यधिक असमान है। **NSSO (2021)** के अनुसार लगभग 8.2 प्रतिशत ग्रामीण परिवार पूर्णतः भूमिहीन हैं, जबकि **SECC (2011)** के आकलन से ज्ञात होता है कि लगभग 56 प्रतिशत ग्रामीण परिवार सीमांत भूमि-धारक हैं, जिनके पास जीविका-निर्वाह के लिए पर्याप्त भूमि उपलब्ध नहीं है। इस असमानता का प्रभाव ग्रामीण समाज की संरचनात्मक गतिशीलता पर गहरा पड़ता है।

भूमिहीनता केवल आर्थिक समस्या नहीं है, बल्कि यह सामाजिक बहिष्करण, वर्ग और जाति आधारित भेदभाव, तथा शक्ति-संबंधों में विषमता को भी जन्म देती है। कई अध्ययनों में यह पाया गया है कि ग्रामीण भारत में भूमि-वितरण की असमानता जातिगत संरचना से गहराई से जुड़ी हुई है, जिसके कारण अनुसूचित जाति, पिछड़े वर्ग और गरीब श्रमिकों को बेहतर अवसरों तक सीमित पहुँच मिल पाती है। आय, रोजगार और संसाधनों में पाई जाने वाली असमानताएँ सीधे भूमि-संपत्ति के स्वामित्व से प्रभावित होती हैं **(Gupta & Kothe, 2021),** इसलिए भूमिहीन कृषकों की स्थिति का विश्लेषण करना न केवल आर्थिक बल्कि सामाजिक न्याय और ग्रामीण असमानताओं की व्यापक समझ विकसित करने के लिए भी आवश्यक है।

कृषि व्यवस्था में बढ़ते मशीनीकरण, जलवायु परिवर्तन, उत्पादन लागत में निरंतर वृद्धि, कृषि संकट और खेती से घटती आय ने भूमिहीन किसानों और मजदूरों पर गंभीर प्रभाव डाला है। भूमि के आभाव में ये परिवार पहले ही सीमित कृषि-मजदूरी पर निर्भर रहते थे, लेकिन बदलती परिस्थितियों ने उनके पारंपरिक रोजगार को और अस्थिर व असुरक्षित बना दिया है। ऐसे में आजीविका विविधीकरण वर्तमान समय में ग्रामीण गरीबों के लिए एक महत्वपूर्ण रणनीति के रूप में विकसित हुआ है, जिसके अंतर्गत उनके द्वारा गैर-कृषि मजदूरी, छोटे व्यापार, प्रवासन आधारित रोज़गार, सेवा क्षेत्र, और असंगठित क्षेत्र के कामों को अपनाया जाता है **(Ellis, 2000)**।

भूमिहीन कृषक ग्रामीण अर्थव्यवस्था में सबसे अधिक श्रम योगदान देने के बावजूद भी कमजोर सामाजिक स्थिति में रहता है। उनकी आय में अस्थिरता, रोजगार की अनिश्चितता, संसाधनों तक सीमित पहुँच,रोजगार के अवसर की कमी तथा संस्थागत सहायता की कमी ग्रामीण गरीबी और असमानता को और गहरा करती है। ऐसे में भूमिहीन कृषकों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति निम्न व असुरक्षित होती चली जाती है |

इस अध्ययन का उद्देश्य भूमिहीन कृषकों की आजीविका संरचना,आय के स्रोतों तथा आजीविका विविधीकरण की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना है। साथ ही, यह अध्ययन ग्रामीण संरचना के अंतर्गत सामाजिक-आर्थिक संरचना में उनकी स्थिति और उन्हें प्रभावित करने वाले सामाजिक-जातीय कारकों और संसाधनों की उपलब्धता को भी समझने का प्रयास करता है।

साहित्य समीक्षा-

भूमिहीनता और ग्रामीण गरीबी के संबंध पर अब तक अनेक महत्वपूर्ण अध्ययन किये गये हैं ,जिनसे यह स्पष्ट होता है कि भूमि का अभाव ग्रामीण भारत की सामाजिक और आर्थिक विषमता का मुख्य कारण है। भूमि-स्वामित्व का अभाव न सिर्फ उनके आर्थिक संसाधनों की कमी को दर्शाता है,बल्कि यह श्रम-शोषण, सामाजिक वंचना तथा कमजोर बाजार क्षमता से भी गहराई से जुड़ी हुई है। **Thorner और Thorner (1962)** के अनुसार भारत की ग्रामीण सामाजिक संरचना में भूमि-स्वामित्व ही शक्ति, अवसर और आर्थिक सुरक्षा का प्रमुख आधार है। भूमि से वंचित कृषक वर्ग न केवल सामाजिक रूप से कमजोर स्थिति में रहता है, बल्कि उनकी आजीविका का अधिकांश हिस्सा कृषि-मजदूरी पर निर्भर होने के कारण अधिक अस्थिर भी होता है। वास्तविक मजदूरी में उतार-चढ़ाव, मौसमी रोजगार और कृषि उत्पादन की अनिश्चितता भूमिहीन कृषकों की निर्भरता और असुरक्षा को और बढ़ाती है,जिसे थोर्नर ग्रामीण असमानता का मुख्य कारण मानते हैं |

वर्तमान शोध इस तथ्य को और पुष्टि देते हैं कि ग्रामीण मजदूरी दरों में हाल के वर्षों में स्थिरता या गिरावट देखी गई है, विशेषकर मुद्रास्फीति समायोजित वास्तविक मजदूरी में कमी ने भूमिहीन कृषि श्रमिकों की आय-अस्थिरता को बढ़ाया है **(Indiaspend Hindi, 2024)**। आर्थिक अस्थिरता ने भूमिहीन कृषकों को पारंपरिक कृषि मजदूरी से हटकर वैकल्पिक रोजगार स्रोतों की ओर स्थानांतरित होने के लिए मजबूर किया है। इस संदर्भ में, Ellis (2000) का आजीविका विविधीकरण सिद्धांत ग्रामीण गरीबों के लिए एक व्यवहारिक रणनीति के रूप में उभरता है, जिसके अनुसार आय-स्रोतों का विविधीकरण जोखिम-प्रबंधन और आय-सुरक्षा का सबसे प्रभावी माध्यम बन सकता है।

ग्रामीण श्रम बाजार के बदलते स्वरूप पर किए गए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि अस्थायी मजदूरी, प्रवासन-आधारित रोजगार, निर्माण कार्य, परिवहन सेवाएँ, छोटे व्यापार और अन्य गैर-कृषि गतिविधियाँ भूमिहीन कृषकों के लिए महत्वपूर्ण आय-स्रोत बनते जा रहे हैं। **NSSO (2015)** के आँकड़े दर्शाते हैं कि ग्रामीण गैर-कृषि रोजगार में निरंतर वृद्धि हो रही है, और इस परिवर्तन का सर्वाधिक लाभ भूमिहीन तथा सीमांत कृषकों , श्रमिकों को मिला है,जिन्हें कृषि क्षेत्र में स्थिर रोजगार उपलब्ध नहीं हो पाता है।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी आजीविका विविधीकरण को ग्रामीण गरीबी उन्मूलन की एक प्रभावी रणनीति के रूप में मान्यता मिली है। विश्व बैंक **(World Bank, 2018)** के अनुसार, बहु-स्रोतआधारित आय संरचना ग्रामीण गरीबों की आय-स्थिरता, खाद्य-सुरक्षा और सामाजिक गतिशीलता को मजबूत करती है। विश्व बैंक की रिपोर्टों में यह भी पाया गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में गैर-कृषि गतिविधियों की

उपलब्धता केवल आय बढ़ाने में ही सहायक नहीं है, बल्कि यह भूमिहीन परिवारों के लिए सामाजिक-आर्थिक उन्नयन के नए अवसर भी प्रदान करती है।

भूमिहीनता के सामाजिक आयामों पर किए गए शोध भी इस समस्या की जटिलता को रेखांकित करते हैं। जातिगत भेदभाव, सामाजिक वंचना और संसाधनों तक सीमित पहुँच भूमिहीन कृषकों की आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। कई अध्ययनों में यह निष्कर्ष निकला है कि अनुसूचित जाति और पिछड़े वर्ग के कृषक भूमि-वितरण में असमानता तथा सामाजिक शक्ति-संबंधों में कमजोर स्थिति के कारण रोजगार और मजदूरी के अवसरों में विशेष बाधाएँ अनुभव करते हैं **(Thorat et al., 2021)**। इससे यह स्पष्ट होता है कि भूमिहीनता केवल आर्थिक समस्या नहीं, बल्कि बहुआयामी सामाजिक संरचनात्मक वंचना का परिणाम है।

उपरोक्त साहित्य से निष्कर्ष निकलता है, कि भूमिहीन कृषकों की आजीविका अनेक चुनौतियों से घिरी हुई है | आर्थिक अस्थिरता, रोजगार का अभाव, सामाजिक वंचना और संसाधनों की कमी जैसी परिस्थितियों ने उन्हें आजीविका विविधीकरण की ओर अनिवार्य रूप से प्रेरित किया है।

अध्ययन क्षेत्र-

यह अध्ययन उत्तर प्रदेश के ग़ाज़ीपुर जिले के ग्रामीण क्षेत्र पर किया गया है, जो गंगा–गोमती दोआब में स्थित एक उपजाऊ तथा घनी आबादी वाला क्षेत्र है। जिले का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल लगभग 3378 वर्ग किमी है और इसका ग्रामीण जनसंख्या अनुपात 85 प्रतिशत से अधिक है **(Census of India, 2011)**। जिले में सामाजिक-आर्थिक विषमता, छोटे जोतों की प्रधानता, भूमिहीनता की ऊँची दर, तथा मजदूरी-आधारित श्रम बाजार इसकी ग्रामीण संरचना की प्रमुख विशेषताएँ हैं। अनुसूचित जाति एवं पिछड़े वर्ग के परिवारों में भूमिहीनता विशेष रूप से अधिक पाई जाती है। अध्ययन में 6 गाँवों का चयन किया गया, जिन्हें सामाजिक-आर्थिक विविधता, जनसंख्या संरचना और मजदूरी आधारित अर्थव्यवस्था के आधार पर चुना गया।

अनुसंधान पद्धति-

प्रस्तुत अध्ययन में ऐतिहासिक सह-विवरणात्मक प्रारूप को अपनाया गया है। यह शोध प्रारूप अतीत की घटनाओं, दस्तावेज़ों, रिपोर्टों, अनुभवों तथा सामाजिक परिस्थितियों का विवेचनात्मक अध्ययन करता है और उन्हें वर्तमान संदर्भ से जोड़कर विश्लेषण की वैज्ञानिक प्रक्रिया विकसित करता है। प्राथमिक डेटा संरचित इंटरव्यू शेड्यूल के माध्यम से संकलित किया गया, जिसमें आजीविका स्रोत,आय, श्रम दिनों की उपलब्धता, प्रवास, आजीविका विविधीकरण और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से संबंधित प्रश्न शामिल थे। नमूना का चयन के लिए उद्देश्यपूर्ण तथा यादृच्छिक निदर्शन को अपनाया गया है। कुल 80 भूमिहीन कृषक परिवारों को अध्ययन में शामिल किया गया, जो छह गाँवों में समान रूप से विभाजित थे। द्वितीयक स्रोतों में NSSO रिपोर्ट, Census रिपोर्ट, कृषि मंत्रालय की रिपोर्टें और पूर्व शोधों का उपयोग किया गया है |

डेटा विश्लेषण -

सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि ग़ाज़ीपुर जिले के भूमिहीन कृषकों की आय का मुख्य साधन कृषि मजदूरी है; परंतु यह कृषि मजदूरी वर्ष के केवल 4–5 महीने ही उपलब्ध होती है। शेष अवधि में ये कृषक ,मजदूर के रूप में निर्माण कार्य, ईंट-भट्ठा, मनरेगा, पशुपालन, सब्जी बेचने, हस्तशिल्प, रिक्शा चलाने तथा शहरों में अस्थायी प्रवास आधारित कार्यों पर निर्भर होते हैं। 80 परिवारों में से 78 प्रतिशत परिवारों ने बताया कि एक मात्र आय स्रोत से जीवनयापन असंभव है इसलिए उन्हें आय के 2–3 स्रोत अपनाने पड़ते हैं। यह ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन कृषकों की आजीविका विविधीकरण की मजबूरी को दर्शाता है। लगभग 52 प्रतिशत परिवारों का कम से कम एक सदस्य रोजगार की तलाश में वाराणसी, लखनऊ, दिल्ली, गुजरात या मुंबई प्रवास करता है।

सामाजिक संरचना और जातिगत भेदभाव का ग्रामीण भारत में भूमिहीन और कमजोर वर्गों की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव है | अनुसूचित जाति और पिछड़े वर्ग के श्रमिकों को भूमि-वितरण की असमानता, संसाधनों तक सीमित पहुँच और रोजगार में भेदभाव जैसी चुनौतियाँ

अधिक देखने को मिलती हैं, जिससे उनकी मजदूरी दरों और सौदेबाजी क्षमता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है **(Thorat et al,2021)**। आजीविका विविधीकरण के बावजूद आय अस्थिर, कार्य असंगठित और सामाजिक सुरक्षा न्यूनतम है।

निष्कर्ष-

अध्ययन इंगित करता है कि भूमिहीन कृषकों के लिए आजीविका विविधीकरण **जीवित रहने और आय-स्थिरता सुनिश्चित करने की अपरिहार्य प्रक्रिया** बन चुका है।। पारंपरिक कृषि मजदूरी पर पूर्ण निर्भरता से आर्थिक जोखिम बढ़ता है; इसलिए वैकल्पिक कार्यों का समावेशन उनकी जीवन-सुरक्षा के लिए आवश्यक है। हालांकि विविधीकृत आजीविका ने आय में कुछ स्थिरता प्रदान की है, परंतु अस्थिर रोजगार, कम मजदूरी, सामाजिक वंचन, संसाधनों की कमी और संस्थागत सहायता का अभाव अभी भी गंभीर समस्या है। ग्रामीण संरचना में शक्ति-संतुलन अब भी जमीन-स्वामियों के पक्ष में है। आजीविका विविधीकरण केवल एक आर्थिक विकल्प नहीं, बल्कि जोखिम प्रबंधन और अस्तित्व-सुरक्षा की ज़रूरत बन चुका है। फिर भी, संरचनात्मक बाधाओं के कारण वे विविध आय स्रोतों का पूरा लाभ नहीं उठा पाते। अतः आवश्यक है कि ग्रामीण स्तर पर कौशल विकास, सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का सुदृढ़ कार्यान्वयन, गैर-कृषि क्षेत्रों में स्थिर रोजगार के अवसर तथा संस्थागत सहायता प्रणाली को सुदृढ़ किया जाए, ताकि भूमिहीन कृषकों की आजीविका अधिक टिकाऊ, सुरक्षित और न्यायसंगत बन सके।

सन्दर्भ सूची-

- National Sample Survey Office. (.(2021*Situation assessment of agricultural households and land and livestock holdings of households in rural India: NSS 77th round (January–December .(2019*Ministry of Statistics and Programme Implementation, Government of India**.**
- Ministry of Rural Development. (2011). *Socio-Economic and Caste Census 2011: Rural data*. Government of India.
- Gupta, P., & Kothe, S. (2021). *Interpreting the caste-based earning gaps in the Indian labour market: Theil and Oaxaca decomposition analysis* [Working paper]. arXiv. https://arxiv.org/abs/2110.06822
- Ellis, F. (.(2000*Rural livelihoods and diversity in developing countries*. Oxford University Press.
- Thorner, D., & Thorner, A. (1962). *Land and labour in India*. Asia Publishing House.
- Indiaspend Hindi. (.(2024*Why are wage rates for rural workers stagnant despite economic growth*? Retrieved from https://indiaspendhindi.com/economy/why-are-wage-rates-for-rural-workers-stagnant-despite-economic-growth-.909907
- National Sample Survey Office. (.(2015*Employment and Unemployment Situation in India: NSS 68th Round (July –2011 June .(2012*Ministry of Statistics and Programme Implementation, Government of India.
- World Bank. (.(2018*Poverty and shared prosperity :2018Piecing together the poverty puzzle*. World Bank Publications.
- Thorat, S., Madheswaran, S., & Vani, B. P. (.(2021*Caste and labour market: Employment discrimination and its impact on poverty.* Economic & Political Weekly, .(21)56
- Office of the Registrar General & Census Commissioner, India. (.(2011*District census handbook: Ghazipur (Series 10, Part XII-A)*. Census of India .2011Government of India